श्री कृष्ण चरित
डॉ. भवानीलाल भारतीय

श्रीकृष्ण चरित

आर्यावर्त्त में राम और कृष्ण दो ऐसे महापुरुष हुए हैं, जिन्हें राष्ट्रपुरुष और इतिहास पुरुष की दृष्टि से अद्वितीय कहा जा सकता है। आर्यत्व की दृष्टि से जीवन को उत्तमता की पराकाष्ठा तक ले जाने वाले ये दोनों ऐसे अनुकरणीय महापुरुष हैं जिनसे युग-युगान्तर तक मानव-जाति प्रेरणा ग्रहण करती रहती है।

श्रीकृष्ण के समान प्रगल्भ, बुद्धिशाली, कर्तृत्ववान्, प्रज्ञावान्, व्यवहार-कुशल, ज्ञानी एवं पराक्रमी पुरुष आज तक संसार में नहीं हुआ। श्रीकृष्ण भारत की संस्कृति और राष्ट्रीय अस्मिता तथा राष्ट्रधर्म के मूर्तिमन्त प्रतीक हैं, इसका आधार महाभारत और उसके द्वारा प्रतिपादित श्रीकृष्ण का चरित्र ही है। आचार-विचार, गृह-व्यवस्था, नीति, कल्पना, व्यक्तिगत और सामाजिक व्यवहार यहाँ तक की हमारे रक्त के प्रत्येक कण में महाभारत के संस्कारों की छाया परिलक्षित होती है।

इस ग्रन्थ में विद्वान् लेखक ने परिश्रमपूर्वक खोज करके सभी प्रकार की विकृतियों की कुज्झटिकाओं से निकालकर महाभारत के आधार पर, श्रीकृष्ण का लोक कल्याणकारी रूप उपस्थित किया है। अनेक विवादग्रस्त गुत्थियों को सुलझाने में लेखक ने युक्ति-युक्तता तथा प्रमाण-प्रस्सरता का अच्छा परिचय दिया है। पूर्ववर्ती लेखकों की युक्ति-विरुद्ध बातों को छोड़ने और युक्ति-संगत बातों को ग्रहण करने में लेखक ने संकोच नहीं किया है।

श्रीकृष्ण के जीवन पर आलोचनात्मक पद्धति से अनुसंधानपूर्वक प्रकाश डालने वाली ऐसी अन्य पुस्तक अभी तक दृष्टिगोचर नहीं हुई।

ॐ

श्रीकृष्ण-चरित

[महाभारत पर आधारित आलोचनात्मक विश्लेषण]

लेखक

डॉ० भवानीलाल भारतीय

एम० ए०, पी-एच० डी०

प्रोफ़ैसर एवं अध्यक्ष, दयानन्द चेयर फ़ॉर वैदिक स्टडीज़

पंजाब विश्वविद्यालय, चण्डीगढ़

गोविन्दराम हासानन्द

प्रकाशक :

गोविन्दराम हासानन्द

४४०८, नई सड़क

दिल्ली-११०००६

संस्करण : अगस्त १९८१

मूल्य : २५.००

मुद्रक :

अजय प्रिंटर्स

नवीन शाहदरा, दिल्ली-११००३२

प्राक् वचन

कृष्ण-चरित के प्रति मैंने अपने छात्र-काल से ही अदम्य आकर्षण का अनुभव किया था। कालान्तर में जब ऋषि दयानन्द के कृष्ण-विषयक उद्गार 'सत्यार्थ-प्रकाश' में पढ़े और बंकिमचन्द्र रचित 'कृष्ण-चरित्र' को आलोचनात्मक दृष्टि से पढ़ने का अवसर मिला तो मेरे मन में भी एक विश्लेषण-प्रधान कृष्ण-चरित लिखने का विचार आया।

इस ग्रन्थ को पाठकों की सेवा में प्रस्तुत करते हुए मुझे अपार हर्ष का अनुभव हो रहा है। ग्रन्थ को सर्वांग सुन्दर रूप में प्रकाशित करने का श्रेय बंधुवर श्री विजयकुमार जी को है। आशा है आज की संक्रान्ति-कालीन परिस्थितियों तथा मानव-जाति के सम्मुख उपस्थित चुनौतीपूर्ण समस्याओं के वातावरण में कृष्ण का समत्वयोग एवं उनके द्वारा प्रतिपादित स्थितप्रज्ञ व्यक्ति की जीवन-दृष्टि दिशा-निर्देश करने में सहायक होगी।

वैशाख कृष्ण ६, २०३८ वि०

दयानन्द अनुसन्धान पीठ,

पंजाब विश्वविद्यालय

चण्डीगढ़।

भवानीलाल भारतीय

भूमिका

मेरे प्रिय, उत्साही, युवक मित्र श्री भवानीलाल जी भारतीय सिद्धान्त-वाचस्पति, एम० ए० ने बड़े परिश्रम से 'श्रीकृष्ण-चरित' लिखा है। श्री भारतीय जी की बुद्धिमत्ता, परिश्रमशीलता, स्वाध्याय-प्रेम तथा उत्साहादि सद्गुणों को देखकर मुझे उनसे स्वाभाविक स्नेह है। अतः मैंने सहर्ष इसकी भूमिका लिखने की स्वीकृति दे दी, जिसे आज श्रीकृष्ण-जन्माष्टमी के शुभ दिन लिख रहा हूँ।

मैंने श्री भारतीय जी द्वारा रचित श्रीकृष्ण-चरित को आद्योपान्त पढ़ा है। मुझे यह देखकर बड़ी प्रसन्नता हुई कि उन्होंने योगिराज श्रीकृष्ण के पवित्र जीवन की मुख्य-मुख्य घटनाओं और उनके गुणों पर बड़ा उत्तम प्रकाश डाला है तथा जो असत्य आरोप उनपर पुराणादि के आधार पर लगाये जाते हैं उनका बड़ी अच्छी तरह से निराकरण किया है। श्री बंकिमचन्द्र चट्टोपाध्याय कृत श्रीकृष्ण-चरित्र से यद्यपि उन्होंने पर्याप्त सहायता ली है, तथापि अवतार में विश्वासादि के कारण हुई उनकी भूलों का भी उन्होंने स्पष्ट निर्देश करते हुए प्रबल युक्तियों से अपने पक्ष को पुष्ट किया है कि श्रीकृष्ण एक योगिराज महापुरुष थे, ईश्वरावतार के रूप में उनको मानना ठीक नहीं है, क्योंकि सर्वव्यापक, सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान् भगवान् को धर्म-रक्षा अथवा अधर्म-विनाशार्थ शरीर धारण करने की कभी आवश्यकता ही नहीं हो सकती।

योगिराज श्रीकृष्ण के उत्तम गुणों का इस पुस्तक में लेखक महोदय ने महाभारत के अनुसार जीवन-घटनाओं का उल्लेख करते हुए दिग्दर्शन कराया है, अतः इस भूमिका पर प्रकाश डालने की विशेष आवश्यकता नहीं है। तथापि, इतना निर्देश कर देना पर्याप्त है कि उन्होंने शारीरिक, मानसिक और आत्मिक शक्तियों के सम विकास का उच्चादर्श जनता के सम्मुख रक्खा। उनकी अद्भुत गुणावली का स्मरण हम भीष्म पितामह के शब्दों में निम्न प्रकार कर सकते हैं—

नृणां लोके हि को ऽन्यो ऽस्ति विशिष्टः केशवादृते।
दानं दाक्ष्यं श्रुतं शौर्यं ह्रीः कीर्तिबुद्धिरुत्तमा।
सन्नतिः श्रीर्धृतिस्तुष्टिः पुष्टिश्च नियताच्युते॥

सभा पर्व ४०।१९, २०

अर्थात् इस समय मनुष्य-लोक में श्रीकृष्ण से बढ़कर कौन है? दान, दक्षता (चतुरता), वेदादि शास्त्रों का श्रवण, शूरवीरता, बुरे कार्य करने में लज्जा,

कीर्ति, उत्तम बुद्धि, नम्रता (जो "चरण-क्षालने कृष्णो ब्राह्मणानां स्वयं ह्यभूत" सभा पर्व ३५।१० इत्यादि से ज्ञात होती है, जहाँ बताया गया है कि श्रीकृष्ण ने ब्राह्मणों के पैर धोने का काम अपने ऊपर लिया), शोभा व ऐश्वर्य, धैर्य, जो अर्जुन जैसे सर्वोत्कृष्ट वीर को रणक्षेत्र में व्याकुल होते देखकर भी न घबराने और 'प्रहसन्निव भारत' हँसते हुए के समान उसको समझाकर कर्त्तव्य-पथ पर लाने से विदित होता है। सन्तोष, सब प्रकार की शारीरिक, मानसिक, आत्मिक पुष्टि वा शक्ति का विकास—ये सब गुण अच्युत अथवा कर्त्तव्य-मार्ग से कभी न विचलित होनेवाले श्रीकृष्ण में नियत रूप से विद्यमान हैं। कोई आश्चर्य नहीं कि इन अनेक परस्पर-विरोधी समझे जानेवाले दुर्लभ गुणों को मर्यादा-पुरुषोत्तम और योगिराज श्रीकृष्ण में देखकर सामान्य लोगों ने उन्हें लोकोत्तर ही नहीं समझा बल्कि भक्त्या-तिरेक से साक्षात् भगवान् का अवतार मान लिया, यद्यपि ऐसा अवतारवाद वेद और बुद्धि के विरुद्ध है।

पुराणोक्त कलंकित और दूषित श्रीकृष्ण-चरित्र को छोड़कर मेरे मित्र श्री भवानीलाल जी भारतीय ने महाभारत के आधार पर श्रीकृष्ण के वास्तविक जीवन को पाठकों के समक्ष रखने का अत्यन्त प्रशंसनीय प्रयत्न किया है जिसे देखकर मुझे अत्यन्त प्रसन्नता हुई है। आजकल भी जब पुराणोक्त श्रीकृष्ण-चरित्र का प्रभाव भारतीय जनता के चरित्रों पर बुरा पड़ रहा है, विशेषतः मठादिक में कृष्ण, गोपी व राधा-सम्बन्ध के नाम पर अनेक अनर्थ प्रचलित हैं तथा विधर्मी प्रचारकों को इस मिथ्या विश्वास के आधार पर हमारे पवित्र धर्म को कलंकित करने का अवसर मिलता है, ऐसे विशुद्ध श्रीकृष्ण-चरित की बड़ी आवश्यकता थी। इस प्रशंसनीय प्रयत्न के लिये मैं श्री भारतीय जी का अभिनन्दन करता हूँ और चाहता हूँ कि इस पुस्तक का देशवासियों में खूब प्रचार हो।

श्री श्रद्धानन्द प्रतिष्ठान,
गुरुकुल कांगड़ी।
७. ५. १२ सौर।

धर्मदेव विद्यामार्तण्ड

विषय-सूची

अध्याय १

उत्थानिका

"पाँच हज़ार वर्ष पूर्व ठीक आज की ही तरह विश्व के क्षितिज पर भादों की अँधेरी तमिस्रा अपनी निगूढ़ कालिमा के साथ छा गई थी। तब भी भारत में जन था, धन था, शक्ति थी, साहस था, पर एक अकर्मण्यता भी थी जिससे सब-कुछ अभिभूत, मोहाच्छन्न और तमसावृत था। महापुरुष अनेक हुए हैं पर लोक, नीति और अध्यात्म को समन्वय के सूत्र में गूँथकर 'कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन' का पाञ्चजन्य फूँकनेवाले कृष्ण ही थे।"

संसार के महापुरुषों पर दृष्टिपात करने से विदित होता है कि प्रत्येक में कोई-न-कोई वैशिष्ट्य होता है। उनमें कोई धर्म-संस्कारक है तो कोई स्वराज्य-स्रष्टा, कोई परम निःस्पृह परिव्राट् है तो कोई विचक्षण राजनीतिज्ञ, परन्तु कोई ऐसा महामानव दृष्टिगोचर नहीं होता जिसमें इन विभिन्न आदर्शों की एक-साथ परिणति हुई हो। भारत की पुण्यभूमि में द्वापर और कलि की संधि-वेला में जन्म लेनेवाले अकेले कृष्ण वासुदेव ही ऐसे पुरुष हैं जिनमें लोकादर्श की पूर्ण प्रतिष्ठा तथा आर्य-चरित्र की चरम-उत्कर्षता दिखाई पड़ी। अतः यदि विश्व के महान् विभूति-सम्पन्न पुरुषों का उन्हें मूर्धन्य कहें तो कोई अत्युक्ति नहीं होगी। धरित्री पर ऐसे महामानव का आगमन भी इतिहास की एक स्मरणीय घटना बन जाती है। गुजराती के साहित्यकार और राजनीतिज्ञ स्व० कन्हैयालाल माणिकलाल मुन्शी के शब्दों में "इतिहास की रंगभूमि पर ऐसे व्यक्ति जब अवतरित होते हैं तब दूसरे तत्त्व पुरुषार्थ-विहीन हो जाते हैं। इतिहास-क्रम रुक जाता है। समय-शक्तियों का मान भूलकर दर्शकों का मोह उसके आसपास लिपट जाता है। भूतकाल की रंगभूमि पर ऐसे अनेक व्यक्ति हुए हैं—परशुराम, मधुसूदन भगवान् कृष्ण और समस्त जगत् के राजनीतिज्ञ-

शिरोमणि भगवान् चाणक्य।"[1]

आर्य-जीवन का सर्वांगीण विकास हमें कृष्ण-चरित्र में दिखाई देता है। जीवन का कोई ऐसा क्षेत्र नहीं जिसमें उन्हें सफलता न मिली हो। राजनीति और समाजनीति, धर्म और दर्शन, सभी क्षेत्रों में श्री कृष्ण की अद्भुत मेधा एवं विकसित प्रतिभा के दर्शन होते हैं। एक ओर वे महान् राजनीतिज्ञ, क्रान्ति-विधाता तथा धर्म पर आधृत नवीन साम्राज्य के स्रष्टा के रूप में दिखाई पड़ते हैं तो दूसरी ओर धर्म, अध्यात्म तथा दर्शन के सूक्ष्म चिन्तक एवं विवेचक के रूप में। उनके समय में भारत गांधार से लेकर सह्याद्रि पर्वतमाला तक क्षत्रिय राजाओं के छोटे-छोटे स्वतंत्र किन्तु निरंकुश राज्यों में विभक्त हो चुका था। इन्हें एकता के सूत्र में पिरोकर समग्र राष्ट्र को एक सुदृढ़ शासन-व्यवस्था के अन्तर्गत लानेवाला कोई नहीं था। एक चक्रवर्ती सम्राट् के न होने से विभिन्न माण्डलिक राजा नितान्त स्वेच्छाचारी, तथा प्रजापीड़क हो गये थे। मथुरा का कंस, मगध का जरासंध, चेदि देश का शिशुपाल तथा हस्तिनापुर का दुर्योधन, सभी दुष्ट, विलासी तथा दुराचारी थे। श्री कृष्ण ने अपनी अद्भुत चातुरी, नीतिमत्ता तथा कूटनीतिज्ञता से इन सभी अनाचारियों का मूलोच्छेद किया तथा युधिष्ठिर के रूप में धर्मराज एवं अजात-शत्रु का विरुद धारण करनेवाले एक आदर्श राजा का अखण्ड चक्रवर्ती सार्वभौम साम्राज्य स्थापित किया।

जिस प्रकार वे नवीन साम्राज्य-निर्माता तथा युग-विधायक के रूप में प्रतिष्ठित हुए, उसी प्रकार अध्यात्म तथा तत्त्व-चिंतन के क्षेत्र में भी उनकी प्रवृत्तियाँ चरमोत्कर्ष पर पहुँच गई थीं। सुख और दुःख में अनुद्विग्न, वीतराग, जल में रहनेवाले कमल-पत्र के समान निर्लेप, स्थितप्रज्ञ व्यक्ति का जैसा वर्णन उन्होंने अपने गीता-दर्शन में किया है[2], उसके मूर्त उदाहरण वे स्वयं थे। प्रवृत्ति और निवृत्ति, श्रेय और प्रेय, ज्ञान और कर्म, ऐहिक और आमुष्मिक आदि आपाततः विरोधी दीखनेवाली प्रवृत्तियों का अपूर्व सामञ्जस्य कृष्ण के उदात्त चरित्र

---

१. गुजरात के नाथ, पृष्ठ १३७

२. दुःखेष्वनुद्विग्नमनाः सुखेषु विगतस्पृहः।
वीतरागभयक्रोधः स्थितधीर्मुनिरुच्यते॥ —२।५६

की एक विशेषता है। उन्होंने धर्म के दोनों आदर्शों—अभ्युदय और निःश्रेयस[1] की उपलब्धि को अपने जीवन का आदर्श बनाया तथा उसे प्राप्त भी किया। इस प्रकार यह सुस्पष्ट है कि कृष्ण का जीवन-दर्शन आर्य-आदर्शों की चरम परिणति है।

समकालीन सामाजिक तथा लौकिक परिस्थितियों के प्रति भी वे पूर्णतया जागरूक थे। उन्होंने पतनोन्मुख समाज को उद्बोधन दिया। स्त्रियों, वैश्यों और शूद्रों के मिटते हुए अधिकारों का बलपूर्वक प्रतिपादन एवं समर्थन किया। मुमूर्षु-अवस्था को प्राप्त वर्ण-व्यवस्था के पुनरुद्धार की ओर उनका ध्यान गया। वे गुण-कर्माश्रित वर्ण-व्यवस्था में उत्पन्न शिथिलता, विकृति और अव्यवस्था को दूर करने के लिए प्रयत्नशील हुए। नारी-जाति के प्रति उनके हृदय में असीम प्रेम और सम्मान था। तथाकथित निम्न-वर्ग के लोगों को समाज में यथोचित सम्मान प्रदान कराने के लिए वे सतत यत्नशील रहे। महाभारत-काल में वर्ण-साङ्कर्य का बोल बाला था। द्रोणाचार्य जैसे सर्वशास्त्र-निष्णात ब्राह्मण भी कुरुवंशीय राजकुमारों को शस्त्रास्त्र-शिक्षा देकर अपनी जीविका चलाते थे। क्षत्रिय-कुमारों को अपने अभिजात-कुलोत्पन्न होने का बड़ा भारी गर्व था। राजकुमारों की शस्त्र-प्रतियोगिता के प्रसंग में भीम ने कर्ण का अपमान उसके सूत-पुत्र होने के कारण ही किया था, यद्यपि वह कुन्ती का कानीन पुत्र था। इसी अपमान से पीड़ित और क्षुब्ध होकर कर्ण ने जो तेजस्वी उद्गार व्यक्त किये उन्हें नाटककार भट्ट नारायण ने निम्न प्रकार से व्यक्त किया है—

सूतो वा सूतपुत्रो वा यो वा को वा भवाम्यहम्।
दैवायत्तं कुले जन्मः मदायत्तु पौरुषम्॥

'मैं चाहे सूत हूँ या सूतपुत्र, अथवा कुछ भी हूँ, किसी कुल-विशेष में जन्म लेना तो दैवाधीन है, मेरे अधीन तो मेरा पौरुष है।' क्षत्रिय-कुमारों के मिथ्या गर्व को संतुष्ट करने के लिए ही एकलव्य जैसे शस्त्र-विद्या के प्रेमी किन्तु शूद्र-कुलोत्पन्न छात्र की जिज्ञासावृत्ति को कुण्ठित किया जाता था। साधारण पुरुषों की तो बात ही क्या, युगपुरुष कहे जानेवाले महात्मा भीष्म भी अपने-आपको अर्थ का दास[2] कहकर कौरवों

---

१. यतोऽभ्युदय निःश्रेयस सिद्धिः स धर्मः॥ —वैशेषिक दर्शन १।१।२

२. अर्थस्य पुरुषो दासो दासस्त्वर्थो न कस्यचित्।
इति मत्वा महाराज बद्धोस्म्यर्थेन कौरवैः॥

के उचित-अनुचित कार्यों का समर्थन करने में संकोच नहीं करते थे। धर्म, नीति और आचार का सार्वत्रिक पतन हो चुका था। समाज की इस हीन एवं पतनशील अवस्था को देखकर वासुदेव के हृदय में उसे आमूलचूल परिवर्तित कर देने का विचार उत्पन्न हुआ। दुःखी, शोषित एवं पीड़ित वर्ग के प्रति उनके हृदय की अशेष सहानुभूति येन-केन-प्रकारेण व्यक्त होकर ही रही। यादवों के अभिजात कुल में जन्म लेकर भी कृष्ण बाल्यकाल में गोपालों के सखा बने। नागर सभ्यता से दूर रहकर ग्रामीण संस्कृति में उनका शैशवकाल व्यतीत हुआ, अतः समाज के पिछड़े, अभिशप्त एवं विभिन्न ताप-शाप-प्रपीड़ित जन-समाज के प्रति उनके हृदय में अशेष सहानुभूति थी। राजाओं का आतिथ्य अस्वीकार कर दासी-पुत्र विदुर के घर का भोजन स्वीकार करना कृष्ण के क्रान्तिकारी समाजवादी व्यक्तित्व का अद्भुत उदाहरण है।

कृष्ण के इस उदात्त स्वरूप को सम्भवतः भारतीय जन-समाज ने शताब्दियों से विस्मृत कर रक्खा है। जिस महापुरुष के समकालीन प्राज्ञ पुरुषों ने उसे धर्म का मूर्तिमान स्वरूप कहा, जो वेद-वेदाङ्ग-विशारद, सर्वविभूति-सम्पन्न योगेश्वर के रूप में सम्मानित हुआ, दैव-दुर्विपाक से उसे ही इस देश के निवासियों ने 'चौर जार शिखामणिः' जैसे विकृत विशेषणों से सम्बोधित करने में किञ्चिन्मात्र भी संकोच नहीं किया। महाप्राज्ञ व्यास ने

यत्र योगेश्वरो कृष्णो यत्र पार्थो धनुर्धरः।
तत्र श्रीविजयो भूतिर्ध्रुवा नीतिर्मतिर्मम ॥[1]

कहकर जिस योगेश्वर कृष्ण और धनुर्धर पार्थ के साथ श्री, विजय और अचल विभूति एवं नीति का अविनाभाव-सम्बन्ध जोड़ा, वे मध्यकालीन पुराणकारों, साम्प्रदायिक आग्रह-सम्पन्न लेखकों और कवियों के हाथों में पड़कर 'चौराग्रगण्य पुरुष' बन गये। "जहाँ कृष्ण हैं वहाँ धर्म है और जहाँ धर्म है वहाँ जय है"[2] इस उक्ति को विस्मृत कर भारतवासियों ने नाना प्रकार के दोषारोपण कर कृष्णचरित्र को विकृत कर दिया। सहस्रों वर्षों से विस्मृत कृष्ण के इस ओज, तेज

१. श्रीमद्भगवद्गीता १८।७८

२. यतोधर्मस्ततः कृष्णो यतः कृष्णस्ततो जयः ॥ भीष्मपर्व ४३।६० में द्रोणाचार्य की उक्ति।

और क्षमताशील चरित्र की ओर पुनः ध्यान आकृष्ट करने का श्रेय उन्नीसवीं शताब्दी के दो महापुरुषों को है। प्रथम हैं स्वामी दयानन्द सरस्वती जिन्होंने अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ 'सत्यार्थप्रकाश' में इस लोकोत्तर आदर्शों के प्रतिष्ठापक महापुरुष के सम्बन्ध में लिखा—"देखो! श्री कृष्ण का इतिहास महाभारत में अत्युत्तम है। उनका गुण-कर्म-स्वभाव और चरित्र आप्त पुरुषों के सदृश है जिसमें कोई अधर्म का आचरण श्री कृष्ण जी ने जन्म से मरणपर्यन्त बुरा काम कुछ भी किया हो ऐसा नहीं लिखा।"[1] स्वामी जी के ही समकालीन बंगला के साहित्य-सम्राट् बंकिमचन्द्र चट्टोपाध्याय ने 'कृष्ण चरित्र'[2] लिखकर कृष्ण के महाभारत-वर्णित इतिवृत्त को ही प्रामाणिक स्वीकार किया तथा पुराण-प्रोक्त वर्णनों को असंगत, बुद्धि-विरुद्ध एवं कल्पनामूलक सिद्ध कर कृष्ण-चरित्र को बुद्धिवादी, वैज्ञानिक तथा युक्तिसंगत आधार प्रदान किया। प्रस्तुत ग्रन्थ के उपर्युक्त दो मूल प्रेरणा-स्रोत हैं।

१. 'सत्यार्थप्रकाश', एकादश समुल्लास, पृ० ४२२, 'आर्य साहित्य मण्डल' का चतुर्थ संस्करण।

२. बंकिम-रचित 'कृष्णचरित्र' १८८६ ई० में प्रकाशित हुआ था। कालान्तर में इसका हिन्दी-अनुवाद पं० जगन्नाथप्रसाद चतुर्वेदी ने किया जो 'हिन्दी पुस्तक एजेन्सी, कलकत्ता' ने प्रकाशित किया।

अध्याय २

कृष्ण-चरित्र की विकृति तथा उसके कारण

कृष्ण एक आदर्श पुरुष थे। उन्होंने अपने कार्यों तथा विचारों के द्वारा महान् आदर्शों की स्थापना की। बंकिमचन्द्र के शब्दों में तो "ऐसा सर्वगुणान्वित और सर्वपापरहित चरित्र और कहीं नहीं है, न किसी देश के इतिहास में और न किसी काव्य में।"[1] युग-द्रष्टा दयानन्द ने उन्हें आप्तपुरुष और महात्मा कहा। खेद है कि ऐसे महनीय और गौरवान्वित चरित्र को कालान्तर में उसी महापुरुष के देशवासियों ने अत्यन्त विकृत और कलंकित बना दिया। संस्कृत और हिन्दी के कवियों, पुराण-लेखकों तथा सामान्य ग्रन्थकारों ने उनके चरित्र पर मनमाने आक्षेप और आरोप लगाये। फलतः उनके अमल-धवल चरित्र की पावन मन्दाकिनी में अनेक अपावन एवं कलुषित धारायें ऐसी भी आ मिलीं जिनसे सम्पूर्ण कृष्ण-चरित्र छल-छिद्रपूर्ण, मर्यादाहीन तथा गर्हित बन गया। यहाँ यह बात विचारणीय है कि वे कौन-कौन-सी विकृतियाँ हैं जो पुराण-लेखकों, साम्प्रदायिक दुराग्रही जनों तथा निरंकुश कवियों के द्वारा कृष्ण-चरित में समाविष्ट की गईं जिनके कारण कृष्ण का उदात्त, दिव्य, लोकमंगल-विधायक, एवं भास्वर-चरित्र पतन के गहन गह्वर में विश्राम करने लगा? यहाँ कृष्ण-चरित्र पर लगाये जानेवाले इन्हीं दोषों और लांछनों पर विचार किया जायगा।

इतिहासकारों की यह सुनिश्चित धारणा है कि 'महाभारत' में कृष्ण के जीवन-वृत्त का जिस प्रकार उल्लेख मिलता है, उसमें उन्हें सर्वथा मनुष्य के रूप में ही चित्रित किया गया है। उनके सभी क्रिया-कलाप आदर्श मानवों के तुल्य हैं जिनमें किसी प्रकार की अलौकिकता का लेशमात्र भी नहीं है। परन्तु कालान्तर में जब भारतीय धर्म में

---

१. कृष्ण चरित्र, पृ० ३

ईश्वर के अवतार लेने की कल्पना ने प्रश्रय प्राप्त किया तो वासुदेव कृष्ण को भी विष्णु का प्रधान अवतार मान लिया गया। अन्य अवतार तो उस परम तत्त्व के अंश-कला मात्र हैं परन्तु कृष्ण को तो पूर्णावतार अथवा षोडश कला-सम्पन्न अवतार कहा गया—

'एतेचांश कला पुंसः कृष्णस्तु भगवान् स्वयं।'

यह और भी आश्चर्य की बात है कि जिसे परात्पर विष्णु का अवतार कहा गया उसे ही चोरी, व्यभिचार, धोखाधड़ी, क्रूरता आदि दुर्गुणों का भण्डार कहने में भी पुराणकारों और कवियों को संकोच नहीं हुआ। कृष्ण के निर्मल, स्वाभाविक एवं मानवोचित चरित्र को विस्मृत कर उनके नाम पर जो पाप एवं दुराचार की कहानियाँ गढ़ी गईं उन्हें विभिन्न रूपकों और मिथ्या आध्यात्मिक अलंकारों से आच्छन्न कर सामान्य भक्तजनों को पथभ्रष्ट एवं दिङ्मूढ़ बनाया गया। अतः यह निर्विवाद रूप से कहा जा सकता है कि कृष्ण जैसे आदर्श पुरुष के चरित्र पर ईश्वरत्व का आरोप करना, उसे परमात्मा का अवतार बताना और मानना एक ऐसी ही विकृति है जिसने कृष्ण के वास्तविक गौरव और माहात्म्य को तो कम किया ही है, उन्हें सामान्य भावभूमि से हटाकर अलौकिक देव-समाज में प्रतिष्ठित कर दिया है। इसका स्वाभाविक परिणाम यह निकला कि कृष्ण-चरित्र से मानव-समाज को जो शिक्षा, प्रेरणा अथवा स्फूर्ति मिलती है, उसे सर्वथा भुला दिया गया और केवल उनके मूर्तिमय विग्रह की पूजा-अर्चा करना अथवा उनकी कवि तथा पुराण-वर्णित लीलाओं का गायन करना ही लोगों का एकमात्र कर्त्तव्य बन गया। इससे एतद्देशीय जन-समाज की जो महती हानि हुई है, वह स्पष्ट है।

यहाँ अवतारवाद के सिद्धान्त पर विस्तार से विचार करना तो अप्रासंगिक ही होगा किन्तु इतना कह देना ही पर्याप्त है कि भारतीय आर्यसमाज की पुरातन दार्शनिक एवं आध्यात्मिक चिन्तनधारा में ईश्वर के अवतरित होने अथवा परम सत्ता के मनुष्य-रूप में धरा-धाम पर आकर अस्मदादि मानवों के सदृश जीवन यापन करने का कहीं भी उल्लेख नहीं मिलता। विश्व-वाङ्मय के प्राचीनतम ग्रन्थ वेदों में भी ईश्वरीय सत्ता को अशरीरी, निराकार, निर्विकार तथा सर्वव्यापक

ही बताया गया है। ऋग्वेद में जहाँ उसे अज[1] कहा है वहाँ यजुर्वेद के प्रसिद्ध ज्ञानकाण्ड-प्रधान चालीसवें अध्याय में उसे अकाय, अव्रण, अस्नाविर, शुद्ध, अपापविद्ध आदि विशेषणों से विभूषित किया गया है।[2] अद्वैत सिद्धान्त के रूप में ईश्वर के निराकारत्व का पदे-पदे प्रतिपादन करते हुए भी पुराण-गाथाओं की स्थूलता को यथावत् स्वीकार करनेवाले शंकराचार्य जैसे भाष्यकार ने भी उपर्युक्त मंत्र का अर्थ लिखते हुए उपनिषद्-वर्णित आत्मा को अशरीरी, अर्थात् लिंग-शरीर-रहित, अव्रण अर्थात् अक्षत, और अस्नाविर—स्नायु अर्थात् जिसमें शिरायें न हों, कहकर उसके स्थूल शरीर का प्रतिषेध किया है।[3]

वेदों के परवर्ती ब्राह्मण, उपनिषद्, कल्प-सूत्र-साहित्य तथा षड्-दर्शनों के मूल सूत्रात्मक ग्रन्थों में भी अवतारवाद का किञ्चिन्मात्र भी उल्लेख नहीं मिलता। इसके विपरीत शतशः औपनिषदी श्रुतियों में ब्रह्म के दिव्य, अमूर्त, अज तथा इन्द्रियों से रहित होते हुए भी सर्व-द्रष्टा, सर्वग्रहीता, सर्वज्ञाता तथा सर्वाधिष्ठाता होने का उल्लेख मिलता है। अतः निर्विवाद रूप से कहा जा सकता है कि ईश्वरावतार की कल्पना से वैदिक चिन्तक सर्वथा अपरिचित थे। राम-कृष्णादि महापुरुषों को ईश्वर के अवतार के रूप में तभी कल्पित किया जाने लगा जब बौद्ध-जैन संस्कारों से प्रभावित होकर वैदिक धर्म पौराणिक ब्राह्मण-धर्म के रूप में परिणत हो गया। राम और कृष्ण के मानवोचित

१. मण्डल ७, सूक्त ३५, मन्त्र १३

२. मंत्र ८—"सपर्यगाच्छुक्रमकायमव्रणमस्नावरं शुद्धमपापविद्धम्। कविर्मनीषी परिभूः स्वयम्भूर्याथातथ्यतोऽर्थान् व्यदधाच्छाश्वतीभ्यः समाभ्यः॥
दयानन्द सरस्वती ने ईश्वर के स्वरूप का वर्णन करनेवाले इस मंत्र का निम्न प्रकार से अर्थ किया है—"ब्रह्म शीघ्रकारी, सर्वशक्तिमान्, स्थूल, सूक्ष्म और कारण-शरीर से रहित, छिद्ररहित और नहीं छेदन करने योग्य, नाड़ी आदि के साथ सम्बन्ध-रूप बंधन से रहित, अविद्यादि दोषों से रहित होने से सदा पवित्र है।"—यजुर्वेद-भाष्य, ४०।८

स यथोक्त आत्मा पर्यगात्परिसमन्तादगाद्गत वानाकाशवद् व्यापी इत्यर्थः। शुक्रं शुद्धं ज्योतिष्मद्दीप्तिमानित्यर्थः। अस्नाविरं स्नावाः शिरा यस्मिन्न विद्यन्त इत्यस्नाविरम्। अव्रणमस्नाविरमित्याभ्यां स्थूलशरीर प्रतिषेधः। शुद्धं निर्मलमविद्यामलरहितमिति कारणशरीर प्रतिषेधः। अपापविद्धं-धर्माधर्मादि पापवर्जितम्॥

३. ईशावास्योपनिषद्, शाङ्कर भाष्य, पृ० २९, गीता प्रेस, गोरखपुर।

चरित्रों का विशद उल्लेख करनेवाले वाल्मीकीय रामायण तथा वैयासिक महाभारत में भी इन्हें साधारण हाड़-मांस के पुतलों, मनुष्यों के रूप में ही चित्रित किया गया है। यह दूसरी बात है कि कालान्तर में जब अवतारवाद का सिद्धान्त भारतीय धर्म-परम्परा में निर्विवाद रूप से स्वीकार हुआ तो इन्हीं राम और कृष्ण के चरित्रों में असाधारण अलौकिकता तथा अमानवोचित क्रियाकलापों का समावेश कर दिया गया। वे अपूर्व शक्तिशाली, मेधावी एवं मनस्वी पुरुष ही समयान्तर में ईश्वरावतार घोषित कर दिये गये। अपने कथन की पुष्टि में निम्न प्रमाण दिये जा सकते हैं।

रामायण का तो आरम्भ ही एक ऐसे पुरुष की जिज्ञासा से होता है जो महर्षि वाल्मीकि की दृष्टि में गुणवान्, वीर्यवान्, धर्मज्ञ, कृतज्ञ, सत्यवाक्, दृढ़व्रत, चारित्र्य-युक्त, सर्वभूत-हितरत, विद्वान्, समर्थ, प्रियदर्शन, आत्मवान्, जित-क्रोध, द्युतिमान्, अनसूय आदि विशेषणों से युक्त हो।[1] महर्षि वाल्मीकि की जिज्ञासा को शान्त करते हुए मुनि-पुङ्गव नारद ने जो कुछ उत्तर दिया उसमें इक्ष्वाकु-कुलोत्पन्न राम के ही नाना गुणों का कीर्तन था। ये सभी गुण जिस एक मनुष्य में विद्यमान हैं वह गाम्भीर्य में समुद्र-तुल्य, धैर्य में हिमाचल के समान, पराक्रम में विष्णु के सदृश,[2] सच्चे अर्थों में आर्य कहलाने योग्य है।[3] यही राम प्रश्नकर्ता तथा उत्तरदाता दोनों ऋषियों द्वारा 'नर'[4] अर्थात् मनुष्य ही कहा गया है। रामायण के इस प्रास्ताविक सर्ग से ही यह

---

१. कोन्वऽस्मिन् साम्प्रतं लोके गुणवान् कश्च वीर्यवान्।
धर्मज्ञश्च कृतज्ञश्च सत्यवाक्यो दृढव्रतः॥
चारित्रेण च को युक्तः सर्वभूतेषु को हितः।
विद्वान् कः कः समर्थश्च कश्चैकप्रियदर्शनः।
आत्मवान् को जितक्रोधो द्युतिमान् कोऽनसूयकः॥
—बालकाण्ड, सर्ग १, श्लोक १३

२. समुद्र इव गाम्भीर्ये धैर्येण हिमवानिव।
विष्णुना सदृशो वीर्ये सोमवत्प्रियदर्शनः॥—१।१७

३. आर्यः सर्वसमश्चैव सदैकप्रियदर्शनः॥—१।१६

४. एतदिच्छाम्यहं श्रोतुं परं कौतूहलं हि मे।
महर्षे त्वं समर्थोऽसि ज्ञातुमेवं विधं नरम्॥—१।५
बहवो दुर्लभाश्चैव ये त्वया कीर्तिता गुणाः।
मुने वक्ष्याम्यहं बुद्ध्वा तैर्युक्तः श्रूयतां नरः॥—१।७

स्पष्ट हो जाता है कि इस महाकाव्य में जिस व्यक्ति का चरित्र-कीर्तन किया गया है वह मनुष्य ही है, कोई अलौकिक शक्ति-सम्पन्न देवता या ईश्वर नहीं है। इसी प्रकार 'महाभारत' में कृष्ण के जिस स्वरूप का चित्रण हुआ है वह भी सर्वथा स्वाभाविक तथा उनकी मानवोचित प्रवृत्तियों का उल्लेख करता है। स्वयं कृष्ण ही कहते हैं—

अहं हि तत् करिष्यामि परं पुरुषकारतः।
दैवं तु न मया शक्यं कर्मकर्तुं कथञ्चन ॥[1]

मैं यथासाध्य मनुष्योचित प्रयत्न कर सकता हूँ परन्तु दैव के कार्यों में मेरा कुछ भी वश नहीं है। ऐसे शताधिक उदाहरण 'महाभारत' से दिये जा सकते हैं, जिनसे कृष्ण की मानवीयता सिद्ध की जा सके। जहाँ रामायण और महाभारत जैसे आर्ष महाकाव्यों के प्रणेता अपने चरित-नायकों को 'नर' संज्ञा से अभिहित करते हैं, वहाँ परवर्ती पुराण-लेखकों, वैष्णव-सम्प्रदायाचार्यों तथा भक्ति-आन्दोलन के पुरस्कर्ता भाषा-कवियों ने इन नरों को 'नारायण' बनाकर उन्हें वायवीय एवं अपार्थिव धरातल पर प्रतिष्ठित कर दिया। इसका एक सुनिश्चित परिणाम यह हुआ कि राम और कृष्ण जैसे लोकादर्श की स्थापना करनेवाले महापुरुषों की मूर्तियों की स्थापना, उनकी षोडशोपचार पूजा-अर्चा तथा उनके विभिन्न लीला-चरितों का गान तो होने लगा, परन्तु उनके मानव-सुलभ गुणों को ग्रहण कर अपने जीवन को उन्नत बनाने की बात किसी ने नहीं सोची।

कृष्ण-चरित्र की प्रथम विकृति हमने उनके अवतारी पुरुष के रूप में प्रतिष्ठित किये जाने को कहा है। पुराण-प्रतिपादित ब्राह्मण-धर्म के प्रचार पा जाने पर 'रामायण' और 'महाभारत' के मौलिक कलेवरों में भी यथेच्छ परिवर्तन किये गये तथा वैष्णव साम्प्रदायिकता ने उनके पुरातन आर्ष-रूप को विकृत करने में कोई कसर नहीं छोड़ी। अब वाल्मीकि के राम और व्यास के कृष्ण 'विष्णु' के अवतार घोषित किये गये तथा इन दोनों ऐतिहासिक ग्रन्थों में भी इस प्रकार के अंश और प्रकरण प्रक्षिप्त किये गये जिनसे राम और कृष्ण 'विष्णु' के अवतार होना सिद्ध होते हैं।

यह हम पूर्व ही लिख चुके हैं कि अवतारवाद की विचारधारा सर्वथा अवैदिक है। वस्तुतः भारत के धर्म-चिन्तन में अवतारवाद की

१. महाभारत, उद्योगपर्व, ७९।५

विचारधारा का विकास जैन तीर्थङ्करों तथा बौद्ध धर्म में महात्मा बुद्ध के पूर्वजन्मों की कल्पना के आधार–बोधिसत्वों से हुआ है। जैन धर्म के तीर्थङ्कर वीतराग, उदासीन सिद्ध पुरुष हैं जिन्हें उस मत में ईश्वर का स्थान प्राप्त है। इनकी संख्या २४ है। विष्णु के अवतार भी २४ ही माने जाते हैं। बौद्धों की बोधिसत्व-कल्पना बहुत-कुछ वैष्णव अवतारों की कल्पना से मिलती-जुलती है। बौद्धों का यह विश्वास है कि भगवान् बुद्ध को सिद्धि प्राप्त करने में अनेक जन्म धारण करने पड़े थे और राजकुमार सिद्धार्थ के रूप में जन्म लेने से पूर्व तथागत विभिन्न योनियों में जन्म ले चुके थे। बोधिसत्वों की कथाएँ 'जातक' ग्रन्थों में संगृहीत हैं। बुद्ध के ये विगत जन्म मनुष्य के अतिरिक्त पशु-पक्षी आदि योनियों में भी हुए थे परन्तु उन्होंने निर्वाण-प्राप्ति के लक्ष्य पर सदा ध्यान रक्खा। पौराणिक ब्राह्मण-धर्म ने जैन-बौद्ध-परम्परा के अनुकरण पर ही अवतारों की कल्पना की और उनके विभिन्न चरितों को पुराण-संज्ञक ग्रन्थों में निबद्ध किया बौद्ध जातक, जैन पुराण तथा ब्राह्मण पुराण एक ही कोटि की रचनाएँ हैं, परन्तु इनका रचनाकाल पर्याप्त अर्वाचीन है।

इस प्रकार कृष्ण-चरित्र को उसके सहज मानवीय रूप में न लेकर उसे पारलौकिक धरातल पर प्रतिष्ठित करना ही ऐसी प्रवञ्चना है जिसने कृष्ण के लोकनायकत्व को समाप्त कर उसके लोकमंगल-विधायक स्वरूप के प्रति देशवासियों की दृष्टि को ओझल कर दिया। जब कृष्ण को ईश्वर मानकर उसके दिव्य अवतारी रूप की उपासना देश में प्रचलित हुई तो कृष्णोपासक भक्त-समुदाय विभिन्न सम्प्रदायों में विभक्त हो गया। पाञ्चरात्र, भागवत, वासुदेव आदि विभिन्न-वैष्णव सम्प्रदायों की स्थिति इतिहासकारों ने स्वीकार की है।[1] कालान्तर में जब शाङ्कर वेदान्त की प्रतिक्रियास्वरूप वैष्णव भक्ति-आन्दोलन ने समस्त भारत में ज़ोर पकड़ा तो द्वैत, द्वैताद्वैत, तथा शुद्धाद्वैत के रूप में वेदान्त-सूत्रों की विभिन्न व्याख्या करनेवाले मध्व, निम्बार्क तथा विष्णु स्वामी के सम्प्रदाय (प्रचलित नाम वल्लभ- सम्प्रदाय) भी कृष्णोपासना के विभिन्न स्वरूपों को लेकर ही आगे आये।

१. विशेष जानकारी के लिए द्रष्टव्य है—डॉ० रामकृष्णन गोपाल भण्डारकर रचित ग्रन्थ—Vaishnavism, Shaivism and Minor Religious Systems.

निश्चय ही वैष्णव सम्प्रदायों के मान्य श्रीमद्भागवतादि पुराणों तथा उनके ऊपर लिखी गई सुबोधिनी आदि टीकाओं तथा अन्य साम्प्रदायिक ग्रन्थों में कृष्ण का जैसा चित्रण किया गया, वह उनके महाभारत-प्रोक्त चित्रण से नितान्त भिन्न है, जिसमें न तो उनको अद्वितीय परात्पर ब्रह्म ही माना गया है और न उनकी विभिन्न शृंगारी लीलाओं का वासना-रञ्जित वर्णन ही मिलता है, जो पुराणकारों का प्रिय विषय रहा है। वैष्णव उपासना-प्रणाली भी कालान्तर में तन्त्र-प्रतिपादित वामाचार-पद्धति से प्रभावित हुई जिसके कारण वैष्णव-धर्म में परकीया भाव को स्थान मिला। ईश्वरीय प्रेम की अनन्यता के लिए स्त्री-पुरुष-प्रेम का आदर्श प्रस्तुत किया जाने लगा जिसकी परिणति दाम्पत्य-भाव या माधुर्य-भाव की उपासना में हुई। ऐसी स्थिति में वैष्णवों के उपास्य कृष्ण का रूप-परिवर्तन हो जाना स्वाभाविक ही था। 'महाभारत' के कृष्ण जहाँ आर्य-मर्यादाओं के संरक्षक, संयमी, उदात्त चरित्रयुक्त, महान् सत्त्व-सम्पन्न मानव हैं, वहाँ पुराणों, काव्य-ग्रन्थों तथा साम्प्रदायिक साहित्य के कृष्ण गोपी-रमण, काम-क्रीड़ा-विशेषज्ञ, पर-दाराभिमर्षक हैं। 'श्रीमद्भागवत' तथा 'ब्रह्मवैवर्तादि' पुराणों, 'गीतगोविन्द' आदि काव्यों तथा 'गोपाल सहस्र नाम' जैसे स्तोत्र-ग्रन्थों में सर्वत्र कृष्ण के परदार-गामी स्वरूप का ही चित्रण किया गया है। भागवत, जो वैष्णव-सम्प्रदाय का सर्वप्रख्यात एवं मान्य ग्रन्थ है, कृष्ण की शृंगार-लीलाओं का स्पष्ट उल्लेख करता है। 'रासपञ्चाध्यायी' के अन्तर्गत जो प्रसंग चित्रित हुए हैं उन्हें पढ़कर कोई यह दावा नहीं कर सकता कि इन वर्णनों में वासनोत्तेजक स्थूल भावों का उल्लेख नहीं है। साधारण पाठकों की बात छोड़िये, 'भागवत' के प्रथम श्रोता राजा परीक्षित को भी कृष्ण के इस लोकविरुद्ध आचरण के विषय में शंका हुई थी जिसे पुराण-वक्ता शुकदेव के सम्मुख व्यक्त करते हुए उसने पूछा—

संस्थापनाय धर्मस्य प्रशमायेतरस्य च।
अवतीर्णो हि भगवांशेन जगदीश्वरः॥
स कथं धर्मसेतूनां वक्ताकर्ताभिरक्षिताः।
प्रतीपमाचरद् ब्रह्मन् परदाराभिमर्शनम्॥

(दशम स्कन्ध, पू० ३३।२७,२८)

हे ब्रह्मन्! आपने कहा था कि भगवान् जगदीश्वर धर्म की स्थापना

करने और अधर्म का प्रशमन करने के निमित्त अवतार लेते हैं। उन्होंने स्वयं धर्म-मर्यादा के प्रवक्ता, प्रस्तोता तथा रक्षक होकर किस प्रकार उसके विपरीत पर-स्त्री-स्पर्श रूपी महान् अधर्म का कार्य किया ?' इसके उत्तर में शुकदेव ने जो-कुछ कहा उसका सार यही है कि समर्थों को ऐसे दोष नहीं लगते जैसे सर्वहुत अग्नि में अच्छा-बुरा सभी-कुछ भस्म हो जाता है। परन्तु क्या यह उत्तर संतोषप्रद है ? गोस्वामी तुलसीदास ने भी 'भागवत' के इन्हीं वचनों से प्रेरणा लेकर लिखा था—

समरथ को नहिं दोस गुसांई।
रवि पावक सुरसरि की नांई॥

'भागवत'-प्रोक्त कृष्ण का यह प्रतीप-आचरण उनके गीता-प्रोक्त निम्न मन्तव्य के सर्वथा विरुद्ध है, जिसमें कहा गया है कि 'श्रेष्ठ पुरुषों के आचरण का ही अनुकरण सामान्य जन करते हैं।' लोक-समाज उसे ही प्रमाण मानता है जिसे महापुरुषों ने प्रमाण माना है।[1] अतः लोक-नेताओं का यह कर्त्तव्य है कि वे अपने आचार-व्यवहार में अत्यन्त संयम, तत्परता तथा सतर्कता बर्तें।

कृष्ण-चरित्र का पौराणिक शैली में विस्तार से वर्णन करनेवाले 'ब्रह्मवैवर्तपुराण' ने तो राधा-कृष्ण के प्रेम-प्रसंगों को जिस अति-रञ्जनापूर्ण, किन्तु वासनोत्तेजक ढंग से चित्रित किया है, उसका उल्लेख करना भी शिष्टाचार के प्रतिकूल माना जा सकता है।[2] कवियों और स्तोत्रकारों ने तो 'हरिस्मरण' और 'विलास कला कुतूहल' को एक ही धरातल पर रखकर राधा-कृष्ण की जिन रहस-केलियों का वर्णन किया है वह उच्चकोटि के शृंगारी काव्य का उदाहरण भले ही माना जा सके, उससे कृष्ण-चरित्र का कोई प्रोज्ज्वल रूप पाठकों के सम्मुख आता हो, ऐसा नहीं माना जा सकता। 'गोपाल सहस्र नाम' ने भगवन्नाम-कीर्तन के व्याज से कृष्ण को निम्न विशेषणों से सम्बोधित किया है—

"गोपालः कामिनी-जारः चौर जार शिखामणिः"

---

१. यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः।
स यत्प्रमाणं कुरुते लोकस्तदनुवर्तते॥—३।२१

२. विस्तार के लिए द्रष्टव्य—'ब्रह्मवैवर्तपुराण : एक समीक्षा', ले० डॉ० भवानीलाल भारतीय (सत्य प्रकाशन, मथुरा)

जब धर्म-ग्रन्थ कही जानेवाली पुस्तकों का यह हाल हो तो इतर काव्यादि ग्रन्थों की तो कथा ही क्या ! निरंकुश समझे जानेवाले कवियों ने तो मर्यादा को सर्वथा तिलाञ्जलि ही दे दी और कृष्ण-चरित्र के साथ खुलकर खेले। जयदेव ने संस्कृत की कोमल-कान्त पदावली में राधा-कृष्ण के जिस परकीया-भाव के प्रेम का चित्रण किया, उससे प्रेरणा लेकर मैथिल-कोकिल विद्यापति तथा बंगला-कवि चण्डीदास ने राधा-माधव की केलिक्रीडा के नाम पर उद्दाम शृंगार की जो धारा प्रवाहित की, उससे समग्र पूर्वी भारत वासना-पंक से आप्लावित हो गया। मध्यदेश में रसिक कवि सूरदास ने वल्लभ-सम्प्रदाय में दीक्षित होते हुए भी, जिसमें कृष्ण के बाल-स्वरूप की उपासना का का ही विधान है, राधा-कृष्ण के प्रेम की जो व्यञ्जना की वह जयदेव और विद्यापति की तुलना में अधिक सुरुचि-सम्पन्न भले ही हो, परन्तु उनकी यह ब्रजभाषा-पदावली भी उद्दाम शृंगार से सर्वथा मुक्त ही है, ऐसा नहीं कहा जा सकता। हिन्दी के परवर्ती कवियों को तो राधा-कृष्ण के नाम पर स्वच्छन्दता प्रदर्शित करने का पूर्ण अवसर ही मिल गया। तभी तो हिन्दी-साहित्य के रीतिकालीन कवियों के लिए कृष्ण एक सामान्य रसिक नायक की भावभूमि पर उतर आये और विलास-लीलाओं के चित्रण में कुशल इन शृंगारी प्रवृत्ति के कवियों के लिए उनके चरित्र से खिलवाड़ करना अत्यन्त सहज हो गया। रीति-काल के आचार्य कहे जानेवाले कवि भिखारीदास के शब्दों में—

"आगे के कवि समुझिहैं तो कविताई,
न तु राधिका-कन्हाई सुमिरन को बहानो है।"

इस प्रकार भक्ति की झीनी आड़ में राधा-कृष्ण की विलास-केलि का नग्न चित्रण करना कवियों का नित्यप्रति का कार्य रह गया। कृष्ण-चरित्र में समाविष्ट होनेवाली यह दूसरी मलिन धारा है जिसने कृष्ण के लोकसंग्रही रूप को तो लुप्त किया ही, उसे सर्वथा वासना-पंकिल भी बना दिया।

कृष्ण-चरित्र-विषयक एक और भ्रान्ति है जिसने लोगों के मस्तिष्क में जड़ जमा रक्खी है और जिसके कारण लोग कृष्ण को प्रवञ्चक, कपटी, युद्ध-लिप्सु और महाभारत के भीषण नरसंहार का मूल कारण समझने की भयंकर भूल कर बैठे हैं। इस भ्रान्ति का कारण 'महाभारत' की घटनाओं को प्रकारणानुकूल न समझना ही है। कृष्ण की शान्ति

प्रियता, उनकी विश्व-बंधुत्व की भावना तथा युद्ध के प्रति उनका सहज विराग-भाव लोगों से विस्मृत हो चुका है। उन्हें यह पता नहीं कि कृष्ण युद्ध की अनिवार्यता में विश्वास नहीं करते थे, अपितु किसी अपरिहार्य परिस्थिति में वे उसे समस्याओं के समाधान के अन्तिम साधन के रूप में भी तभी स्वीकार करते थे, जबकि समझौते के सभी अन्य साधन अकृत-कार्य हो जायँ। कृष्ण के लोक-पावन तथा जन-मंगल-विधायक चरित्र को दूषित करने का यह निकृष्ट प्रयास है कि उन्हें धूर्तताभरी चालोंवाला कपटाचारी और कूटनीतिज्ञ समझा जाय। इन्हीं भ्रममूलक धारणाओं के कारण आज कृष्ण का वास्तविक स्वरूप अंधकारावृत हो रहा है और हम उसकी कल्याणकारी प्रवृत्तियों को हृदयंगम करने में असमर्थ हो रहे हैं।

प्रश्न होता है कि कृष्ण-चरित्र की इस त्रिविध विकृति के लिए उत्तरदायी कौन है? निस्संकोच रूप से कहना पड़ेगा कि साम्प्रदायिक ग्रन्थ-लेखकों, पुराणकारों तथा वासना-रंजित भावनाओं का निर्बाध चित्रण करनेवाले कवियों के हाथों ही कृष्ण-चरित की यह अधोगति हुई है। जिन साम्प्रदायिक भावापन्न लेखकों ने मधुरा भक्ति के नाम पर राधा-कृष्ण की स्थूल प्रेम-भावना को रहस्य-साधना का जामा पहनाया, जिन कवियों ने गोपी-जन-वल्लभ कृष्ण का चित्रण कर उन्हें राधा के कुच-युगल के मर्दन में निपुण बताया, वे ही कृष्ण-चरित की विकृति के लिए उत्तरदायी हैं। परिणाम स्पष्ट है—कृष्ण का रसिक रूप ही लोकप्रिय हुआ। साधारण लेखकों की तो बात ही छोड़िये, बाल की खाल निकालनेवाले नैयायिकों ने भी अपने ग्रन्थों के मंगला-चरण में गोप-वधूटियों के वस्त्रों को चुरानेवाले कृष्ण का ही स्मरण किया।[1] जब तथाकथित दार्शनिक, धर्मशास्त्रकार तथा सम्प्रदाय-प्रवर्तक आचार्य ही कृष्ण के वास्तविक स्वरूप की विकृति के कारण बने तो उन सामान्य जनों को क्यों दोष दिया जाय जिनकी दृष्टि में कृष्ण परले सिरे के धूर्त, चालबाज, लम्पट और व्यभिचारी थे? आज काव्य और संगीत में 'साँवरिया' और 'बनवारी' जैसे शब्द जो लम्पट नायक के लिए सामान्यतया प्रयुक्त होते हैं, उनका कारण भी यही है।

१. द्रष्टव्य—नूतन जलधर रुचये गोपवधूटीदुकूल चौराय।
तस्मै कृष्णाय नमः संसार महीरुहस्य बीजाय ॥
विश्वनाथ पञ्चानन भट्टाचार्य रचित 'कारिकावली' का मंगलाचरण

यह और भी आश्चर्य की बात है कि कृष्ण के प्रति इतने कलुषित विचार रखते हुए भी साधारण जनता उन्हें ईश्वरावतार समझती है।

काव्य, पुराण-वर्णित कृष्ण के इस विकृत स्वरूप का ईसाई मत-प्रचारकों ने किस प्रकार अतिशयोक्ति एवं अतिरञ्जना का पुट लगाकर चित्रित किया, यह बताना भी आवश्यक है। यूरोपीय जातियों के भारत में प्रवेश के साथ ही ईसाई प्रचारकों ने भारत को अपना कार्यक्षेत्र बनाया। इस देश के वासियों को स्व-धर्म, स्व-भाषा और स्व-संस्कृति से विस्मृत कराने के लिए उन्होंने किन-किन साधनों को अपनाया, इसका विस्तृत वर्णन देना यहाँ आवश्यक नहीं है; परन्तु, यह ध्यान रहे कि पुराण-वर्णित हिन्दू देवी-देवताओं की चारित्रिक त्रुटियों और उनके आचार-सम्बन्धी स्खलनों का दिग्दर्शन करानेवाली अनेक छोटी-बड़ी पुस्तकों की रचना कर उन्हें अबोध जनता में प्रचारित करना और इस प्रकार उनके हृदय में अपने परम्परागत मत-विश्वासों के प्रति अनास्था उत्पन्न कराना भी उनके कार्यक्रम का एक प्रमुख अंग था और अब भी है। इस प्रकार की अनेक घृणित, आपत्ति-जनक पुस्तकें समय-समय पर ईसाई प्रकाशन-केन्द्रों से प्रकाशित होती रही हैं।

इन पुस्तकों में पुराणों और काव्यों के आधार पर हिन्दुओं के मान्य देवी-देवताओं और विशेषतः कृष्ण की खूब छीछालेदर की जाती है और उन्हें दुराचारी, लम्पट, धूर्त तथा कपटी बताया जाता है। इस कथन को सिद्ध करने के लिए कतिपय उद्धरण देने आवश्यक हैं। बिशप काल्डवेल ने लिखा है—"श्री कृष्ण के जीवन के विषय में जो कथाएँ पुराणों में बताई जाती हैं, उनका हिन्दू युवकों के चरित्र का नाश करने और उनकी कल्पनाओं को भ्रष्ट करने में सबसे अधिक भाग है।"[१] रेवरेण्ड मर्रे मिकल ने अपनी पुस्तक 'Letters to Indian Youths' ('भारतीय युवकों के नाम पत्र') में एक स्थान पर लिखा है—"ब्रह्मा, इन्द्र, कृष्ण आदि देवों के जो इतिहास, विशेषतया पुराणों में बयान किये गये हैं, वे किसी भी शुद्ध-पवित्र मन के व्यक्ति के लिए घृणाजनक हैं। मैं उनके निन्दनीय कार्यों के वर्णन से अपने पृष्ठों को कलंकित करने का साहस नहीं कर सकता। यदि ऐसे कार्य, जो इन

१. आर्यजगत् (साप्ताहिक), जालंधर (वर्ष १२, संख्या ३१) से उद्धृत

देवों के द्वारा किये गये माने जाते हैं, मनुष्यों ने किये होते तो हममें से प्रत्येक भय और लज्जा के मारे स्तब्ध हुए बिना नहीं रहता।"[१]

टी० ए० एम० गर्बियर (T.A.M. Gerbier) नामक एक कैथॉलिक पादरी ने अपनी पुस्तक 'Dialogues or Hindu Religion' में हिन्दू देवताओं के प्रति खूब विष उगलने के पश्चात् कृष्ण के विषय में लिखा—"When meeting a woman alone, he was in the habit of following her until he found a spot suited for his evil purpose and then he would outrage her......However abominable may be the dealings of Krishna, the Hindus are not ashamed to celebrate them in innumerable disgraceful poems. Is it not astounding that they should worship as God a person guilty of many abomination ?"[२] इसी पुस्तक में आगे लिखा गया है—"Krishna's adulteries and murders are known to the wide world."[3] अर्थात् कृष्ण किसी स्त्री को एकान्त में पाकर उसका पीछा करता और किसी विविक्त स्थान में उसका सतीत्व नष्ट कर देता था। कृष्ण के कार्य चाहे कितने ही घृणास्पद क्यों न हों, हिन्दू लोग अपनी अगणित असभ्यतापूर्ण कविताओं में उसका वर्णन करते नहीं लजाते। क्या यह आश्चर्यजनक नहीं है कि वे एक ऐसे व्यक्ति को ईश्वर मानकर पूजा करते हैं जो अनेक अपराधों का अभियुक्त है तथा कृष्ण के दुराचार और हत्याओं के कृत्य विश्व में सर्वत्र विदित हैं ?

पुराण-गाथाओं की आलंकारिक व्याख्या

पुराण-वर्णित कृष्ण-चरित के आध्यात्मिक व्याख्याकारों की यह धारणा है कि 'भागवत' तथा 'ब्रह्मवैवर्त' आदि पुराणों में जो श्रृंगार-लीलायें वर्णित हैं, वे उनके स्थूल अर्थों में ग्राह्य नहीं होनी चाहियें। इन गाथाओं की आलंकारिक व्याख्या करनी आवश्यक है। उनके अनुसार गोपियों और कृष्ण की प्रेम-क्रीड़ायें आत्मा और परमात्मा के परस्पर नैकट्य की सूचक हैं। इसी प्रकार राधा और कृष्ण की प्रेम-लीला प्रकृति और पुरुष की क्रीड़ा का प्रतीक है। अन्य प्रकार की रहस्यपूर्ण व्याख्याएँ भी पुराणों के उन आधुनिक टीकाकारों ने प्रस्तुत की हैं जो

---

१. आर्यजगत् (साप्ताहिक) जालंधर (वर्ष १२, संख्या ३१) से उद्धृत।

२. पृ० ७१

३. पृ० ३२७

इन ग्रन्थों के स्थूल, संभोगात्मक प्रसंगों के औचित्य को किसी-न-किसी रूप में सिद्ध करना चाहते हैं। वर्तमान समय में गोरखपुर का 'गीता-प्रेस' प्रचलित पौराणिक धर्म का महान् प्रचार-केन्द्र है। यहाँ से विभिन्न पुराणों के संस्करण तो प्रकाशित हुए ही हैं, इस संस्थान के लेखकों की यह भी चेष्टा रही है कि पुराण-वर्णित कृष्ण के ऊपर आनेवाले लांछनों और आरोपों का परिमार्जन करने के लिए उन कथा-प्रसंगों की बुद्धि-संगत, युक्तियुक्त व्याख्या की जाय।[१] उनके परिश्रम का मुख्य अभिप्राय यह है कि कृष्ण से सम्बद्ध जो उद्दाम शृंगार-प्रधान प्रसंग तथा वासना-रंजित कथाएँ 'भागवत' अथवा अन्य पुराणों में आई हैं, उन्हें आत्माराम भगवान् की अलौकिक क्रीड़ा बताकर उनके आध्यात्मिक प्रतीकात्मक अर्थ किये जायँ, ताकि पुराणों के इन प्रसंगों को सर्वथा निर्दोष सिद्ध किया जा सके।

'थियोसोफ़िकल सोसाइटी, अड्यार' से भी कुछ पुस्तकें ऐसी प्रकाशित हुई हैं जिनमें राधा-कृष्ण के प्रेम की व्यंजना आध्यात्मिक भूमिका पर की गई है। सुप्रसिद्ध वैदिक विद्वान् पं० श्रीपाद दामोदर सातवलेकर ने भी एक लेख[२] में राधा-कृष्ण के पुराणोक्त वर्णनों को सर्वथा निर्दोष, निष्पाप तथा भक्ति का व्यंजक मानते हुए 'ब्रह्मवैवर्त'-पुराण की कथाओं को अश्लीलता से रहित कहने का साहस दिखाया था, यद्यपि यह स्वीकार नहीं किया जा सकता कि उनके जैसा बहुश्रुत और बहुपठित व्यक्ति पुराणों की अश्लील गाथाओं से सर्वथा अपरिचित ही रहा हो।

कृष्ण-चरित के इन नवीन व्याख्याकारों को लक्ष्य में रखकर स्वामी दयानन्द के जीवनी-लेखक बंगाली विद्वान् पं० देवेन्द्रनाथ मुखोपाध्याय ने ठीक ही लिखा है—"आजकल के विकृत और वैज्ञानिक व्याख्या-बहुल समय में कोई-कोई अतिबुद्धि-सम्पन्न व्यक्ति कृष्ण-चरित्र के सम्बन्ध में पुस्तक और प्रबंधादि लिखकर सिद्ध करना चाहते हैं कि रासलीला के उपलक्ष्य में कृष्ण ने व्रज की गोपियों के साथ मैथुनादि कुछ भी नहीं किया था। रासलीला के शेषांश में परीक्षित के प्रश्नों के उत्तर में शुकदेव तक ने, यहाँ तक कि श्रीधर स्वामी और जीव गोस्वामी प्रभृति टीकाकारों ने भी माना है कि कृष्ण ने व्रज की स्त्रियों के साथ

१. द्रष्टव्य—'गोपीप्रेम', ले० श्री हनुमानप्रसाद पोद्दार।
२. साप्ताहिक आर्यमित्र (लखनऊ), २६ जून १६५२ में प्रकाशित।

व्यभिचार किया था। तब 'तेजीयसां न दोषाय वह्ने सर्वभुजो यथा' अर्थात् सर्वभुक् वह्नि-समान तेजस्वी पुरुषों को दोष नहीं होता, एवं 'ईश्वराणां वचः सत्यं तथैव चरितं क्वचित्' अर्थात् ईश्वरीय शक्ति-सम्पन्न व्यक्तियों का वचन ही मान्य होता है; उनका आचरण सब काल में मान्य वा अनुकरणीय नहीं होता; इस प्रकार कुछ मानकर कुछ न मानकर उत्तर देने से शुकदेव ने परीक्षित के प्रश्नों से अपने को बचाने की चेष्टा की है। परन्तु यह सब बुद्धिमान् व्यक्ति स्वीकार करेंगे कि इस प्रकार का टालमटोल का शुकदेव का उत्तर किसी प्रकार भी युक्तियुक्त और विचारसिद्ध नहीं है। फलतः ये अतिबुद्धि-सम्पन्न लेखकगण अपनी विकृत और स्वकपोल-कल्पित व्याख्या द्वारा रासलीला के कृष्ण को सफेदी (whitewash) करके कुछ उज्ज्वल करने के संकल्प से बारंबार कितनी ही चेष्टा करें, परन्तु हम एक बार नहीं सौ बार कहेंगे कि उनकी यह चेष्टा और इस प्रकार का उद्योग मिथ्या चेष्टा और मिथ्या उद्योग-मात्र है।"[1]

वादि-तोष-न्याय से यदि यह मान भी लिया जाय कि कृष्ण-गोपी-प्रसंग सर्वथा आध्यात्मिक और असांसारिक है तथा इसमें स्थूल वासना की गंध-मात्र भी नहीं है, कृष्ण और गोपियों की जिन क्रीड़ाओं का वासना-सिक्त वर्णन पुराणों और काव्यों में है, वे भी सर्वथा निर्दोष हैं, यह आत्माराम कृष्ण की अपनी विभूतियों से अलौकिक लीला और क्रीड़ा-मात्र है, तो भी समस्या का कोई सन्तोषजनक समाधान नहीं होता। यह तो सम्भव है कि पुराण-गाथाओं की नूतन व्याख्या करनेवाले स्वयं अपनी रहस्यपूर्ण कल्पना-प्रवण बातों से संतुष्ट हो जायँ, यह भी सम्भव है कि कुछ भावनाशील पाठक भी इन व्याख्याओं को स्वीकार कर लें, परन्तु इतना स्पष्ट है कि इससे न तो उन विधर्मी प्रचारकों के आक्षेपों का ही उत्तर दिया जा सकता है जो पुराण-वर्णित शृंगार-प्रसंगों के आधार पर हमारे पूज्य देवताओं और महापुरुषों को कलंकित करने के लिए उधार खाये बैठे रहते हैं और न उन करोड़ों अशिक्षित एवं अल्प-शिक्षित व्यक्तियों का ही समाधान होता है जिनमें कृष्ण के सम्बन्ध में अनेक प्रकार के कुत्सापूर्ण प्रवाद प्रचलित हैं। वस्तु-स्थिति यह है कि सामान्य लोगों तक न तो पुराणों की ये आध्यात्मिक

---

१. विरजानन्द चरित, पृ० १७०-१७१, आर्यप्रतिनिधि सभा, उत्तर प्रदेश द्वारा प्रकाशित।

व्याख्यायें ही पहुँच पाती हैं और न वे कृष्ण-गोपी-सम्बन्धों का विश्लेषण करते समय उन्हें रूपकालंकार मानकर ही संतुष्ट होते हैं। गीता प्रेस के व्याख्याकार[1], 'रासपञ्चाध्यायी' के टीकाकार[2] अथवा पुराण-गाथाओं के नवीन भाष्यकार[3] चाहे ब्रज की गोप-बालाओं को वेदों की ऋचायें मानकर कृष्ण के साथ उनका आध्यात्मिक सम्बन्ध निरूपित करते रहें, परन्तु जन-मानस में बद्धमूल इस धारणा को निष्कासित नहीं किया जा सकता कि गोपियाँ परकीया स्त्रियाँ थीं तथा कृष्ण के साथ उनका अवैध प्रेम-सम्बन्ध था। जन-साधारण में प्रचलित इन धारणाओं से हमारे जातीय चरित्र का कितना भयंकर ह्रास हुआ है क्या इसका स्वल्प-अनुमान भी उन व्याख्याकारों ने किया है जो अपनी शुतुरमुर्गी मनोवृत्ति के कारण न तो परकीय धर्म-प्रचारकों के आक्षेपों का उत्तर देने में ही समर्थ हैं और न उनकी ये कल्पनाप्रधान व्याख्यायें जन-साधारण को ही आश्वस्त कर पाती हैं।

हमारी यह सुनिश्चित धारणा है कि जब तक कृष्ण के पावन चरित्र पर लगाये गये पुराणकारों के उपर्युक्त मिथ्या दोषों को स्पष्ट रूप से अस्वीकार नहीं किया जाता, तब तक कृष्ण का महनीय और उदात्त स्वरूप जन-समाज के समक्ष प्रतिष्ठित नहीं किया जा सकेगा और न पूर्वाग्रह-ग्रस्त ईसाई प्रचारकों के अलीक किन्तु विषैले प्रचार को ही रोका जा सकेगा। कृष्ण-चरित्र को विकृत करनेवाले इन अनार्ष एवं आधुनिक ग्रन्थों को अमान्य घोषित करना ही होगा। साम्प्रदायिक उन्माद का पोषण करनेवाले पुराणों का जबतक प्रमाण किया जायगा तबतक कृष्ण के वास्तविक स्वरूप का उद्घाटन अशक्य है। अतः यह आवश्यक है कि हम अपने पुरखों की अमल-धवल कीर्ति की सुरक्षा हेतु पूर्ण तत्पर रहें।

पुराण-वर्णित कृष्ण-चरित ने जन-मनोवृत्ति को किस प्रकार दूषित किया है, इसका दिग्दर्शन भी आवश्यक है। यह कहकर बरी नहीं हुआ जा सकता कि विधर्मी प्रचारकों की आक्षेप-प्रधान पुस्तकों का विचारशील लोगों पर प्रभाव ही कितना पड़ता है! निश्चय ही लाखों की संख्या में प्रकाशित होनेवाली इन पुस्तकों को ईसाई पादरी मेलों-त्योहारों और उत्सवों पर मुफ्त बाँटते हैं, जन-साधारण उन्हें पढ़ते हैं

१. स्व० हनुमानप्रसाद पोद्दार तथा जयदयाल गोयन्दका आदि।
२. महामहोपाध्याय मधुसूदन ओझा के शिष्य स्व० पं० मोतीलाल शास्त्री।
३. स्व० डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल आदि।

और प्रभावित होते हैं। इन्हें अपने महापुरुषों के इन लोक-निंदित कृत्यों के प्रति घृणा होती है और वे परकीय धर्म की ओर आकृष्ट होते हैं। दूसरी ओर हिन्दू-धर्म के कथा-वाचक, पुराणपाठी, रासलीला करने-वाली स्वाँगधारी मण्डलियाँ कृष्ण की इन शृंगार-लीलाओं का अत्यन्त उत्तेजक और वासना-पंकिल वर्णन और प्रदर्शन जनता के सम्मुख रखते हैं। कहीं कृष्ण-वेषधारी वह गोपियों के साथ नृत्य कर रहे हैं तो कहीं वे एकान्त में राधा से प्रेम-याचना करते हैं। कहीं माखन-चोरी, दान-लीला और मान-लीला के दृश्य दिखाये जाते हैं। यही है कृष्ण-चरित्र जो आज देश के विभिन्न भागों में, विभिन्न भाषाओं में प्रदर्शित किया जा रहा है। बंगाल, मिथिला, व्रज, राजस्थान, गुजरात, सभी कृष्ण के नटनागर-स्वरूप पर मुग्ध हो रहे हैं और उनका सुदर्शन-चक्रधारी, अत्याचारियों को दमन करनेवाला तथा धर्मात्माओं को अभयदान देनेवाला मंगलकारी रूप जन-मानस से विस्मृत हो चुका है।

सामान्य जनता में आज भी कृष्ण को लेकर वैसे ही दूषित विचार व्याप्त हैं जो पुराणपाठी कथावाचकों तथा लीलाधारियों द्वारा प्रत्यक्ष-रूपेण और ईसाई पादरियों के द्वारा परोक्ष-रूपेण प्रसारित किये गये हैं। आप एक सामान्य व्यक्ति (a man in the street) से कृष्ण के विषय में जिज्ञासा कीजिये, वह आपको कृष्ण की माखन-चोरी, गोपियों के वस्त्रापहरण, ब्रजांगनाओं के प्रति उनकी क्रीड़ासक्ति अथवा छाल-प्रपंचपूर्ण कृत्यों के द्वारा भीष्म, द्रोण आदि के वध कराने की बात ही कहेगा। वह कृष्ण की उदात्त आध्यात्मिक विचारधारा, उनकी योग-विवेचना तथा आर्य-आदर्शों की स्थापना की बात से सर्वथा अपरिचित ही है। यही कारण है कि गीता प्रेस के लेखकों, थियोसो-फ़िकल सोसाइटी के व्याख्याकारों अथवा पंडित सातवलेकर जी जैसे विद्वानों की आपाद रमणीय आध्यात्मिक व्याख्यायें न तो उसके गले ही उतरती हैं और न वह उन्हें समझ ही सकता है।

कृष्ण-चरित्र की इस अधोगति और उसके दुष्परिणामों पर विचार करते समय यह बात भी ध्यान में रखनी चाहिये कि संसार में ऐसे लोगों की कमी नहीं है जो अपनी धूर्तता, लम्पटता और व्यभिचार की दुष्प्रवृत्तियों को छिपाने अथवा उनका औचित्य प्रकट करने के लिए निर्लज्जतापूर्वक कृष्ण का उदाहरण देते हैं। धर्म की ओट में ऐसे

अपने-आपको कृष्ण मानकर अपने शिष्य-शिष्याओं से तन-मन-धन का समर्पण कराया[१], कलकत्ता-स्थित गोविन्द भवन का हीरालाल गोयनका सन्नारियों के सतीत्व को कृष्ण बनकर लूटता रहा।[२] अन्य भी न जाने कितने धूर्त और प्रवंचक लोग कृष्ण बनकर रासलीलायें कर रहे हैं और 'राधा-रमण' और 'गोपी-वल्लभ' की भूमिका का निर्वाह कर रहे हैं।

कई भोले भावुक ऐसे भी हैं जो एक ओर तो कृष्ण को साक्षात् ईश्वरावतार मानकर उनकी भक्ति करते हैं, उन्हें लीला-पुरुषोतम मानते हैं, परन्तु पुराणोक्त कृष्ण-चरित्र में उन्हें कोई असंगति नहीं दिखाई देती। जब उनसे पूछा जाता है कि एक ओर तो आप कृष्ण को साक्षात् भगवान् मानकर उनके प्रति असीम श्रद्धा-भाव रखते हैं और दूसरी ओर उनके लोक-मर्यादा-विनाशक पुराण-चरित्रों को भी सत्य मानते हैं, यह क्या गड़बड़झाला है? इसका उत्तर भी वे अपनी उसी भावुकतापूर्ण शैली में देते हुए कहते हैं—"नैष दोषः, कृष्ण षोडश कलायुक्त भगवान् हैं, वे सर्व-समर्थ हैं, अतः उनका गोपियों के प्रति जार-भाव भी निंदनीय नहीं है। ईश्वर को कोई बुराई नहीं व्यापती।" उनकी दृष्टि में कृष्ण का लीला-गायन तो हम करें परन्तु उनकी लीलाओं का अनुकरण कदापि न करें। ऐसी गलदाश्रु-भावुकता कथमपि श्लाघ्य नहीं कही जा सकती।

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि 'महाभारत' में कृष्ण का जो लोकादर्श-समन्वित चरित्र उपस्थित किया गया था, उसे पुराणों और काव्यों में सर्वथा विकृत साम्प्रदायिक रूप में चित्रित किया गया है। उन्नीसवीं शताब्दी में भारतीय पुनर्जागरण के प्रमुख उद्गाता ऋषि दयानन्द ने जहाँ धर्म, समाज, राष्ट्र एवं संस्कृति के क्षेत्रों में एक चतुर्मुखी क्रान्ति का सूत्रपात किया, वहाँ उन्होंने अपनी सतर्क एवं क्रान्तदर्शी दृष्टि से कृष्ण जैसे महान् क्षमताशील पुरुष के चरित्र की महत्ता, दिव्यता तथा पावनता को भी देखा। उसमें उन्हें आप्त-पुरुषों के गुण दृष्टिगोचर हुए; साथ ही जन-साधारण में प्रचलित पुराण-प्रदिपादित कृष्ण का दूषित चरित्र भी उनके दृष्टिपथ में आया।

---

१. द्रष्टव्य—महाराज लाइबल केस अथवा 'पापमोचनी कथा', लेखक—स्व० पं० रामसहाय शर्मा।

२. द्रष्टव्य—'चाँद' का मारवाड़ी अंक।

अतः कृष्ण-चरित्र की सम्पूर्ण विकृति के लिए भागवतादि पुराणों को ही दोषी ठहराते हुए उन्होंने लिखा—"इस भागवत वाले ने अनुचित मनमाने दोष लगाये हैं। दूध, दही, मक्खन आदि की चोरी, और कुब्जा दासी से समागम, परस्त्रियों से रास-मण्डल, क्रीड़ा आदि मिथ्या दोष श्री कृष्ण जी में लगाये हैं। इसको पढ़-पढ़ा, सुन-सुनाके अन्य मत-वाले श्री कृष्ण जी की बहुत-सी निंदा करते हैं। जो यह भागवत न होता तो श्री कृष्ण जी के सदृश महात्माओं की झूठी निंदा क्योंकर होती?"[१]

स्वामी दयानन्द के कृष्ण-विषयक मत को प्रकारान्तर से सभी विचारशील पौरस्त्य एवं पाश्चात्य भारतविद्या-विशारदों ने स्वीकार किया है। दयानन्द के ही समकालीन बंगाली साहित्यकार बंकिमचन्द्र ने १८८६ ई० में कृष्ण-चरित की विशद एवं जीवन्त समालोचना कर उसका तात्विक विवेचन किया। वे भी उन्हीं निष्कर्षों पर पहुँचे जिन्हें सूत्र-रूप में दयानन्द ने उपस्थापित किया था। कृष्ण का वही इति-वृत्त प्रामाणिक और मान्य है जो 'महाभारत' में वर्णित है; पुराण-कथित कृष्ण-चरित्र को मान्यता नहीं दी जा सकती। कृष्ण-चरित्र को विकृत और कुत्सित करनेवाले साम्प्रदायिक लोगों की इस मनो-वृत्ति के प्रति घोर आक्रोश व्यक्त करते हुए बंकिम ने लिखा—"कृष्ण को हम लोग क्या समझते हैं? यही कि वे बचपन में चोर थे। दूध, दही, मक्खन चुराकर खाया करते थे, युवावस्था में व्यभिचारी थे और उन्होंने बहुतेरी गोपियों के पातिव्रत्य धर्म को नष्ट किया, प्रौढ़ावस्था में वंचक और शठ थे—उन्होंने धोखा देकर द्रोणादि के प्राण लिये। क्या इसी का नाम भगवच्चरित्र है?"[२] भारत के महाकाव्यों, देव-गाथाओं तथा उपाख्यानों का अध्ययन करनेवाले पी० थॉमस ने लिखा—"In this epic (Mahabharat) he appears as a diplomate and soldier and those accounts in it which are meant to deity him are considered interpolations. It is the Vishnu Purana and the Bhagvata that we read the various legends that speak of his divine nature."[3] अर्थात् 'महाभारत' में कृष्ण का चित्रण एक राज-नीतिज्ञ और सैनिक के रूप में हुआ है और वे वर्णन जो उन्हें ईश्वर

---

१. सत्यार्थप्रकाश, एकादश समुल्लास, पृ० ४२२ (आर्यसाहित्य मण्डल, चतुर्थावृत्ति)।

२. कृष्णचरित्र, पृ० २।

३. 'Epics, Myths and Legends of India', पृष्ठ ७१।

बताते हैं निश्चय ही प्रक्षिप्त हैं। 'विष्णुपुराण' और 'भागवत' में ही कृष्ण-सम्बन्धी वे कथायें हैं जो उनकी भगवत्ता को वर्णित करती हैं।

निष्कर्ष-रूप में हम कह सकते हैं कि कृष्ण का वास्तविक रूप वही है जो भगवान् कृष्ण द्वैपायन व्यास की लेखनी से प्रसूत होकर 'महाभारत' में लेखबद्ध हुआ है तथा अन्य पुराणादि ग्रन्थों में कृष्ण के स्वरूप को विकृत करने की जो चेष्टायें हुई हैं उन्हें सर्वथा निर्मूल एवं निराधार ही माना जाना चाहिए। कृष्ण के वास्तविक चरित्र को लोक में पुनः प्रतिष्ठित करने के लिए दयानन्द और बंकिमचन्द्र जैसे मनीषियों के प्रति हमें कृतज्ञता व्यक्त करनी चाहिये।

अध्याय ३

कृष्ण की ऐतिहासिकता

पाश्चात्य विद्वानों ने पुरातन संस्कृत-वाङ्मय का अध्ययन एवं अनुशीलन अत्यन्त लगन, उत्साह एवं निष्ठापूर्वक किया है, एतदर्थ वे हमारे सम्मानार्ह तथा साधुवाद के पात्र भी हैं। उनके एतद्विषयक प्रयत्नों से भारत की प्राचीन मनीषा एवं विद्या एक बार पुनः संसार के समक्ष सुप्रतिष्ठित हुई। परन्तु इसके साथ ही यह भी स्मरण रखना चाहिए कि उनका यह अध्ययन और अध्यवसाय सर्वथा निष्पक्ष अथवा केवल विद्या-व्यासंग की दृष्टि से किया हुआ नहीं था। इसके विपरीत, उन्होंने अनेक पूर्वाग्रहों तथा पूर्व-निर्धारित धारणाओं को लेकर ही संस्कृत-वाङ्मय पर लेखनी चलाई, जिसका अवश्यम्भावी परिणाम यह निकला कि वे भारत के गौरवपूर्ण अतीत का यथार्थ दिग्दर्शन कराने में असमर्थ रहे। हमारे इस कथन का यह अभिप्राय नहीं है कि पश्चात्य विद्वानों के संस्कृत-भाषा और साहित्य के इस अध्ययन का कोई महत्त्व नहीं है। निश्चय ही उनमें अनेक ऐसे भी थे जिन्हें जिज्ञासु तथा विद्या-पिपासु कहा जा सकता है। परन्तु इन्हीं भारत-विद्या-विशारद (Indologist) विद्वानों में अनेक ऐसे भी थे जो एकाधिक प्रयोजनों से इस कार्य में लगे थे।

अपने कथन की पुष्टि में हमें सुप्रसिद्ध जर्मन विद्वान् मैक्समूलर तथा संस्कृत-अंग्रेजी-कोश के निर्माता प्रो० मोनियर विलियम्स के उदाहरण देना चाहेंगे। वैदिक तथा संस्कृत-साहित्य का विशद अध्ययन एवं समीक्षण कर प्रो० मैक्समूलर ने विश्व-विश्रुत ख्याति अर्जित की है। ऑक्सफोर्ड विश्वविद्यालय को केन्द्र बनाकर आजीवन भारतीय सारस्वत साधना में संलग्न रहनेवाले इस विद्वान् के अध्ययन की पृष्ठ-भूमि स्वयं उसीके शब्दों में प्रस्तुत की जा सकती है। 'प्राचीन संस्कृत-साहित्य का इतिहास' में लिखी मैक्समूलर की कुछ पंक्तियाँ स्मरणीय

हैं—"History seems to teach that the whole human race required a gradual education before, in the fullness of time, it could be admitted to the truths of Christianity. All the fallacies of human reason had to be exhausted, before the light of a higher truth could meet with ready acceptance. The ancient religions of the world were but the milk of nature, which was in due time to be succeeded by the bread of life."[१] जर्मन विद्वान् के इस कथन का अभिप्राय यह है कि ईसाइयत में निहित पूर्ण सत्य को मानवता सर्वांग रूप से स्वीकार करे, इससे पूर्व यह आवश्यक था कि मनुष्यता को पूर्ण सत्य तक पहुँचाने के लिए क्रमशः शिक्षित किया जाता। उच्चतर सत्य को स्वीकार करने के पहले यह आवश्यक है कि मानवी तर्क के समक्ष आनेवाले सभी हेत्वाभासों से निपट लिया जाय। शब्दों के इस घटाटोप का सीधा अभिप्राय यह है कि ईसाइयत के आविर्भाव के पूर्व विद्यमान संसार के धर्म (वैदिक, पारसी, बौद्ध आदि) मानो धरती पर इसीलिये उत्पन्न हुए थे कि वे, परिपूर्ण धर्म—ईसाई धर्म का मार्ग प्रशस्त करें तथा ईसाइयत यदि उच्चतर सत्य है तो उसकी तुलना में अन्य धर्म हेत्वाभास-मात्र हैं। ईसाइयत के प्रति अपने इसी पूर्वाग्रह को मैक्समूलर ने उस समय आलंकारिक शैली में प्रस्तुत कर दिया। वह ईसाइयत-पूर्व के धर्मों को मानव-रूपी शिशु का प्रारम्भिक पोषण करनेवाला प्रकृतिदत्त दुग्ध कहता है, परन्तु ईसाइयत को वह जीवन के लिए आवश्यक रोटी की संज्ञा देता है। इस विवेचन से वह यह स्पष्ट कर देता है कि मानव के परिपूर्ण धर्म ईसाई-मत को जानने या स्वीकार करने के पूर्व यदि मनुष्य वैदिक, बौद्ध आदि इतर भारतीय धर्मों का तुलनात्मक अध्ययन कर ले तो ईसाइयत के 'चरम सत्य' को स्वीकार कर लेना उसके लिए अधिक सहज हो जायगा। इसीलिये मैक्समूलर अपने भारतीय साहित्य के अध्ययन के पीछे निहित भावना और उद्देश्य को भी व्यक्त करने में कोई संकोच नहीं करता। वह स्पष्ट घोषित कर देता है कि वैदिक तथा बौद्ध वाङ्मय का अध्ययन करने के पश्चात् ईसाइयत में निहित 'सचाई' को और भी स्पष्टरूप से चीन्हा जा सकता है। तो यह था उसके वैदिक तथा संस्कृत-परिशीलन का मुख्य प्रयोजन।

---

१. 'History of Ancient Sanskrit Literature' (1860), P. 32.

ऋग्वेद के अनुवाद को प्रकाशित कराने में मैक्समूलर का क्या अभिप्राय था, इसे उसने अपनी पत्नी को लिखे एक पत्र में इस प्रकार स्पष्ट किया है—"This edition of mine and the translation of the Veda will hereafter tell to great extent on the fate of India—It is the root of their religion and to show them what the root is, I feel sure, is the only way of uprooting all that has sprung from it during the last three thousand years."[१] 'मेरा यह ऋग्वेद का संस्करण और अनुवाद भारत के भाग्य को निश्चित रूप से प्रभावित करेगा। यह वेद ही भारतवासियों के धर्म का मूल है तथा इस मूल से शाखा-प्रशाखा-रूप जो महान् भारतीय धर्म-रूपी महाविटप गत तीन हज़ार वर्षों में फैला-फूला है उसे नष्ट करने के लिए भारत-वासियों को यह भी बताना आवश्यक है कि उनके वर्तमान धर्म का मूल यह वेद कैसा है?' अर्थात् मैक्समूलर भारतवासियों को वेद का परिचय देकर ही वेद पर आधारित वर्तमान हिन्दू-धर्म को नष्ट करने का स्वप्न देख रहा था। उपर्युक्त उद्धरणों के परिप्रेक्ष्य में मैक्समूलर के भारत-विद्या-विषयक अनुशीलन में निहित दुर्भावना को स्पष्टतया देखा जा सकता है। वह यह मानकर चलता है कि ईसाइयत की तुलना में भारत का प्राचीन धर्म-चिन्तन हेत्वाभासों से युक्त बालिश कल्पना-जाल मात्र है तथा च वेदों का अध्ययन और परिचय भारतवासियों के धर्म-विषयक घनीभूत विश्वासों को उखाड़ने में ही सहायक होगा।

प्रो० मोनियर विलियम्स ने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक 'Indian Wisdom' ('भारतीय प्रज्ञा') की प्रस्तावना में यह स्पष्ट कर दिया था कि अंग्रेज़ों को भारत पर शासन करने का अधिकार मात्र इसलिये नहीं मिला था कि वे यहाँ रहकर विभिन्न राजनैतिक अथवा सामाजिक परीक्षण करें अथवा व्यापार की उन्नति करें, अपितु इस विशाल उप-महाद्वीप का शासन सौंपने में मानो नियति की यह भी इच्छा कार्य कर रही थी कि इस विशाल भू-भाग पर ईसाई धर्म के पुनरुद्धारक प्रभाव का सर्वत्र प्रसार किया जाय।[२] आगे चलकर वह यह भी स्पष्ट करता है कि भारत पर अंग्रेज़ों का आधिपत्य इसलिये भी महत्त्वपूर्ण बन

१. 'Life and Letters of Frederick Maxmuller', Vol. I, Chap. XV, P. 346.

२. हिन्दी-अनूवाद 'भारतीय प्रज्ञा' (प्रस्तावना), पृ० ११

जाता है क्योंकि सम्प्रति ईसाई धर्म को तीन बड़े धार्मिक दर्शनों (उसके अनुसार तीन प्रमुख मिथ्या धर्मों) ब्राह्मण धर्म, बौद्ध धर्म तथा इस्लाम से टक्कर लेनी है और यह कार्य अंग्रेज़ी शासन की सहायता से भारत में ही होना है। प्रकारान्तर से यह भारत-तत्त्व-विशारद अपने अध्ययन और अनुशीलन का लाभ उन ईसाई प्रचारकों को देना चाहता है जो भारत में रहकर हिन्दू धर्म को समाप्त करने तथा मसीही मत का प्रचार करने में संलग्न हैं; वैदिक और संस्कृत-वाङ्मय का गौरव स्थापित करना उसका कतई ध्येय नहीं है।

पाश्चात्य संस्कृतज्ञों के अध्ययन के पीछे एक अन्य मनोवृत्ति भी कार्य कर रही थी। वे यह मानते थे कि भारत जैसे सुविशाल देश पर शासन करनेवाले आंग्ल शासक-वर्ग के व्यक्तियों के लिए यह आवश्यक है कि वे शासित देश की सभ्यता, भाषा, संस्कृति, धर्म और विचार-धारा से पूर्णतया परिचित हों। ऐसा हुए बिना उनका शासन त्रुटिपूर्ण हो सकता था। फलतः वे सिविल सर्विस में भर्ती होनेवाले भारत के भावी प्रशासकों की जानकारी के लिए संस्कृत-साहित्य के उन अनेक आयामों को सुप्रकट कर देना चाहते थे जिनकी सहायता से वे भारतीय प्रजा की धार्मिक और सामाजिक आस्थाओं से सुपरिचित हो सकें। संस्कृत-साहित्य के इतिहास-लेखक आर्थर एन्थनी मैकडानल ने इसी विचार को निम्न प्रकार से व्यक्त किया है—"Owing chiefly to the lack of an adequate account of the subject, few, even of the youngmen who leave these shoes every year to be its future rulers."[१] 'इंग्लैण्ड के समुद्र-तट से प्रतिवर्ष भारत की ओर प्रस्थित होनेवाले उन नौजवानों में बहुत कम ऐसे हैं, जो उस देश के भावी प्रशासक बनकर जाते तो हैं किन्तु वे उस देश के बारे में बहुत कम जानकारी रखते हैं।' मैकडानल सिविल सर्विस के नौजवानों को भारतीय धर्म, संस्कृति, भाषा और साहित्य की यह आवश्यक जानकारी देने के लिए ही तो संस्कृत-साहित्य का यह इतिहास लिख रहे हैं और उन्हें यह स्वीकार करने में भी कोई संकोच नहीं होता कि संस्कृत के अध्ययन की प्रथम प्रेरणा उन्हें अपने भारतीय उपनिवेश की व्यावहारिक प्रशासनिक आवश्यकताओं को ध्यान में रखने के कारण

१. 'A History of Sanskrit Literature' (Preface).

ही मिली ।—"The first impulse to the study of Sanskrit was given by the practical administrative needs of our Indian possessions."[1] अर्थापत्ति से यह सिद्ध हुआ कि यदि संस्कृत-साहित्य के माध्यम से उन्हें भारतवासियों के विश्वासों, विचारों तथा अवधारणाओं का ज्ञान प्राप्त करने में सहायता न मिलती तो वे इसके अध्ययन में कथमपि प्रवृत्त नहीं होते । अन्ततः स्पष्ट हो जाता है कि पाश्चात्य विपश्चितों का भारत-विद्याओं का यह अध्ययन मात्र जिगीविषा-प्रेरित न होकर अवान्तर हेतुओं से ही प्रेरित था।

जब यह सिद्ध हो गया कि पाश्चात्य विद्वानों का भारतीय साहित्य का अनुशीलन ज्ञानोपार्जन की दृष्टि से न किया जाकर, किन्हीं विशिष्ट प्रयोजनों की सिद्धि के लिए था, तो यह मानने में भी कोई संकोच नहीं होना चाहिए कि इस अध्ययन और अनुशीलन के दौरान उन्होंने जो निष्कर्ष निकाले, जिन उपपत्तियों की स्थापना की, वे भी सर्वथा निर्दोष नहीं थीं । उदाहरणार्थ, वेदों के रचना-काल को बहुत पीछे ३-४ हज़ार वर्ष पूर्व तक ले आना, आर्यों का मूल स्थान आर्यावर्त से भिन्न मध्य-एशिया अथवा अन्यत्र मानना, प्राचीन वेद-वर्णित आर्य-सभ्यता को अविकसित, जंगली, बर्बर तथा अंधविश्वासों से परिपूर्ण बताना, आर्य-पूर्व किसी द्रविड़ जाति तथा उसकी सुविकसित आर्य-भिन्न संस्कृति की बात करना एवं उसकी अस्तित्व-सिद्धि करना, अन्ततः भारतीय इतिहास के गौरवमय पृष्ठों तथा उनमें चित्रित शलाका-पुरुषों को कवियों की कल्पना मात्र बताना आदि शतशः ऐसी बातें हैं जो यूरोपीय विद्वानों के एकांगी और पक्षपातपूर्ण अध्ययन के ज्वलन्त उदाहरण हैं।

इन्हीं विद्वानों ने यह धारणा प्रचलित कर रक्खी है कि महाभारत का युद्ध मूलतः कुरु एवं पांचाल जातियों का युद्ध था, किन्तु पाण्डव कवियों की कल्पना-मात्र हैं ।[2] व्हीलर ने पाण्डवों की कथा को उपन्यास-(Fiction)-मात्र बताया तथा कृष्ण एवं पाण्डवों के घनिष्ठ सम्बन्ध को इसी आधार पर मिथ्या बताने का साहस किया कि द्वारिका और हस्तिनापुर के बीच की भौगोलिक पूरी १४०० मील है, अतः द्वारिकावासी कृष्ण तथा हस्तिनापुरवासी पाण्डवों का सामीप्य एवं बंधुत्व असम्भव है । फ्रान्सीसी विद्वान् बोरनफ़ (Bournouf) कृष्ण की

१. 'A History of Sanskrit Literature' (Preface) पृ० २ ।

२. वेबर, मोनियर विलियम्स तथा रमेशचन्द्र दत्त की यही धारणा है ।

ऐतिहासिकता का निषेध इसी आधार पर करता है कि बौद्धशास्त्रों में उनका उल्लेख नहीं मिलता। वह यह सोचने का कष्ट नहीं उठाता कि ब्राह्मण-धर्म-द्वेषी बौद्धशास्त्र भला कृष्ण का उल्लेख क्यों करेंगे ?

महाभारत की घटनाओं अथवा कृष्ण जैसे वैदिक धर्म एवं संस्कृति के पुरोधा महानुभावों के अस्तित्व के प्रति शंका व्यक्त करके ही पाश्चात्य विद्वानों ने चुप्पी लगा ली हो, ऐसी बात नहीं। उनकी एक अन्य चालबाज़ी की ओर प्रसिद्ध बंगाली साहित्यकार बंकिमचन्द्र ने हमारा ध्यान आकृष्ट किया है। उनका कथन है कि संस्कृत-साहित्य में विद्यमान भारत के गौरव की अभिवृद्धि करनेवाली बातों को तो यूरोपीय विद्वान् कवियों की मिथ्या कल्पना या अलंकार-योजना कहकर उड़ा देना चाहते हैं, परन्तु यदि इसी साहित्य में उन्हें कोई ऐसी बात दीख पड़े जो भारतवासियों को कलंकित करनेवाली होती है तो वे उसकी सत्यता का डिंडिम-घोष करने से नहीं चूकते। उदाहरणार्थ—"भारत के पाण्डव जैसे वीर पुरुषों की कथा मिथ्या है और पाण्डव कवि की कल्पना मात्र हैं परन्तु पाण्डव-पत्नी द्रौपदी का पाँच पतियों से विवाह होना सत्य है, क्योंकि इससे यह सिद्ध होता है कि पुराने भारतवासी असभ्य थे और उनमें स्त्रियों का बहुविवाह प्रचलित था।"

यूरोपीय मनीषियों के इस पक्षपातपूर्ण तथा पूर्वाग्रहयुक्त अनुशीलन का एक अवश्यम्भावी, किन्तु भयंकर परिणाम, यह भी निकला कि उनके शिष्य भारतीय पण्डितों, पुरातत्त्वविदों और प्राच्य विद्या के अध्येताओं ने अपने गौरांग गुरुओं की अधिकांश धारणाओं को अक्षरशः सत्य मान लिया। फलस्वरूप स्वतंत्र अध्ययन और अन्वेषण के पश्चात् भी वे अपनी भ्रान्तिपूर्ण स्थापनाओं के बल पर देश के गौरव का ह्रास ही करते रहे। डॉ० राजेन्द्रलाल मित्र, रमेशचन्द्र दत्त, बालगंगाधर तिलक तथा रामकृष्णगोपाल भण्डारकर आदि संस्कृतज्ञ विद्वान् भी पाश्चात्य विद्वानों द्वारा आविष्कृत असत्य धारणाओं से मुक्त नहीं हो सके, फलतः उनके द्वारा उपपादित अनेक तथ्यों से स्वदेश तथा स्वधर्म की गरिमा को नष्ट करने में ही सहायता मिली है। अर्द्ध-विकसित भाषा-विज्ञान, असिद्ध विकासवाद तथा अपूर्ण नृतत्त्व-विज्ञान आदि के आधार पर प्राचीन भारत के विषय में उन्होंने जो धारणायें बनाई हैं वे अधिकांश में कपोल-कल्पित, मिथ्या तथा अधूरी हैं। ऐसे ही लोग पाश्चात्य विद्वानों के उच्छिष्ट-भोजी होकर कृष्ण जैसे तेजस्वी, प्रखर

तथा प्रतिभावान् महापुरुष की ऐतिहासिकता में शंका करने लगे और उसे कवि-कल्पना कहने लगे।

कतिपय भारतीय संस्कृतज्ञों ने तो अपने पाश्चात्य गुरुओं के अनुकरण पर कृष्ण की ऐतिहासिकता के विषय में शंका की ही, किन्तु आश्चर्य और खेद तो तब होता है जब हम देखते हैं कि महात्मा गांधी जैसे राष्ट्रपुरुष ने भी कृष्ण जैसे युग-पुरुष तथा आर्य-संस्कृति के व्याख्याता महापुरुष के अस्तित्व के सम्बन्ध में शंका व्यक्त की। इसका कारण यही समझा जा सकता है कि महात्मा गांधी को 'महाभारत' की ऐतिहासिकता तथा कृष्ण के व्यक्तित्व के विभिन्न पहलुओं पर गम्भीरता से सोचने-विचारने का कभी समय ही नहीं मिला। 'महाभारत' तथा उसके प्रमुख पात्र कृष्ण के सम्बन्ध में उन्होंने गीता के स्वरचित 'अनासक्तियोग' नामक गुजराती भाष्य में लिखा है—"सन् १८८८-८९ माँ ज्यारे गीता नु प्रथम दर्शन थयुं त्यारे ज मने एम लाग्युं के आ ऐतिहासिक ग्रन्थ नथी, पण तेमां भौतिक युद्ध ना वर्णन ने निमित्ते प्रत्येक मनुष्य ना हृदय नी अन्दर निरन्तर चालता द्वन्द्व युद्ध नुं ज वर्णन छै। मानुषी योद्धाओं नी रचना हृद्गत युद्ध ने रसिक बनाववाने सारू घड़ेली कल्पना छै।......महाभारत ग्रन्थ ने हुँ आधुनिक अर्थ माँ इतिहास नथी गणतो...गीता ना कृष्ण मूर्तिमन्त शुद्ध सम्पूर्ण ज्ञान छै पण काल्पनिक छै...मात्र सम्पूर्ण कृष्ण काल्पनिक छै, सम्पूर्णावतार नुं पाछल थी थयेलुं आरोपण छै।"[1] अर्थात् 'सन् १८८८-८९ में जब मैंने गीता का प्रथम दर्शन किया तो मेरे मन में ऐसा लगा कि यह ऐतिहासिक ग्रन्थ नहीं है, परन्तु इसमें भौतिक युद्ध को निमित्त बनाकर प्रत्येक मनुष्य के हृदय में सदा चलनेवाले द्वन्द्व-युद्ध का ही वर्णन है। मानुषी योद्धाओं की रचना हृदयगत युद्ध को रोचक बनाने के लिए मनगढ़न्त कल्पना है। 'महाभारत' को आधुनिक अर्थों में मैं इतिहास नहीं मानता। गीता के कृष्ण मूर्तिमन्त शुद्ध सम्पूर्ण ज्ञान हैं, परन्तु काल्पनिक हैं, सम्पूर्ण कृष्ण काल्पनिक हैं—अवतार का आरोपण पीछे से किया गया है।'

आगे गीता-भाष्य का प्रारम्भ करते हुए 'धर्मक्षेत्रे' इत्यादि श्लोकों पर गांधी जी लिखते हैं—"आ शरीररूपी क्षेत्र धर्मक्षेत्र छै, केम के अे मोक्ष नु द्वार थई शके छै। पाप माँ तेनी उत्पत्ति छै अने पाप नु अे भाजक

१. नवजीवन प्रकाशन (प्रस्तावना), पृ० ५-६-७, सं० १९८९ वि० का संस्करण

थई रहे छै, तेथी ते कुरुक्षेत्र छै। कौरव ऐटले आसुरी वृत्तिओ, पाण्डुपुत्र एटले दैवी वृत्तिओ। प्रत्येक शरीर माँ सारी अने नठारी वृत्तिओ वच्चे युद्ध चाल्या ज करे छै। अेम कोण नथी अनुभवतं ?"[१] 'अर्थात् यह शरीररूपी क्षेत्र ही धर्मक्षेत्र है क्योंकि यह मोक्ष का द्वार हो सकता है। पाप में इसकी उत्पत्ति है और पाप का भाजन हो रहा है, इसलिये यह कुरुक्षेत्र है। कौरव यह आसुरी वृत्तियाँ हैं, पाण्डपुत्र दैवी वृत्तियाँ हैं। प्रत्येक शरीर में अच्छी और बुरी वृत्तियों के बीच युद्ध चलता रहता है, इसे कौन नहीं अनुभव करता ?'

स्पष्ट है कि महात्मा जी महाभारत-युद्ध के अप्रतिम सूत्रधार कृष्ण तथा उनके गीता में प्रदत्त युद्ध-विषयक आदेशों और उपदेशों में आस्था नहीं रखते थे। वे स्पष्टत: 'महाभारत' (उसके अंगभूत गीता), कौरव, पाण्डव तथा कृष्ण को अनैतिहासिक, फलत: कवि-कल्पना-प्रसूत रूपक मानते थे। दबी ज़बान से वे यह भी कहते थे कि आधुनिक अर्थों में 'महाभारत' ऐतिहासिक ग्रन्थ नहीं है अथवा उनके कथन से कृष्ण नाम के अवतारी (और ऐतिहासिक) पुरुष का निषेध नहीं होता। यहाँ हमें किंचित् गहराई में जाकर महात्मा जी के उपर्युक्त कथन में निहित मनोवैज्ञानिक भावना का पता लगाना चाहिए जिससे प्रेरित होकर उन्होंने राम-कृष्ण आदि ऐतिहासिक पुरुषों तथा 'रामायण' एवं 'महाभारत' आदि आर्य-इतिहास के गौरवशाली ग्रन्थों को काल्पनिक बताया तथा उनके ऐतिहासिक अस्तित्व किंवा महत्त्व को अस्वीकार किया।

गांधी जी के इस विचार के मूल में उनकी स्व-निर्धारित अहिंसा-नीति ही दृष्टिगोचर होती है। यह तो सत्य है कि महात्मा गांधी का अहिंसा-विषयक दृष्टिकोण बौद्ध एवं जैन धर्म में प्रचलित अहिंसा-सम्बन्धी निषेधात्मक दृष्टिकोण की अपेक्षा अधिक रचनात्मक तथा पूर्ण है, परन्तु यह भी स्वीकार करना होगा कि यह अहिंसा-नीति इस रूप में वेद, उपनिषद्, गीता, मनुस्मृति तथा योग आदि प्राचीन आर्य-वाङ्मय में प्रतिपादित अहिंसा-भावना से भी नितान्त भिन्न है। वैदिक आदर्श के अनुसार निवृत्ति-कामी संन्यासी-परिव्राजक को प्राणिमात्र का हित-चिन्तन, भूत-दया तथा विश्व-मैत्री की भावना पर बल देते हुए पूर्ण अहिंसा-भाव का परिपालन करना चाहिए, परन्तु सामान्य-जनों

१. 'अनासक्तियोग—गीता', अध्याय १, श्लोक १ पर नोट।

तथा देश के शासक क्षत्रिय-वर्ग को अत्याचार से स्वयं बचने तथा प्रजा को बचाने के लिए शस्त्र ग्रहण करने का भी स्पष्ट आदेश दिया गया है। इसके विपरीत गांधी जी परिव्राजकों तथा योगियोंवाली अहिंसा (जिसे 'योग दर्शन' में 'सार्वभौम महाव्रत' कहा गया है)[1] को सर्वत्र प्रचलित हुआ देखना चाहते थे जो मानव-प्रकृति को देखते हुए असम्भव प्रतीत होता है। इसी स्वोयज्ञ अहिंसा-सिद्धान्त को महाभारत, गीता आदि पुरातन ग्रन्थों में तलाशने की व्यर्थ चेष्टा करनेवाले महात्मा गांधी ने महाभारत-युद्ध को दैवी और असुरी प्रवृत्तियों के द्वन्द्व का रूपक तथा कृष्ण को मूर्तिमान् ज्ञान का प्रतीक माना है। परन्तु ऐतिहासिक तथ्यों को पूर्वाग्रह के आधार पर झुठलाया नहीं जा सकता और न 'महाभारत' अथवा कृष्ण को मात्र रूपक या अलंकार कहा जा सकता है।

कृष्ण की ऐतिहासिकता 'महाभारत' की प्रामाणिकता पर निर्भर है। यदि 'महाभारत' का ऐतिहासिक महाकाव्य भारतीय इतिहास के प्रामाणिक ग्रन्थ के रूप में स्वीकार कर लिया जाता है तो उसके प्रमुख पात्र कृष्ण की ऐतिहासिक स्थिति के सम्बन्ध में भी निस्सन्देह विश्वास किया जा सकता है। अत:, यहाँ 'महाभारत' की ऐतिहासिकता पर विचार करना आवश्यक है, क्योंकि ऐसा किये बिना कृष्ण-चरित की वास्तविकता संदेहास्पद ही रहेगी।

'रामायण' और 'महाभारत' भारत के प्रमुख इतिहास-ग्रन्थ माने गये हैं[2] यद्यपि पाश्चात्य दृष्टिकोण के इतिहास-लेखकों ने उनको उचित महत्त्व नहीं दिया। ऐसे लोगों का कथन है कि 'महाभारत' में असत्य, असम्भव तथा इतिहास-विरुद्ध घटनाओं का बाहुल्य है अत: उसे प्रामाणिक इतिहास कैसे स्वीकार किया जा सकता है? उपर्युक्त कथन में सत्य का स्वल्प अंश तो है क्योंकि अनेक प्रक्षिप्त भागों के समाविष्ट हो जाने के कारण 'महाभारत' का वास्तविक रूप विकृत अवश्य हो गया है, परन्तु इससे उसके वास्तविक ऐतिहासिक महत्त्व की उपेक्षा

१. योगदर्शन, साधनपाद, सूत्र ३१

२. महाभारत, आदि पर्व के प्रथम अध्याय में ही इसे इतिहास कहा गया है—
आख्यास्यन्ति तथैवान्ये इतिहासमिमं भुवि।—१।२६
भारतस्येतिहासस्य धर्मेणान्वीक्ष्य तां गतिम्।—१।२६
इतिहासा: सवैयाख्या विविधा: श्रुतयोऽपि च।—१।५०

नहीं की जा सकती। यूरोपीय विद्वानों द्वारा प्रामाणिक समझे जाने-वाले ग्रीक, रोमन और मुस्लिम इतिहास-ग्रन्थों में भी नाना असम्भव एवं अस्वाभाविक घटनाओं का समावेश हो गया है, किन्तु वे प्रमाण-कोटि से बहिष्कृत नहीं समझे जाते, पुनः 'महाभारत' को ही इतिहास-ग्रन्थों की कोटि से पृथक् करने का आग्रह क्यों?[1]

सम्भवतः पाश्चात्य चिन्तकों की यह धारणा है कि 'महाभारत' एक छन्दोबद्ध महाकाव्य (Epic) है और उनकी दृष्टि में श्लोकबद्ध महाकाव्य 'काव्य' (Poetry) की श्रेणी में तो आ सकता है, परन्तु ऐतिह्य (History) की कोटि में नहीं। बात यह है कि पाश्चात्य परिपाटी के अनुसार इतिहास-ग्रन्थ पद्य में नहीं लिखे जाते, अतः संस्कृत के पद्यात्मक ऐतिहासिक महाकाव्यों को इतिहास-ग्रन्थ मानने में पश्चिमी विद्वानों को संकोच होता है, परन्तु उनकी यह धारणा भारतीय वाङ्मय की लेखन-शैली तथा वैशिष्ट्य से उनकी अनभिज्ञता ही सूचित करती है। संस्कृत-साहित्य की यह विशेषता है कि उसमें लगभग सभी विषयों के ग्रन्थों की रचना पद्य-शैली में हुई है। पद्य की तुलना में संस्कृत में गद्य-रचनायें न्यून ही हैं। जो हैं भी, वे भाष्य, टीका या व्याख्या-रूप में हैं, मूल ग्रन्थ पद्यात्मक ही हैं। मौलिक शास्त्र-ग्रन्थ, यहाँ तक कि गणित, आयुर्वेद, ज्योतिष आदि भौतिक विद्याओं के ग्रन्थ भी पद्य-शैली में ही लिखे गये, उसी प्रकार, जैसे दर्शन, धर्म, तर्क आदि के ग्रन्थ भी पद्यात्मक रूप में प्रस्तुत किये गये। संस्कृत-वाङ्मय का अधिकांश अनुष्टुप् छन्द में उपलब्ध होता है। अतः श्लोकबद्ध होने-मात्र से 'महाभारत' के ऐतिहासिक महत्त्व को अस्वीकार नहीं किया जा सकता। यह तो महाकवि और महान् इतिहासज्ञ कृष्ण द्वैपायन की रचना-चातुरी है कि उन्होंने भारतीय इतिहास के इस गौरवमय आख्यान को पद्यबद्ध कर दिया।

जर्मन-विद्वान् वेबर ने अपने दुराग्रहवश 'महाभारत' की प्राचीनता को संदेह की दृष्टि से देखा है। उसने इस ग्रन्थ की अर्वाचीनता को

---

१. कृष्णचरित्र, पृ० १०, आर्यसमाज के प्रसिद्ध विद्वान् महात्मा अमर स्वामी सरस्वती ने महाभारत के विभिन्न अन्तःसाक्ष्यों तथा पूर्वापर घटनाओं पर विचारकर यह सिद्ध किया है कि द्रौपदी का विवाह पाण्डवों में सबसे बड़े महाराज युधिष्ठिर के ही साथ हुआ था।

द्रष्टव्य—'कौन कहता है द्रौपदी के पाँच पति थे?'—अमर स्वामी प्रकाशन, गाजियाबाद, १९७८ ई० में प्रकाशित पञ्चम संस्करण।

सिद्ध करने के लिए एक विचित्र हेतु दिया है। उसके अनुसार चन्द्रगुप्त मौर्य के दरबार में नियुक्त यूनानी राजदूत मेगास्थनीज़ ने अपनी भारत-यात्रा-सम्बन्धी पुस्तक में 'महाभारत' का उल्लेख नहीं किया, अतः 'महाभारत' को प्राचीन नहीं माना जा सकता। वेबर के अनुसार इसका रचना-काल ईसवी सन् की प्रथम शताब्दी के आसपास माना जा सकता है। वेबर के शब्द ये हैं—"Since Megasthenes says nothing of this epic, it is not improbable hypothesis that its origin is to be placed in the interval between his time and that Chrysostom (some European visitor to India who heard Mahabharat from a sailor) for what ignorant sailor took note of, would hardly have escaped his observation."[1] अर्थात् मेगास्थनीज़ 'महाभारत' के विषय में कुछ नहीं कहता इसलिए यह अनुमान लगाना असम्भव नहीं होगा कि इसका निर्माण-काल मेगास्थनीज़ और Chrysostom (कोई यूरोपीय यात्री, जिसने किसी नाविक से 'महाभारत' की कथा सुनी) के समय के बीच में है। यह अनुमान इसलिये सत्य है कि एक साधारण नाविक को जिस ग्रंथ का ज्ञान है, वह मेगास्थनीज़ की दृष्टि से ओझल कैसे रह पाता? इसी निस्सार हेतु को देकर वेबर महाशय 'महाभारत' की अर्वाचीनता सिद्ध करना चाहते हैं।

मेगास्थनीज़ का संदर्भ देते समय वेबर यह भूल जाते हैं कि इस यूनानी यात्री द्वारा लिखित सम्पूर्ण भारत-वृत्तान्त सम्प्रति उपलब्ध नहीं है। अन्य ग्रन्थों में इस यात्रा-वृत्तान्त के जो उद्धरण मिले हैं, उन्हें ही एकत्रित कर 'मेगास्थनीज़ की भारत-यात्रा' के नाम से प्रकाशित कर दिया गया है। अतः मूल ग्रन्थ के अभाव में वेबर का यह निर्णय दे देना कि उसमें 'महाभारत' का उल्लेख नहीं मिलता, अनुचित है। यह तो और भी विचित्र बात है कि एक विदेशी यात्री के द्वारा उल्लेख न किये जाने मात्र से ही एक ऐसे ग्रन्थ के अस्तित्व को हम नकार दें जो भारत के जन-जीवन में भीतर तक प्रवेश पा चुका है।

जो लोग 'महाभारत' के पात्रों को प्रतीक, रूपक और कल्पना मानकर कपोल-कल्पित सिद्ध करना चाहते हैं, उनकी कुछ चर्चा ऊपर

१. 'History of Sanskrit Literature' (English Translation), P. 186, Trubner and Co., 1882.

की जा चुकी है। ऐसे व्यक्तियों को ज्ञात होना चाहिए कि वास्तविक इतिहास और प्रतीक-योजना अथवा रूपक-विधान में स्पष्ट अन्तर होता है। यों तो वेदों में ही इन्द्र-वृत्र, पुरुरवा-उर्वशी आदि के अनेक रूपकात्मक उल्लेख मिलते हैं, जिन्हें ऐतिहासिक आख्यान नहीं कहा जा सकता, किन्तु इससे यह भी निष्कर्ष निकालना अनुचित होगा कि प्राचीन ग्रन्थों में रूपकों अथवा आलंकारिक वर्णनों के अतिरिक्त कुछ भी नहीं है। इन्हीं विद्वद् मन्यों ने राम और सीता की शाब्दिक व्युत्पत्ति के आधार पर 'रामायण' की कथा को कृषि-कर्म का रूपकात्मक वर्णन कहकर समाप्त करना चाहा था किन्तु इन क्लिष्ट कल्पनाओं के आधार पर ऐतिहासिक गवेषणा को नकारा नहीं जा सकता। बंकिमचन्द्र ने ऐसे रूपक-प्रिय विद्वानों का मज़ाक उड़ाते हुए लिखा है कि 'लस' धातु से लासन साहब (एक पश्चिमी संस्कृतज्ञ) की व्युत्पत्ति होती है और उनका व्यक्तित्व और कृतित्व सभी रूपक ही सिद्ध होता है।[१]

पाश्चात्य विद्वानों की इन धारणाओं के विपरीत 'महाभारत' के प्रसिद्ध अनुशीलनकर्ता रायबहादुर चिंतामणि विनायक वैद्य ने अपने 'महाभारत-मीमांसा' नामक ग्रन्थ में उपर्युक्त वेबर, व्हीलर, रमेशचन्द्र दत्त आदि की कल्पनामूलक धारणाओं का खण्डन करते हुए भारत-युद्ध तथा पाण्डवों एवं कृष्ण के अस्तित्व को सप्रमाण सिद्ध किया है।[२] 'महाभारत' के ऐतिहासिक मूल्यांकन की दृष्टि से यह ग्रन्थ अत्यन्त उपादेय है।

'महाभारत' के अतिरिक्त अन्य प्राचीन ग्रन्थों में भी भारत-युद्ध, पाण्डव तथा कृष्ण-सम्बन्धी अनेक निर्देश मिलते हैं जिनसे इनकी ऐतिहासिकता पर पर्याप्त प्रकाश पड़ता है। यहाँ 'पाणिनीय अष्टाध्यायी' के कुछ सूत्रों को उद्धृत कर यह सिद्ध किया जायगा कि पाणिनि के काल में 'महाभारत' का लोगों को ज्ञान था और वे इसके पात्रों से भली-भाँति परिचित थे। पाणिनि की तिथि पर्याप्त प्राचीन है, यद्यपि वेबर जैसे लोगों ने उन्हें आधुनिक सिद्ध करने की चेष्टा की है। यूरोपीय विद्वान् गोल्डस्टूकर ने पाणिनि का समय ईसा से १०००–११०० वर्ष माना है। पं० युधिष्ठिर मीमांसक ने अपनी गवेषणा के आधार पर

१. कृष्णचरित्र, पृ० ४०

२. महाभारत मीमांसा (संक्षिप्त संस्करण), सरस्वती सिरीज़, इण्डियन प्रेस, प्रयाग से प्रकाशित पृ० २८–३२

पाणिनि को और भी प्राचीन ठहराया है।[1] पाणिनि के निम्न सूत्रों में महाभारत-सम्बन्धी संकेत मिलते हैं—सूत्र ६।२।३८ में 'भारत' शब्द पड़ा है जो 'महाभारत' का ही वाचक है। गवि युधिभ्यां स्थिरः ८।३।९५ में युधिष्ठिर का संकेत है। पाण्डु-पत्नी कुन्ती का संकेत करनेवाला निम्न सूत्र है—स्त्रियामवन्ति कुंति कुरुभ्यश्च ४।१।१७४, इसी प्रकार नकुल और द्रोण का संकेत इन सूत्रों में है—६।३।७५ और ४।१।१०३, कृष्ण और अर्जुन का एक-साथ उल्लेख सूत्र ४।३।९८ में है जहाँ कहा गया है—वासुदेवार्जुनाभ्यां वुन्।

उपनिषदों का काल तो पाणिनि से भी प्राचीन है। ब्राह्मण-ग्रंथों का सम्पादन 'महाभारत' के समय में और उससे कुछ आगे-पीछे हुआ था।[2] उपनिषद् भी इन्हीं ब्राह्मण-ग्रंथों के अध्यात्म-विद्या-प्रतिपादक भाग हैं। छांदोग्य-उपनिषद् में देवकी-पुत्र कृष्ण तथा उनके गुरु घोर आंगिरस का उल्लेख इस प्रकार मिलता है—अथैतद् घोर आंगिरस कृष्णाय देवकीपुत्राय उक्त्वा उवाच। अविवास एव स बभूव।[3] 'कौषतकी ब्राह्मण' में भी, जो निश्चय ही छान्दोग्य-उपनिषद् से भी प्राचीन है, घोर आंगिरस तथा देवकी-पुत्र कृष्ण का उल्लेख मिलता है। निश्चयपूर्वक कहा जा सकता है कि उपनिषद्-वर्णित देवकी-पुत्र कृष्ण महाभारतकालीन यादव कृष्ण ही है। इस प्रकार प्राचीन आर्य-साहित्य में कृष्ण का बहुशः उल्लेख मिलने के कारण उनकी ऐतिहासिकता सुतरां सिद्ध है।

वेबर जिस यूनानी यात्री मेगास्थनीज़ की दुहाई देता है, उसने भी भारत के प्रसिद्ध देवता का वर्णन 'हिरक्लीज़' के नाम से किया है। ये श्री कृष्ण ही हैं। यूनानियों ने भारतीय नामों को अपने ढंग से लिखा है। ग्रीक यात्री के अनुसार हिरक्लीज़ की पूजा शौरसेनी लोग करते हैं और इन लोगों का मिथोरा (मथुरा) नाम का मुख्य शहर है।[4]

१. संस्कृत व्याकरण शास्त्र का इतिहास, भाग-१

२. वैदिक वाङ्मय का इतिहास, भाग-२, पं० भगवदत्त

३. छान्दोग्य उपनिषद्, ३।१६।६

४. महाभारत-मीमांसा (संक्षिप्त संस्करण), पृ० ३१, सरस्वती सिरीज़ में प्रकाशित।

इन सब प्रमाणों से भली-भाँति सिद्ध होता है कि कृष्ण एक ऐतिहासिक व्यक्ति थे। प्राचीन भारतीय वाङ्मय में उनका सर्वत्र उल्लेख मिलता है। पाश्चात्यों ने यद्यपि उन्हें काल्पनिक और अनैतिहासिक सिद्ध करने की चेष्टा की है, परन्तु वे अपने इन प्रयासों में सर्वथा असफल सिद्ध हुए हैं। यदि कृष्ण नाम का कोई व्यक्ति कभी हुआ ही न होता तो न तो उसके पीछे एक विशिष्ट ऐतिहासिक परम्परा का ही जन्म होता और न वह करोड़ों लोगों के हृदय में एक पूजनीय देवता की तरह आदर का स्थान ही प्राप्त करता।

अध्याय ४

कृष्ण-चरित के मौलिक उपादान

कृष्ण-चरित का उल्लेख 'महाभारत', 'हरिवंश' तथा कतिपय पुराणों में हुआ है। इनमें महाभारत का वर्णन ही सर्वाधिक प्रामाणिक और विश्वसनीय है। कृष्ण के उदात्त एवं आप्त-चरित्र का उल्लेख करनेवाले स्वामी दयानन्द ने भी 'महाभारत' को ही कृष्ण-चरित का वास्तविक उपादान माना है[1] तथा बंकिमचन्द्र का कृष्ण-विषयक अनुशीलन भी 'महाभारत' पर ही आधारित है। परन्तु प्रश्न यह उपस्थित होता है कि क्या वर्तमान में उपलब्ध 'महाभारत' प्रारम्भ से ही इसी रूप में था, अथवा समय-समय पर उसकी कलेवर-वृद्धि होती रही है तथा उसके इस विस्तार ने कृष्ण-चरित को भी किसी-न-किसी रूप में प्रभावित किया है? यह एक निर्विवाद तथ्य है कि 'महाभारत' में समय-समय पर अनेक अंश प्रक्षिप्त किये जाते रहे हैं और इन प्रक्षेपकारों की करतूतों से कृष्ण-चरित भी अस्पृश्य नहीं रहा है। जब भारतीय धर्म-चिन्तन में अवतारवाद की मान्यता निर्विवाद रूप में स्थापित हो गई तो 'महाभारत' में भी ऐसे अंशों का समावेश कर दिया गया जिनसे कृष्ण का अवतारी रूप सिद्ध होता था। इस प्रकार उनके मानवी स्वरूप के साथ-साथ भगवदीय रूप का ऐसा विचित्र एवं अद्भुत मिश्रण कर दिया गया कि बिना पूर्ण सावधानी रक्खे उसे पृथक् करना असम्भव है।

अतः कृष्ण-चरित के मूल उपादानों के विचार के प्रसंग में 'महाभारत' के मौलिक स्वरूप की विचारणा आवश्यक है। मध्यकालीन युग में 'महाभारत' में किस प्रकार नवीन श्लोक निर्माण कर प्रक्षिप्त किये गये, इसका उल्लेख करते हुए दयानन्द सरस्वती अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ 'सत्यार्थप्रकाश' में लिखते हैं—"राजा भोज के बनाये 'संजीवनी इतिहास' में स्पष्ट लिखा है कि व्यास जी ने चार सहस्र चार

१. सत्यार्थप्रकाश, ११वाँ समुल्लास

सौ और उनके शिष्यों ने पाँच सहस्र छः सौ श्लोक युक्त, अर्थात् सब दश सहस्र श्लोकों के प्रमाण 'महाभारत' बनाया था। वह महाराजा विक्रमादित्य के समय में बीस सहस्र, महाराजा भोज कहते हैं मेरे पिताजी के समय में पच्चीस और अब मेरी आधी उम्र में तीस सहस्र श्लोकयुक्त 'महाभारत' का पुस्तक मिलता है। जो ऐसे ही बढ़ता चला तो 'महाभारत' का पुस्तक एक ऊँट का बोझा हो जायगा।"[1] और वास्तव में ऐसा ही हुआ। आज 'महाभारत' एक ऊँट के बोझे से कम नहीं है। यह कौन स्वीकार करेगा कि वर्तमान में प्राप्त लगभग १ लाख श्लोकों का 'महाभारत' अकेले व्यास की ही रचना है और इसमें कुछ भी मिश्रण नहीं हुआ है ?

'महाभारत' के प्रसिद्ध अध्येता पं० चिन्तामणि विनायक वैद्य ने जय, भारत और महाभारत के रूप में विकसित होनेवाले इस महाकाव्य के लेखक भी क्रमशः व्यास, वैशम्पायन और सौति को माना है। इनमें व्यास पाण्डवों के समकालीन थे, तथा वैशम्पायन ने अर्जुन के पौत्र जनमेजय को भारती युद्ध की कथा सुनाई थी। सौति उग्रश्रवा ने कई सौ वर्ष पश्चात् नैमिषारण्य में उपस्थित ऋषियों को 'महाभारत' की कथा सुनाई। इससे सिद्ध होता है कि 'महाभारत' के प्राचीन रूप में क्रमशः वृद्धि होती रही तथा इसके फलस्वरूप इसकी रचना-शैली में भी अनिवार्यरूपेण अन्तर आ गया।

'महाभारत' में प्रक्षेप किये जाने के कुछ अन्य प्रमाण भी प्राचीन ग्रन्थों से दिये जा सकते हैं। 'गरुड़ पुराण' में लिखा है—

दैत्या सर्वे विप्रकुलेषु भूत्वा कलौयुगे भारते षट् सहस्रयाम्।
किष्कास्य कांश्चिन्नवनिर्मितानां निवेशनं तत्र कुर्वन्ति नित्यम्॥[2]

अर्थात् 'कलियुग में दैत्यगण ब्राह्मण-कुलों में जन्म लेकर, जिस भारत में ६ हज़ार श्लोक थे, उसमें, कई श्लोकों को निकालकर नये गढ़े हुए अनेक श्लोक उसमें मिला देते हैं।' यहाँ पुराणकार ने ऐसे प्रक्षेप-कर्ताओं को व्यंग्य में 'दैत्य' संज्ञा दी है। सुप्रसिद्ध द्वैतवादी आचार्य श्री मध्व ने भी अपने 'महाभारत-तात्पर्य-निर्णय' नामक ग्रंथ में लगभग इसी प्रकार के विचार व्यक्त किये हैं। वे लिखते हैं—"क्वचिद् ग्रंथान् प्रक्षिपन्ति क्वचिदन्तरितनपि कुर्युः क्वचिच्चव्यत्यासं प्रमादात् क्वचिद्

१. सत्यार्थप्रकाश, एकादश समुल्लास
२. गरुड़ पुराण, वेंकटेश्वर प्रेस बम्बई, ब्रह्मकाण्ड १।६९, पृ० २१९

अन्यथा। अनुत्सन्नाऽपि ग्रंथा व्याकुला इति सर्वशः। उत्सन्ना प्रायशः सर्वे कोट्यंशोऽपि न वर्तते।"[1] अर्थात् 'धूर्त लोग कहीं ग्रन्थों में प्रक्षेप कर देते हैं, कहीं प्रमादवश बदल देते हैं और कहीं जान-बूझकर। इस प्रकार जो ग्रन्थ नष्ट नहीं हुए वे भी व्याकुल (अस्तव्यस्त) हो गये हैं अर्थात् उनमें बहुत गड़बड़ हो गई है। प्रायशः तो वे नष्ट ही हो गये हैं। अब उनका करोड़वाँ अंश भी नहीं बचा।'

'महाभारत' के प्रसिद्ध टीकाकार नीलकण्ठ ने आदि पर्व की समाप्ति पर लिखा है—"आदिपर्वणि सप्तविंशत्यधिक द्विशताध्यायाः व्यासेन प्रतिज्ञाताः किंतु पूर्वतन लेखक-प्रमादेन चतुस्त्रिंशदधिक द्विशताध्यायाः दृश्यन्ते। एवं सति बहु पुस्तक पाठ साम्यस्य विद्यमानत्वात् कुत्र-कुत्राध्यायाधिक्यं जातं तन्निश्चयो न भवति। श्लोक-संख्याया अपि वैषम्यं तत्प्रमादेनैवेति बोध्यम्।"[2] अर्थात् 'आदि पर्व में २२७ अध्याय लिखने की व्यास जी ने प्रतिज्ञा की थी, परन्तु लेखकों के प्रमाद से २३४ उपलब्ध होते हैं। श्लोकों की संख्या में भी न्यूनाधिक्य है। ये अध्याय और श्लोक कहाँ बढ़े और कहाँ घटे तथा लेखकों के प्रमाद से किस प्रकार ऐसा हो गया, यह निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता।'

प्रसिद्ध वैदिक विद्वान् स्वामी आत्मानन्द सरस्वती ने अपने 'वैदिक गीता' नामक ग्रन्थ की भूमिका में 'महाभारत' में विद्यमान प्रक्षिप्त अंशों को जानने के लिए मूल ग्रन्थ में विभिन्न स्थलों पर आये सृष्टि-उत्पत्ति-सम्बन्धी वर्णनों को एकत्र किया है और यह बताया है कि—"एक ही विषय पर इस प्रकार विपरीत मतों का होना यह सिद्ध करता है कि इनमें से सृष्टि-उत्पत्ति का एक ही क्रम (जो निश्चय ही वेदानुकूल होना चाहिए) सत्य है और वही ग्रन्थ के मूल रचयिता को अभिप्रेत है, परन्तु कालान्तर में ये विरोधी अंश भी 'महाभारत' के अंग बन गये।"

'महाभारत' का विश्लेषणात्मक अध्ययन करनेवाले बंकिमचन्द्र ने प्रक्षिप्त अंशों के अस्तित्व के लिए निम्न हेतु दिये हैं—

(१) आदि पर्व के द्वितीय पर्व का नाम पर्वसंग्रहाध्याय है। इसमें 'महाभारत' के लगभग सभी विषयों का उल्लेख है और छोटी-से-छोटी घटना भी इसमें छूटी नहीं है। अब जो बड़ा प्रकरण 'महाभारत' में

१. महाभारत तात्पर्य निर्णय सर्वमूल कुम्भकोणम्, १९०७ ई०

२. महाभारत पर नीलकण्ठी टीका

आये और जिसका उल्लेख इस पर्वसंग्रहाध्याय में न हो, उसे अवश्य क्षेपक समझना चाहिए। उदाहरण के लिए आश्वमेधिक पर्व के अनु-गीता और ब्राह्मण गीता जैसे प्रकरण प्रक्षिप्त हैं।

(२) अनुक्रमणिकाध्याय में 'महाभारत' को एक लाख श्लोकों का बताया है और किस पर्व में कितने श्लोक हैं यह पर्वसंग्रहाध्याय में लिख दिया है, जिसके अनुसार समस्त १८ पर्वों में ८४८३६ श्लोक होने चाहियें। एक लाख की संख्या पूरी करने के लिए पर्वसंग्रहकार ने लिखा है कि इसमें हरिवंश के १२००० श्लोक और मिलाये जायँ। इन्हें जोड़ने पर ९६८३६ श्लोक हुए, परन्तु उपलब्ध 'महाभारत' में १०७३९० श्लोक हैं। इससे सिद्ध हुआ कि लगभग ११००० श्लोक 'महाभारत' में बढ़ाये गये हैं।

(३) अनुक्रमणिकाध्याय में लिखा है कि व्यास ने १५० श्लोकों की अनुक्रमणिका बनाई, परन्तु उपलब्ध 'महाभारत' के अनुक्रमणिका-ध्याय में २७२ श्लोक मिलते हैं। अतः ११२ श्लोक तो इसी अध्याय में बढ़ाये गये हैं।

(४) 'महाभारत' के वर्तमान में प्राप्त श्रोता-वक्ता-परम्परा का आलोचनात्मक दृष्टि से विचार करें तो ज्ञात होता है कि सम्प्रति उप-लब्ध 'महाभारत' समग्रतया व्यास की कृति नहीं है। इसमें वैशम्पायन, सूत और एक अज्ञातनामा लेखक (जिसने नैमिषारण्य प्रसंग के प्रारम्भिक श्लोक लिखे हैं) के न जाने कितने श्लोक हैं।

(५) अनुक्रमणिकाध्याय में लिखा है कि 'उपाख्यान भाग को छोड़-कर व्यास ने २४ सहस्र श्लोक रचे[1] और वे उन्होंने अपने पुत्र शुक को पढ़ाये। शुकदेव से वैशम्पायन ने 'महाभारत' पढ़ा और वही २४००० श्लोकों वाला भारत जनमेजय को सुनाया। वह मूल २४ सहस्र श्लोक-पर्यन्त भारत आज क्षेपकों के कारण चौगुने आकार का हो गया है।"

---

१. चतुर्विंशति साहस्रीं चक्रे भारत संहिताम्।
उपाख्यानैर्विना तावत् भारतं प्रोच्यते बुधैः॥
ततोऽप्यर्धशतं भूयः संक्षेपं कृतवान् ऋषिः।
अनुक्रमणिकाध्यायं वृत्तान्तं सर्वपर्वणाम्॥
इदं द्वैपायनः पूर्वं पुत्रमध्यापयच्छुकम्।
ततोऽन्येभ्योऽनुरूपेभ्यः शिष्येभ्यः प्रददौ विभुः॥

—महाभारत, आदिपर्व, अध्याय १, १०२–१०५

पूर्वोक्त विवेचन से यह निर्विवाद सिद्ध हो गया कि 'महाभारत' में समय-समय पर प्रक्षेप होते रहे हैं, परन्तु प्रक्षेपों को पृथक् कर ग्रन्थ के मूल स्वरूप का निर्धारण और भी कठिन समस्या है। बंकिमचन्द्र ने प्रक्षेप छाँटने के कुछ उपयोगी सुझाव दिये हैं, जो इस प्रकार हैं—

(१) पर्वसंग्रहाध्याय में जिस घटना का उल्लेख नहीं है, वह निश्चय ही प्रक्षिप्त है।

(२) जो घटनायें परस्पर-विरोधी हैं, उनमें से एक अवश्य ही प्रक्षिप्त है।

(३) महर्षि व्यास संस्कृत के रससिद्ध कवि थे। उनकी काव्य-रचना में उनकी पृथक् विशिष्टता के दर्शन होते हैं। परन्तु प्रचलित 'महाभारत' में कई अंश मूल लेखक की रचना-शैली से विपरीत हैं। ऐसे अंश निश्चय ही प्रक्षिप्त हैं।

(४) जहाँ सुसंगतता का अभाव हो और कोई बात प्रसंग-विरुद्ध हो, उसे भी प्रक्षिप्त मानना होगा।[१]

'महाभारत' की इस प्रकार अन्तरंग परीक्षा कर लेने के पश्चात् बंकिमचन्द्र ने यह निष्कर्ष निकाला है कि उपलब्ध 'महाभारत' की तीन पृथक्-पृथक् तहें हैं। 'महाभारत' का जो मौलिक अंश है वह नितान्त उदार, विकार-शून्य एवं प्रौढ़ कवित्वपूर्ण है। दूसरा अंश अनुदार है परन्तु उसमें काव्य-चातुरी और दार्शनिक व्याख्या का घटाटोप है। जहाँ तक कृष्ण का सम्बन्ध है, "पहली तह में कृष्ण ईश्वर या विष्णु के कहीं अवतार नहीं माने गये हैं। उन्होंने स्वयं भी अपना ईश्वरत्व कहीं नहीं माना है। कृष्ण ने मानुषी शक्ति के अतिरिक्त दैवी शक्ति से कहीं कोई काम नहीं लिया। पर दूसरी तह में वह डंके की चोट ईश्वर माने गये हैं। कृष्ण ने स्वयं भी अपनी ईश्वरता का ढोल बजाया है और कवि ने भी उन्हें ईश्वर सिद्ध करने का बड़ा प्रयत्न किया है।"[२]

'महाभारत' की तीसरी तह अनेक शताब्दियों से बनती चली आ रही है। जिसे जो अच्छा लगा उसने वही मिला दिया। यह अंश सर्वथा अप्रामाणिक है। बंकिम के अनुसार पहली तह ही सबसे पुरानी है, अतः उसे ही असली समझकर ग्रहण करना चाहिये। जो बातें दूसरी और तीसरी तहों में मिलें और पहली तह में न मिलें उन्हें

१. कृष्णचरित्र, पृ० ५४–५८
२. कृष्णचरित्र, पृ० ६३

कपोल-कल्पित और अनैतिहासिक समझकर छोड़ देना चाहिये।[1]

'महाभारत' की श्रोता-वक्ता-परम्परा का अध्ययन करने के पश्चात् बंकिम ने जो निष्कर्ष निकाले हैं, वे अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं—

(१) प्रचलित 'महाभारत' व्यासकृत पहली संहिता नहीं है।

(२) इसके वैशम्पायन-कृत संहिता होने में भी संदेह है।

(३) इसका प्रायः तीन-चौथाई भाग क्षेपक है।

अतः 'महाभारत' को कृष्ण-चरित का आधार मान लेने पर भी अत्यन्त सावधानी से काम लेना चाहिये।[2] साथ ही जो अलौकिक और असम्भव है, उसका भी परित्याग करना उचित है। आज के बुद्धि-प्रधान युग में चमत्कारों का कोई महत्त्व नहीं रहा है। आज यह सिद्ध हो चुका है कि प्रत्येक क्रिया प्रतिक्रिया को जन्म देती है और घटनाओं के कारण कार्य-सम्बन्ध तथा पौवापर्य को समझकर ही उनकी वास्तविकता जानी जा सकती है। साथ ही, ईश्वरीय व्यवस्था और उससे निर्दिष्ट प्राकृतिक नियम, जिन्हें वेदों में ऋत और सत्य कहा गया है, भी त्रिकालाबाधित, अटल और सत्य हैं। अतः इन बातों को ध्यान में रखते हुए हमें कृष्ण-चरित का अनुशीलन करना होगा।

१. कृष्णचरित्र, पृ० ६५

२. कृष्णचरित्र, पृ० ६८

अध्याय ५

क्या पुराण विश्वसनीय हैं ?

'महाभारत' के अतिरिक्त कृष्ण-चरित का ज्ञान प्राप्त करने में सहायक इसके परिशिष्ट 'हरिवंश' और कुछ पुराण हैं। इनकी स्थिति 'महाभारत' से भिन्न है। पुराणों के रचनाकाल तक अवतारवाद का सिद्धान्त हिन्दू-धर्म का एक अविभाज्य अंग बन चुका था, अतः इन ग्रन्थों में कृष्ण का उल्लेख एक आदर्श महापुरुष के रूप में न होकर विष्णु के अवतार के रूप में हुआ है। सामान्यतया कृष्ण-चरित का उल्लेख ब्रह्म, पद्म, विष्णु, वायु, भागवत, ब्रह्मवैवर्त, स्कंद, वामन और कूर्म इन नौ पुराणों में मिलता है, किंतु जैसा विस्तार ब्रह्म, विष्णु, भागवत और ब्रह्मवैवर्त में है, वैसा अन्य अवशिष्ट पुराणों में नहीं है। इन पौराणिक वर्णनों में न तो 'महाभारत' के कृष्ण की राजनैतिक विचक्षणता के ही दर्शन होते हैं और न उनकी चारित्रिक महत्ता, ओज-स्विता एवं उदात्तता के। पुराणकारों की दृष्टि में कृष्ण की राज-नैतिक चातुरी का मूल्य नितान्त स्वल्प है। वे उनकी शृंगार-लीलाओं के चित्रण की ओर ही विशेष रूप से उन्मुख हुए हैं। 'भागवत' और 'ब्रह्मवैवर्त' में यह प्रवृत्ति विशेष रूप से दिखाई देती है। अतः कृष्ण-चरित की मौलिकता को नष्ट कर उसे अभिनव शृंगारी रूप देने का दायित्व भी पुराणों पर ही है। 'वैष्णव पांचरात्र' सम्प्रदायों के उदय होने पर भारत में कृष्ण-पूजा का प्रचलन हुआ और वासुदेव कृष्ण को लोकोत्तर स्वरूप देने के लिए ही 'भागवत' आदि वैष्णव पुराणों की रचना हुई।

पुराणों का रचनाकाल अधिक प्राचीन नहीं है। ब्राह्मण-धर्म में जिस अवतारवाद की प्रतिष्ठा हुई है उसका मूल जैन-तीर्थंकरों और बौद्ध मत में मान्य बोधिसत्वों में देखा जा सकता है। सभी पौरस्त्य और पाश्चात्य विद्वान् इस बात से सहमत हैं कि प्रचलित १८ पुराणों की रचना गुप्तकाल के आसपास हुई है। प्राचीन ऋषि-मुनियों के नाम

पर इन पुराणों की रचना मध्यकाल में हुई, इस तथ्य की पुष्टि ऋषि दयानन्द के निम्न कथन से होती है। राजा भोज-प्रणीत 'संजीवनी इतिहास' की साक्षी से उन्होंने लिखा, "राजा भोज के राज्य में व्यास जी के नाम से 'मार्कण्डेय' और 'शिवपुराण' किसी ने बनाकर खड़ा किया था, उसका समाचार राजा भोज को विदित होने से उन पण्डितों को हस्तच्छेदनादि दण्ड दिया और उनसे कहा कि जो कोई काव्यादि ग्रंथ बनावे तो अपने नाम से बनावे, ऋषि-मुनियों के नाम से नहीं।"[१]

वस्तुतः 'पुराण'-नाम-धारी इन ग्रंथों की रचना न तो एक समय में हुई है और न एक व्यक्ति के द्वारा। अतः अष्टादश पुराणों को व्यासकृत कहना एक साहस-मात्र है। सर्व-प्रथम ऋषि दयानन्द ने पुराणों के व्यासकृत न होने के विषय में तर्क प्रस्तुत करते हुए लिखा, "जो अठारह पुराणों के कर्ता व्यास जी होते तो उनमें इतने गपोड़े न होते क्योंकि शारीरिक सूत्र, योगशास्त्र के भाष्य आदि व्यासोक्त ग्रंथों के देखने से विदित होता है कि व्यास जी बड़े सत्यवादी, धार्मिक, योगी थे। वे ऐसी मिथ्या कथा कभी न लिखते और इससे यह सिद्ध होता है कि जिन सम्प्रदायी परस्पर-विरोधी लोगों ने भागवतादि नवीन कपोल-कल्पित ग्रंथ बनाये हैं उनमें व्यास जी के गुणों का लेश भी नहीं था; और वेदशास्त्र-विरुद्ध असत्यवाद लिखना व्यास-सदृश विद्वानों का काम नहीं।"[२] उक्त कथन का अभिप्राय यही है कि व्यास के द्वारा रचित 'वेदान्त दर्शन' आदि ग्रंथों को देखते हुए यह सम्भव नहीं प्रतीत होता कि उनकी योग्यता का उच्च कोटि का दार्शनिक विद्वान् पुराणों जैसी साधारण कोटि के ग्रंथों की रचना करे। किसी भी लेखक द्वारा रचित ग्रंथों में विषय, शैली, भाषा और अभिव्यंजना-विषयक समानतायें पाई जाती हैं। परन्तु पुराणों में विषय, शैली, और प्रतिपादनगत विरोधों को देखते हुए उन्हें एक ही व्यक्ति की रचना कैसे कहा जा सकता है?

कृष्ण-चरित के प्रसिद्ध मीमांसक बंकिमचन्द्र ने भी यही बात कही है। वे लिखते हैं—"वर्तमान अष्टादश पुराण एक मनुष्य के बनाये या एक ही समय विभक्त या संगृहीत हुए हैं, ऐसा मालूम नहीं पड़ता।

---

१. सत्यार्थप्रकाश, एकादश समुल्लास

यह पृथक्-पृथक् समय में संगृहीत हुए हैं।"[1] अपने इस कथन को सिद्ध करने के लिए उन्होंने निम्न प्रमाण दिये हैं—

(१) एक लेखक की लेखन-शैली एक-सी होती है, परन्तु पुराणों की लेखन-शैली में भिन्नता है।

(२) एक व्यक्ति एक ही विषय के अनेक ग्रंथ नहीं लिखता। जो अनेक ग्रंथ लिखता है वह एक ही विषय को बाँटकर वर्णन करने के लिए नहीं लिखता।

(३) एक ही लेखक की रचना में पारस्परिक विरोध की सम्भावना नहीं रहती। ये सब दोष पुराणों में न्यूनाधिक रूप में सर्वत्र मिलते हैं। अतः सिद्ध है कि पुराण एक ही व्यक्ति की रचना नहीं।"[2]

इस सम्बन्ध में प्रसिद्ध वैदिक विद्वान् डॉ० सम्पूर्णानन्द जी की सम्मति भी द्रष्टव्य है। वे लिखते हैं—"यह मानना कि सारे पुराण व्यास जी के कहे या लिखे हैं, व्यास जी का उपहास करना है। उनको ऐसी भोंडी बातों के लिए जो श्रुति, तर्क और इतिहास के विरुद्ध हैं, दायी बनाना अन्याय है। पुराणों का अन्तःसाक्ष्य बतलाता है कि वह न तो एक समय बने हैं, न एक व्यक्ति उनका रचयिता है।"[3]

इसका यह अर्थ नहीं है कि प्राचीन काल में 'पुराण' संज्ञावाले किन्हीं ग्रन्थों का अस्तित्व ही नहीं था। 'पुराण' का सर्वाधिक प्राचीन प्रयोग 'अथर्ववेद' में मिलता है,[4] परन्तु यहाँ उसका अभिप्राय किसी ग्रन्थ-विशेष से नहीं है। 'अथर्ववेद' के अतिरिक्त 'शतपथ ब्राह्मण', 'छान्दोग्य उपनिषद्', 'मनुस्मृति' आदि प्राचीन ग्रन्थों में भी पुराणों का उल्लेख मिलता है। स्वामी दयानन्द ने 'ब्राह्मणानीतिहासान् पुराणानि कल्पान् गाथा नाराशंसीरिति' इस ब्राह्मण-वचन को उद्धृत करते हुए लिखा है कि ऐतरेय, शतपथ, साम और गोपथ, इन ब्राह्मण-ग्रन्थों के ही इतिहास, पुराण, कल्प, गाथा और नाराशसी ये पाँच नाम हैं।[5] बंकिम ने भी

१. कृष्णचरित्र, पृ० ८६
२. वही, पृ० ८५
३. ब्राह्मण सावधान, पृ० २४, ज्ञानमण्डल काशी से प्रकाशित
४. ऋचः सामानि छंदांसि पुराण यजुषा सह।
उच्छिष्टा जज्ञिरे सर्वे देवा दिविश्रिता ॥—११।२७।२४
५. सत्यार्थप्रकाश, ११वाँ समुल्लास

ऋषि दयानन्द के ही मत का समर्थन करते हुए लिखा है—"पुराण का अर्थ पहले पुरातन था। पीछे पुरातन घटनाओं का वर्णन हुआ। 'शतपथ ब्राह्मण', 'गोपथ ब्राह्मण', 'छान्दोग्योपनिषद्', 'आश्वलायन सूत्र', 'अथर्व संहिता', 'बृहदारण्यक', 'महाभारत', 'रामायण', 'मानव धर्म-शास्त्र' में, जहाँ देखो पुराणों के होने की बात पाई जाती है। किन्तु इन सब ग्रन्थों में किसी में भी आजकल के पुराणों का नाम नहीं है।"[१]

बंकिम के मतानुसार शायद व्यास ने कोई मूल पुराण-संहिता बनाई थी और उसका अध्ययन उसने अपने शिष्यों को कराया था, परन्तु आज वह प्राप्त नहीं है। कालान्तर में आधुनिक अठारह पुराण ही व्यास के नाम से प्रसिद्ध हो गये।[२] वर्तमान में उपलब्ध पुराणों की नवीनता अनेक प्रमाणों से सिद्ध की जा सकती है। उपलब्ध पुराणों में बौद्ध, जैन, चार्वाक आदि उन मतों का भूतकालीन क्रियाओं में उल्लेख मिलता है[३] जो महाभारत-काल (व्यास के काल) के बहुत बाद में अस्तित्व में आये। इसी प्रकार शाङ्कर-मत का उल्लेख और खण्डन[४], चक्रांकित वैष्णव-मत का उल्लेख और खण्डन[५], पुरी के जगन्नाथ मंदिर का वर्णन, सोमनाथ, बनारस, रामेश्वर तथा मथुरा के मंदिरों का यवनों द्वारा तोड़े जाने के उल्लेख[६] इन पुराणों में हैं। निश्चय ही इन परवर्ती घटनाओं के विद्यमान होने से यह सिद्ध होता है कि पुराणों का रचनाकाल पर्याप्त अर्वाचीन है। 'भविष्यपुराण' तो सर्वथा नवीन ही है क्योंकि इसमें मुस्लिमकालीन ऐतिहासिक घटनायें उल्लिखित हुई ही हैं, अंग्रेजी राज्य की भारत में स्थापना, महारानी विक्टोरिया का शासन, १८५७ की हलचल तक का विवरण उपलब्ध होता है।

---

१. कृष्णचरित्र, पृ० ८८

२. विष्णुपुराण, ३।१८, श्लोक-सं० १२, १६, २४ व ३०, गीता प्रेस गोरखपुर का संस्करण।

३. विज्ञान भिक्षु कृत 'सांख्य प्रवचन भाष्य' में उद्धृत पद्मपुराण का निम्न श्लोक—
मायावादमसच्छास्त्रं प्रच्छन्नं बौद्धमेव च।
मयैव कथितं देवि कलौ ब्राह्मणरूपिणा॥

४. शंख चक्रे तापयित्वा यस्य देहः प्रदह्यते।
स जीवन् कुणपस्त्याज्यः सर्वकर्मबहिष्कृतः॥—लिंग पुराण

५. स्कन्दपुराण

६. पद्म पुराण

उक्त विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि उपलब्ध पुराणों को न तो व्यास-रचित ही माना जा सकता है और न उनकी विश्वसनीयता ही स्थापित होती है। वस्तुत: समय-समय पर शैव, वैष्णव, शाक्त, सौर, गाणपत्य आदि सम्प्रदायों के प्रभाव को बढ़ाने तथा शिव, विष्णु, देवी, सूर्य तथा गणपति आदि पौराणिक देवताओं को सर्वोपरि पूज्य सिद्ध करने की दृष्टि से ही इनकी रचना हुई है। ऐसी स्थिति में कृष्ण-चरित की समालोचना करते समय पुराणों का आश्रय लेना लाभप्रद नहीं है। 'हरिवंश' को यद्यपि 'महाभारत' का परिशिष्ट कहा गया है, परन्तु रचना-प्रणाली में पुराणों के तुल्य ही होने से उसकी स्थिति भी अन्य पुराणों से भिन्न नहीं है।

कृष्ण के जीवन को निबद्ध करने की दृष्टि से 'श्रीमद्भागवत' का महत्त्व प्राय: स्वीकार किया जाता है। परन्तु 'भागवत' संज्ञा को लेकर वैष्णवों और शाक्तों में बड़ा भारी झगड़ा है। बंकिम के शब्दों में "भागवत के पुराण होने के बारे में बड़े झगड़े हुए हैं। शाक्त कहते हैं, यह पुराण ही नहीं है। 'देवी भागवत' ही 'भागवत पुराण' है। वे लोग 'भगवत इदं भागवतं' न कहकर 'भगवत्या इदं भागवत' यह अर्थ करते हैं।"[१] 'स्कन्दपुराण' के अनुसार तो भगवती कालिका का माहात्म्य जिसमें वर्णित हुआ है तथा जिसमें उनके द्वारा नाना दैत्यों का वध वर्णित है, वही 'भागवत' ग्रन्थ है। कलियुग में कोई धूर्त, दुरात्मा, वैष्णवमन्य व्यक्ति 'भागवत' के नाम से दूसरा ग्रन्थ बना लेंगे।[२]

अन्य पुराणों की अपेक्षा 'श्रीमद्भागवत' भी अर्वाचीन है। काव्य की ललित शैली में लिखा गया होने के कारण यह गुप्तकाल में रचा गया माना जा सकता है। बंकिम इस सम्बन्ध में लिखते हैं—" 'भागवत' में भी बहुत-सी पुरानी बातें हैं। परन्तु उसमें नई भी बहुत-सी मिलाई गई हैं। जो पुरानी हैं वे भी नोन-मिर्च लगाकर चरपरी कर दी गई हैं। 'भागवत' अन्य पुराणों से नया मालूम होता है। अगर ऐसा न होता तो इसके पुराण होने के बारे में इतना झगड़ा क्यों उठता ?"[३]

१. श्रीकृष्ण चरित्र, पृ० ६६

२. भगवत्या: कालिकाया माहात्म्यं यत्र वर्ण्यते।
नाना दैत्य वधोपेतं तद्वै भागवतं विदु:॥
कलौ किञ्चिद दुरात्मानो धूर्ता वैष्णवमानिन:।
अन्या भागवतं नाम कल्पयिष्यन्ति मानवा:॥

३. श्रीकृष्ण चरित्र, पृ० १००

इस प्रकार पर्याप्त अर्वाचीन होने, साम्प्रदायिक पूर्वाग्रहयुक्त होने तथा ऐतिहासिक दृष्टि से अविश्वसनीय होने के कारण पुराणों से कृष्ण-चरित के वास्तविक चरित की समालोचना में कुछ अधिक सहायता नहीं मिल सकती। तब एकमात्र 'महाभारत' ही ऐसा ग्रन्थ बच रहता है जो कृष्ण-चरित के लिए प्रामाणिक उपादान-सामग्री प्रस्तुत करता है।

अतः कृष्ण के आप्त-चरित का अनुसंधान 'महाभारत' की सहायता से ही करना होगा। पुराणों में कृष्ण-विषयक संदर्भों की चर्चा और आलोचना यथा-स्थान अवश्य की जायगी। पुराणों की प्रामाणिकता के सम्बन्ध में बंकिम की स्थिति नितान्त विषम और चिन्तनीय हो गई है। इसका कारण यह है कि यद्यपि वे 'महाभारत' की तुलना में पुराणों को अधिक गुरुता प्रदान नहीं करते, परन्तु स्वामी दयानन्द सरस्वती की भाँति वे पुराणों के प्रमाण का सर्वांश में तिरस्कार करने की स्थिति में भी नहीं हैं। फलतः उन्हें पुराणों की कृष्ण-विषयक अनेक असंगत और मिथ्या कथाओं की संगति और औचित्य सिद्ध करने का दुरूह कार्य भी करना पड़ा, यद्यपि इसके लिए उनकी अन्तरात्मा गवाही देती प्रतीत नहीं होती। परिणाम यह हुआ कि उनकी विवेचना कहीं-कहीं 'वदतोव्याघात'-दोष से दूषित हो गई है। कृष्ण-चरित के वास्तविक मूल्यांकन के लिए हमें पुराणों के प्रामाण्य को सर्वथा अस्वीकार करना होगा, तभी हम अनेक क्लिष्ट कल्पनाओं से मुक्ति पाकर अपने चरित-नायक का निर्मल, मानवोचित एवं स्वाभाविक चित्रण कर सकेंगे।

अस्तु, अब हम अपने प्रकृत विषय पर आते हैं।

अध्याय ६

वंश-परिचय

कृष्ण यदुवंशी थे। भागवत पुराण के अनुसार यदु महाराज ययाति के पुत्र थे। यह वंश अत्रि से आरम्भ होता है। अत्रि के पुत्र चन्द्रमा कहे गये हैं। इन्हीं से इस वंश का नाम चन्द्रवंश प्रसिद्ध हुआ। ययाति तक की वंश-परम्परा इस प्रकार है—अत्रि-चन्द्र-बुध-इला-पुरुरवा-आयु-नहुष-ययाति।

ययाति के शर्मिष्ठा और देवयानी नामक दो रानियाँ थीं जिनसे उसे पाँच पुत्र उत्पन्न हुए। शर्मिष्ठा से द्रुह्य, अनु और पुरु। देवयानी से यदु और तुर्वसु। पुरु के वंश में दुष्यन्त, भरत, कुरु आदि विश्व-प्रसिद्ध राजा हुए। दुर्योधन, युधिष्ठिर आदि पौरव इसी पुरु के वंशज थे। कृष्ण और यादव यदु की संतान थे। 'हरिवंश' के विष्णु-पर्व में यादवों को इक्ष्वाकुवंशी बताया गया है।

कृष्ण के वंश का विवेचन करते हुए बंकिमचन्द्र बड़ी कठिनाई में पड़ गये। 'ऋग्वेद' में उन्हें ययाति, नहुष[1], यदु, तुर्वसु[2] आदि अनेक ऐतिहासिक दीख पड़नेवाले नाम दृष्टिगोचर हुए। उनके लिए समस्या यह थी कि यदि वेद-कथित ये नाम इतिहास की व्यक्तिवाचक संज्ञायें हैं तो बहुत परवर्ती पुराणों में वर्णित इन्हीं नामों से अभिहित होनेवाले व्यक्तियों से उनकी संगति या सामंजस्य कैसे स्थापित किया जाय? यद्यपि वेदोक्त पुरुरवा-उर्वशी के कथानक तथा विष्णु के त्रिपादों जैसे वैदिक रूपकों का स्पष्टीकरण करते समय उन्होंने यह स्वीकार किया है कि "वेदों में रूपक का बीज अत्यन्त सूक्ष्म रूप में मिलता है, उसी को पुराणों में उपन्यास के ढंग पर नमक-मिर्च लगाकर बहुत नवीन रूप दे दिया गया है।"[3]

---

१. ऋग्वेद, १०।४९।८

२. ऋग्वेद, १०।४९।८, १०।६२।१०, १।३६।१८

३. श्रीकृष्ण चरित्र, 'इतिहास का पूर्वापर-क्रम' शीर्षक परिच्छेद

बात यह है कि वेद में लौकिक इतिहास की सत्ता स्वीकार करने के कारण ही उनके समक्ष यह कठिनाई आई है और इसका कारण वेदार्थ करने की प्राचीन नैरुक्त पद्धति से अनभिज्ञता है। भारतीय मत-विश्वास के अनुसार वेद अनादि ईश्वरीय ज्ञान हैं तथा उनमें किसी प्रकार का लौकिक इतिहास नहीं है। महर्षि यास्क ने अपने 'निरुक्त-शास्त्र' में यह माना है कि वेद के सब पद यौगिक हैं, अतः उनका व्युत्पत्ति-लभ्य अर्थ (Root meaning) ही ग्रहण किया जाना चाहिए। यास्क-प्रतिपादित इसी वेदार्थ-शैली को स्वीकार कर प्राचीन वेद-भाष्यकारों ने वेदार्थ को स्फुट करने का प्रयास किया है। यह दूसरी बात है कि सायण आदि अनेक मध्यकालीन भाष्यकारों ने सर्वांश में यास्क द्वारा निर्धारित वेदार्थ-प्रक्रिया का परिपालन नहीं किया और यत्र-तत्र वेद में लौकिक इतिहास—व्यक्तियों, स्थानों, नदी, पर्वत आदि—के विशिष्ट नामों तथा उनसे सम्बन्धित लौकिक इतिहास-परक आख्यानों का वेदों में उल्लेख कर उसके मौलिक रूप को विकृत कर दिया है। यदि पुरातन आर्य-विश्वास के अनुसार वेदों को परमात्मा का अनादि ज्ञान स्वीकार कर लिया जाता है तो बंकिमचन्द्र ने जिन मंत्रों में यदु, तुर्वसु और नहुष आदि भारतीय इतिहास के राजाओं के तथाकथित इतिवृत्त को तराशा है, वह मिथ्या सिद्ध हो जायगा। यह अवश्य है कि लोक में व्यक्तियों तथा पदार्थों को जो भिन्न-भिन्न नाम दिये जाते हैं अथवा पूर्वकाल में दिये गये थे, वे नाम मूलतः वेदों में यौगिक अर्थ में उपलब्ध होते हैं। विभिन्न शास्त्रीय प्रमाणों के आधार पर इसे सिद्ध किया जा सकता है।[1] वेदार्थ के इस रहस्य को न समझने

१. सर्वेषां तु स नामानि कर्माणि च पृथक्-पृथक्।
वेद शब्देभ्यः एवादौ पृथक् संस्थाश्च निर्ममे॥—मनु० १।२१
ऋषीणां नामधेयानि याश्च, वेदेषु सृष्टयः।
नानारूपं च भूतानां कर्मणां च प्रवर्तनम्॥
वेद शब्देभ्यः एवादौ निर्मिमीते स ईश्वरः।
शर्वयन्ते सुजातानामन्येभ्यो दिदधात्यजः॥
—महाभारत, शान्तिपर्व, २३२।२५,२६
नामरूपं च भूतानां कृत्यानां च प्रपञ्चनम्।
वेद शब्देभ्यः एवादौ देवादीनां चकार सः॥
ऋषीणां नामधेयानि यथा वेद श्रुतानि वै।
तथा नियोग योग्यानि ह्यन्येषामपिऽकरोत्॥—विष्णु पुराण, १।५।६४,६५

के कारण ही बंकिम को ऋग्वेद में कृष्ण के पूर्वज यदु आदि राजाओं का इतिहास दृग्गोचर हुआ। कहीं वे यदु को अनार्य राजा बता बैठे हैं और इतिहास-प्रसिद्ध 'यदु' से उसकी संगति बिठाने में अपने-आपको असमर्थ पाते हैं। वस्तुतः वेद में उल्लिखित यदु और न हुए आदि पदों का एतन्नाम्ना ऐतिहासिक पुरुषों से दूर का भी सम्बन्ध नहीं है।

* वेद एव हि सर्वेषामादर्शः सर्वदा स्थितः।
शब्दानां तत् उद्धृत्य प्रयोगः सम्भविष्यति॥

—कुमारिल-कृत तंत्र-वार्तिक, पृ० २०६

बंकिम भी शास्त्रकारों के इस मत से सहमत प्रतीत होते हैं। तभी तो वे लिखते हैं—"आधुनिक काव्य-ग्रन्थों से लेकर लोग अपने-अपने पुत्र और कन्याओं के नाम जैसे प्रमिला, मृणालिनी आदि आजकल रखते हैं, वैसे ही उस समय के लोगों का भी वेदों से अपनी सन्तानों का नामकरण असम्भव नहीं है।

—श्रीकृष्ण चरित्र, पृ० २६४

अध्याय ७

जन्म

मथुरा के यादव शूरसेन के पुत्र वसुदेव का विवाह देवक की कन्या देवकी के साथ हुआ। देवक उग्रसेन के भाई थे जो मथुरा के राजा तथा कंस के पिता थे। इन्हीं वसुदेव और देवकी के पुत्र कृष्ण थे जिनका जन्म लगभग ५ सहस्र वर्ष पूर्व भाद्रपद कृष्णा अष्टमी की रात्रि को रोहिणी नक्षत्र में उस समय हुआ जबकि आकाश में घोर पर्जन्य-वृष्टि और विद्युत्-गर्जना हो रही थी। कृष्ण-जन्म का मूल इतिवृत्त इतना ही है।

पुराणों में इसका विस्तार इस प्रकार मिलता है कि वसुदेव देवकी से विवाह कर लौट रहे थे और देवकी का चचेरा भाई कंस उनका रथ हाँक रहा था। उस समय आकाशवाणी हुई कि देवकी की आठवीं सन्तान के हाथों कंस का वध होगा। इसपर कंस वहीं देवकी को मारने के लिए तैयार हो गया। वसुदेव ने उसे समझाया कि वह अज्ञानवश भगिनी की हत्या न करे और वह अपनी सब सन्तानें जन्मते ही उसके हवाले कर देगा। कंस ने वसुदेव का यह सुझाव मान लिया और बहन-बहनोई को कारावास में रखकर उनके संतान होने की प्रतीक्षा करने लगा। कारागृह में देवकी के छः सन्तानें उत्पन्न हुईं जो पूर्व-प्रतिज्ञा के अनुसार कंस को सौंपी गईं। कंस ने उन्हें तुरन्त मार डाला। सातवें पुत्र का गर्भ में ही नष्ट हो जाने का उल्लेख है, परन्तु पुराणों की कथा के अनुसार विष्णु की योगमाया ने उसे वसुदेव की दूसरी पत्नी रोहिणी के गर्भ में डाल दिया। यही पुत्र आगे चलकर बलराम के नाम से प्रसिद्ध हुआ।

देवकी के आठवें गर्भ से कृष्ण उत्पन्न हुए। वसुदेव उन्हें रातों-रात गोकुल में नन्द के यहाँ रख आये और उनकी सद्योजात पुत्री को लाकर देवकी के पास रख दिया। 'ब्रह्मपुराण' तथा 'विष्णुपुराण' में लिखा है कि कर चुकाने के लिए नंद आदि गोप स्वयं उस समय मथुरा

आये हुए थे और यमुना-किनारे ठहरे थे। दूसरे दिन देवकी के कन्या जन्म लेने का समाचार कंस को मिला तो वह पूर्व की भाँति कारागार में गया और उस नवजात बालिका को प्रस्तर-शिला पर पटककर मारने लगा, परन्तु वह कन्या कंस के मारनेवाले के उत्पन्न हो जाने की घोषणा करती हुई आकाश में चली गई। इसपर कंस की निराशा की कोई सीमा नहीं रही। हाँ, उसने बहन और बहनोई को निर्दोष जानकर मुक्त अवश्य कर दिया।

'महाभारत' में इन घटनाओं का संकेत-मात्र भी नहीं है। इनमें से अधिकांश बातें असम्भव होने से मिथ्या कोटि में आ जाती हैं। सार इतना ही है कि कंस के अत्याचारों से यादव बड़े दुःखी रहते थे। उन्हें अपने धन, स्त्री, पुत्र आदि के अपहरण का सदा भय लगा रहता था। इसलिए वसुदेव ने अपनी स्त्री रोहिणी और पुत्र कृष्ण को नंद गोप के यहाँ भेज दिया। कृष्ण गोकुल के ग्राम्य वातावरण में पलने लगे।

अध्याय ८

बाल्यकाल की घटनाएँ

पुराणों में कृष्ण के बाल्यकाल की अनेक घटनाओं का वर्णन मिलता है, परन्तु इनमें से अधिकांश असम्भव और अस्वाभाविक होने के कारण कृष्ण-चरित के वास्तविक मूल्यांकन में किसी प्रकार का महत्त्वपूर्ण योग नहीं देतीं। इनका अध्ययन इस दृष्टि से मनोरंजक हो सकता है कि तिल का ताड़ बना देने में पुराण-लेखक कितने सिद्ध-हस्त थे। बाल्य जीवन की किसी भी सम्भव या असम्भव घटना को अलौकिकता का रंग देकर कृष्ण के ईश्वरावतार होने की पुष्टि करना ही इन ग्रन्थकारों का उद्देश्य है। इन घटनाओं की आलोचना निम्न क्रम से की जायगी—

१. पुराणोल्लिखित घटना का स्थूल वर्णन।

२. घटना की सम्भवता अथवा असम्भवता पर विचार।

३. 'महाभारत' में आलोच्य घटना का उल्लेख यदि है तो किस रूप में।

४. बंकिम द्वारा आलोच्य घटना की रूपकात्मक व्याख्या का औचित्य-निर्णय।

अब हम इन घटनाओं पर क्रमशः विचार करेंगे।

पूतना-वध—'भागवत', 'विष्णु' तथा 'ब्रह्मपुराण' में पूतना-वध का उल्लेख सर्वप्रथम हुआ है। कृष्ण-वधार्थ कंस द्वारा भेजी गई पूतना नाम की राक्षसी सुन्दर स्त्री-वेश धारण कर नन्द के घर आई और प्यार से कृष्ण को गोद में लेकर स्तनपान कराने लगी। कृष्ण इस आततायिनी राक्षसी का आशय समझ गये और उन्होंने इतने जोर से उसके स्तनों को मुँह में दबाकर खींचा कि उसके प्राण ही निकल गये। मरते समय पूतना ने अपना वास्तविक रूप धारण कर लिया। उसके शरीर का विस्तार छः कोस का हो गया।[1] 'भागवत' की इस असम्भव

१. भागवत, दशम स्कन्ध, पूर्वार्द्ध, अध्याय ६

गाथा पर ऋषि दयानन्द ने ठीक ही लिखा है, "यदि पूतना का शरीर वास्तव में इतना बड़ा होता तो मथुरा और गोकुल दोनों दबकर पोप जी का घर भी दब गया होता।"[१] यह तो कथा का स्थूल कंकाल-मात्र है। अब इसके उद्गम का पता लगाना चाहिए, तभी इसकी वास्तविकता का पता चलेगा।

'महाभारत' के शिशुपाल-वध प्रकरण में पूतना-वध की चर्चा हुई है।[२] 'विष्णु पुराण' में पूतना को बालघातिनी कहा है।[३] 'हरिवंश' ने उसे कंस की धात्री बताया है जो पक्षी बनकर आई थी।[४] 'ब्रह्मवैवर्त-पुराण' में पूतना कंस की बहन बताई गई है। भागवतकार ने इस घटना का जैसा उल्लेख किया है, वह पहले ही दिया जा चुका है। 'पूतना' सूतिका-गृह का एक रोग भी होता है जिसके विषय में कहा जाता है कि बालक के ज़ोर से दुग्ध-पान करने से वह नहीं रहता।

'योगेश्वर कृष्ण' के लेखक पं० चमूपति ने अपने ग्रन्थ में 'विष्णु-पुराण' की घटना का ही समर्थन किया है। उनके अनुसार "पूतना एक स्त्री थी, जिसका दूध पीते ही बच्चे मर जाते थे। जैसा उसके नाम से प्रतीत होता है, उसके स्तनों में कोई विषैली ग्रन्थि रही होगी। अपनी स्वाभाविक दुष्टता के कारण उसने एक रात कृष्ण को गोदी में लेकर अपना स्तन उनके मुख में दे दिया। कृष्ण ने उसका स्तन मुँह में लेने के बजाय दोनों हाथों में लेकर ज़ोर से भींच लिया। इससे विषैली ग्रन्थि निकल गई। फिर जो उन्होंने मुँह में लेकर बलपूर्वक चूसा तो रक्तस्राव बड़े वेग से आरम्भ हो गया। पूतना चीखें मार-मारकर वहीं मर गई। बालक ने रक्त को तो क्या पीना था, थूक ही दिया होगा। परन्तु इससे स्राव की क्रिया झट शुरू हो गई जो पूतना की मृत्यु का कारण हुई।"[५] अब यहाँ दो सम्भावनायें दिखाई

१. सत्यार्थप्रकाश, एकादश समुल्लास

२. महाभारत, सभापर्व, अध्याय ४१ में शिशुपाल की उक्ति—
पूतनाघात पूर्वाणि कर्माण्यस्म विशेषतः।
त्वया कीर्तयतास्माकं भूयः प्रव्यथितं मनः॥—४

३. अंश ५, अध्याय ५।७,८

४. कस्यचित्त्वद्य कालस्य शकुनि वेशधारिणी।
धात्री कंसस्य भोजस्य पूतनेति परिश्रुता॥—विष्णुपर्व, ६।२२

५. योगेश्वर कृष्ण, पृ० १४-१५

देती हैं। या तो 'विष्णुपुराण' के अनुसार पूतना को मारना स्वीकार किया जाय या सुश्रुत के प्रमाणानुसार पूतना को रोग-विशेष मानकर इस कथा को आलंकारिक मान लिया जाय। हमें 'विष्णुपुराण' का ही कथन उचित प्रतीत होता है क्योंकि आगे शिशुपाल ने कृष्ण के लिए स्त्रीघातक शब्द का प्रयोग किया है।[1] कृष्ण के जीवन में पूतना को छोड़कर अन्य किसी स्त्री को मारने का उल्लेख नहीं है। अतः पं० चमूपति का कथन ही समीचीन है कि कृष्ण ने बालघातिनी पूतना को मारा। 'विष्णुपुराण' का यह कथन 'भागवत' की तुलना में अतिरंजित भी नहीं है।

शकट-भंजन—'भागवत' के अनुसार यशोदा ने एक बार एक छकड़े के नीचे कृष्ण को सुला दिया। कृष्ण के लात मार देने से वह उलट गया।[2] यही शकट-भंजन की कथा है। 'महाभारत' में शिशुपाल इसका संकेत यों करता है—"और भी यदि इसने अचेत लकड़ी की गाड़ी पाँव से गिराई हो तो भला कौन-सा बड़ा काम किया?"[3] शिशुपाल ने ठीक ही कहा। छकड़े को लात मारकर गिरा देने में भला कौन-सी बहादुरी है?

बंकिम को इस प्रसंग में ऋग्वेद का एक संदर्भ स्मरण हो आता है जिसमें इन्द्र के द्वारा उषा का शकट-भंजन किया जाता है और इस आधार पर वे यह कहते कि हैं कृष्ण की लीलाओं में वेदों के अनेक उपाख्यान भी येन-केन-प्रकारेण मिश्रित हो गये हैं। वस्तुस्थिति तो यह है कि वेद में कृष्ण की बाल-लीलाओं का उल्लेख देखना ही दूर की कौड़ी लाना है।

यशोदा की गोद में कृष्ण का विश्वम्भर-मूर्ति धारण करना भी 'भागवत' की कपोल-कल्पना है। इसका उल्लेख न तो 'ब्रह्मपुराण' में है और न 'विष्णुपुराण' में, 'महाभारत' की तो बात ही क्या! अवतार-वाद की प्रतिष्ठा के लिए ही ऐसी चमत्कारपूर्ण कथायें गढ़ी जाती हैं।

तृणावर्त-वध—'भागवत' में लिखा है कि तृणावर्त नामक असुर

१. गोघ्नः स्त्रीघ्नश्च सन् भीष्म त्वद्वाक्याद् यदि पूज्यते।
एवं भूतश्च यो भीष्म कथं संस्तवमर्हति॥ —सभापर्व, ४१।१६

२. भागवत, १०।७; विष्णु पुराण, ५।६

३. चेतनारहितं काष्ठं यद्यनेन निपातितम्।
पादेन शकटं भीष्म तत्र किं कृतमद्भुतम्॥—सभापर्व, ४१।८

कृष्ण को लेकर आकाश में उड़ गया।[1] इस घटना को पढ़ने से ऐसा प्रतीत होता है मानो तृणावर्त के व्याज से पुराणकार वात्याचक्र (बवंडर) का उल्लेख कर रहा है। वायु के तीव्र प्रवाह में किसी नन्हे बालक का उड़ जाना असम्भव तो नहीं है, परन्तु यह कथा कल्पित है। 'विष्णुपुराण' तथा 'ब्रह्मपुराण में' इसका कोई संकेत नहीं है।

कृष्ण के मिट्टी खा लेने पर यशोदा उसके मुख को खोलकर देखती है तो उसे मुख में समस्त ब्रह्माण्ड दिखाई देते हैं।[2] यह कथा भी 'भागवत' की असत्य कल्पना है। अन्य पुराणों में इसका उल्लेख नहीं है।

यमलार्जुन-उद्धार—शरारत करने के कारण एक दिन कृष्ण ऊखल से बाँध दिये गये। वे उस ऊखल को लुढ़काते-लुढ़काते ले चले और अर्जुन वृक्षों के एक युग्म के निकट पहुँचे। वृक्षों की जड़ों में ऊखल अटक गया और वृक्ष टूट गये।[3] यहाँ तक तो असम्भव जैसी कोई बात नहीं दिखाई देती। अर्जुन के वृक्ष साधारणतया छोटे ही होते हैं और उनका इस प्रकार टूट जाना भी सम्भव है। परन्तु भागवतकार को इतने से ही संतोष नहीं होता। यमलार्जुन के विगत जीवन का उल्लेख करते हुए उन्हें कुबेर के शापित पुत्र बताया और कहा कि कृष्ण के चरणों का स्पर्श पाकर ये शप्त वैश्रवण-पुत्र मुक्त हो गये। यह स्पष्ट ही अतिरंजना है, क्योंकि 'विष्णुपुराण' में इस घटना का उल्लेख होने पर भी अर्जुन के वृक्षों को शापग्रस्त कुबेर-पुत्र नहीं माना है और उनके शाप-मोचन का ही वर्णन है। इस सीधी सरल कथा का संकेत 'महा-भारत' के शिशुपाल-वध प्रकरण में भी है।[4]

कृष्ण द्वारा दूध, दही और मक्खन चुराना—बाल्यकाल में कृष्ण दूध, दही, मक्खन आदि पदार्थों के बड़े प्रेमी थे। गोपियों के घर में घुस जाना और वहाँ से मक्खन आदि चुरा लेना उनके बायें हाथ का खेल था। मक्खन चुराने के लिए कृष्ण बड़े बदनाम हैं। कृष्ण-चरित्र में प्रवेश पानेवाली विकृतियों में एक बड़ी विकृति उन्हें माखनचोर घोषित करना भी है। 'भागवत' में ही इसकी धूम है।[5] 'विष्णुपुराण'

---

१. भागवत, १०।७

२. भागवत, १०।८

३. भागवत, १०।१०; विष्णु पुराण, ५।६

४. अर्कप्रमाणौ तौ वृक्षौ यद्यनेन निपातितौ।—सभापर्व, ४१।६

५. भागवत, १०।१०

तथा 'महाभारत' में माखनचोरी-सम्बन्धी घटनाओं का बीज-मात्र भी नहीं है। वस्तुतः यह आरोप उतना गम्भीर भी नहीं है जितना इसे बढ़ा-चढ़ाकर दिखाया जाता है। बालकों को धर्माधर्म का ज्ञान नहीं होता और न उन्हें स्व-पर का ही बोध होता है। ऐसी दशा में यदि कृष्ण ने बाल्यावस्था में मक्खन आदि की चोरी की तो उसे नैतिक दृष्टि से अनुचित नहीं ठहराया जा सकता। नीतिशास्त्र के सूक्ष्म नियम बालकों पर लागू भी नहीं होते, क्योंकि उनकी नैतिक धारणायें अविकसित होती हैं। परन्तु माखनचोरी का प्रसंग भागवतकार के कल्पना-विलास के अतिरिक्त कुछ नहीं है। मक्खन चुराकर बन्दरों को बाँट देना कृष्ण की परोपकार-वृत्ति का द्योतक है जिसे स्पृहणीय ही कहा जायगा।

बंकिम ने इस प्रश्न को एक अन्य पहलू से देखा है। वे कृष्ण को भगवान् का साक्षात् अवतार मानते हैं। उन्हें यह कैसे स्वीकार्य होता कि आदर्श-स्थापन के लिए मानव-शरीर धारण करनेवाले भगवान् स्वयं चोरी करें और लोक के समक्ष स्तेय-वृत्ति को प्रोत्साहन दें? कृष्ण तो स्वयं गीता में कहते हैं—

यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः।
स यत् प्रमाणं कुरुते लोकस्तदनुवर्तते॥—३।२१

'श्रेष्ठ पुरुष जो आचरण करता है अन्य पुरुष भी उसके अनुसार ही वर्तते हैं।' ऐसा पुरुष जिसे प्रमाण करता है, लोग भी उसका ही अनुवर्तन करते हैं। वास्तव में कृष्ण को साक्षात् ईश्वर समझनेवालों के लिए यह प्रश्न चुनौती-भरा है। बंकिम का समाधान है कि ईश्वर के लिए कोई वस्तु अपनी या पराई नहीं है। सारा जगत् ही उसका है, इसलिये चोरी का कोई आक्षेप उनपर नहीं आता।[1] परन्तु हमारे विचार से यह कोई संतोषजनक उत्तर नहीं है। भले ही सारा संसार ईश्वर का हो, किन्तु लोकादर्श को प्रतिष्ठित करने के लिए अवतार धारण करनेवाले कृष्ण यहाँ जगत् के समक्ष पर-वस्तु-हरण (चोरी) के अतिरिक्त और कौन-सा आदर्श स्थापित कर रहे हैं?

अच्छा होता यदि बंकिम ईश्वरावतार की कल्पना को छोड़कर अपनी विवेचना को यहीं तक सीमित रखते कि धर्माधर्म तथा स्व-पर के ज्ञान से शून्य चपल स्वभाववाले बालक यदि कोई जाने-अनजाने

१. कृष्ण चरित्र, पृ० १२२

अपराध कर बैठें तो उसमें दोष नहीं माना जा सकता, क्योंकि इस अवस्था तक बालक में कर्त्तव्याकर्त्तव्य-बुद्धि ही जागृत नहीं होती।

परन्तु कृष्ण के भक्तों को इससे भला क्यों संतोष होने लगा? परवर्ती संस्कृत-हिन्दी काव्यों तथा मध्यकालीन साकारोपासक भक्त कवियों के ग्रन्थों में माखनचोरी का यह वर्णन अतिशयोक्ति की चरम सीमा तक पहुँच जाता है और परोक्ष दृष्टि से देखें तो उससे लोक-संग्रह के आदर्श की महती हानि हुई है। पौराणिक विद्वान् अपनी सम्पूर्ण बुद्धि एवं चातुर्य लगाकर इस चोरी के आरोप की बुद्धिवादी शैली से व्याख्या करना चाहते हैं, परन्तु इसमें उन्हें सफलता मिलनी तो दूर रही, उल्टे यह विकृति भयंकर रूप धारण कर अपना कुसंस्कार लोगों के हृदय-पटल पर छोड़ जाती है।

लेखक को एक कृष्ण-जन्माष्टमी-महोत्सव का स्मरण हो रहा है। पंजाब के प्रसिद्ध सनातन धर्मी नेता प्रो० वसिष्ठ जोधपुर के एक मंदिर[1] में कृष्ण-जन्म के उपलक्ष्य में भाषण दे रहे थे। माखन-चोरी के प्रसंग की चर्चा करते हुए आपने कहा—"लोग कृष्ण को माखन-चोरी के लिए बदनाम करते हैं और कहते हैं कि कृष्ण ने चोरी की। हाँ, ठीक ही तो है! कृष्ण चोर ही थे। वेद में तो भगवान् को चोरों-तस्करों का स्वामी बताया है—'तस्कराणां पतये नमः'[2] अरे, भगवान् तो चोरों का सरदार है।" इतना कहकर अपने कथन की पुष्टि में सभा में ही उपस्थित पंजाब के एक आर्य-नेता चौधरी वेदव्रत जी की ओर अभिमुख होकर कहने लगे—"आपको मेरी बात पर विश्वास न हो तो सामने बैठे वेदों के प्रकाण्ड विद्वान् पं० वेदव्रत जी से पूछ लीजिये। क्या वेद में भगवान् को 'तस्करों का पति' कहकर उसे नमस्कार नहीं किया गया है?" प्रो० वसिष्ठ के इस वाक्-छल को सुनकर मैं अवाक् रह गया। वेद से अनभिज्ञ सामान्य श्रोतृवर्ग को बहकाने और वेद से कृष्ण की स्तेय-वृत्ति सिद्ध करने का कैसा छल-पूर्ण प्रयास है। 'वस्तुतः 'तस्कराणां पतये नमः' यजुर्वेद के रुद्राध्याय का अंश है और यहाँ 'नमः' का वह अर्थ नहीं है जो वक्ता ने लिया। नमः के अनेक अर्थों में एक अर्थ दण्डित करना भी है। अतः नैरुक्त-प्रक्रिया के आधार पर 'तस्कराणां पतये नमः' का अर्थ चोरों के स्वामी को नमस्कार करना

---

१. कुञ्जबिहारी (कृष्ण) का यह मन्दिर जोधपुर के मुख्य बाजार में स्थित है।
२. यजुर्वेद, १६।२१

न होकर रुद्र-न्यायाधीश द्वारा उसे दण्डित करना ही माना जायगा। वेद का वास्तविक अभिप्राय न जानकर अथवा जान-बूझकर उसे छिपाकर उसका दूषित-अर्थ करना और उससे कृष्ण पर लगाये गये पुराणकारों के मिथ्या आक्षेपों को सिद्ध करना कथमपि न्यायसंगत नहीं कहा जा सकता। ऐसा करने से न तो पुराणों की प्रतिष्ठा ही बचती है और न कृष्ण के प्रति किये गये पौराणिक ग्रन्थकारों के अन्याय का ही परिमार्जन होता है।

कृष्ण के गोकुल-निवास की कथायें इतनी ही हैं।

अध्याय ६

वृन्दावन-गमन

गोकुल में उत्पातों के बढ़ जाने के कारण नंद आदि गोप परिवार-सहित वृन्दावन चले गये।[1] 'विष्णुपुराण' और 'हरिवंश' में वृन्दावन जाने का कारण भेड़ियों का उत्पात बढ़ जाना बताया गया है।[2]

वृन्दावन-निवास-काल की घटनायें

'भागवत' के अनुसार कृष्ण ने यहाँ आकर वत्सासुर, बकासुर और अघासुर[3] नामक तीन दैत्यों का वध किया। इनमें से प्रथम गोवत्स का रूप धारण कर आया था तथा अन्य दो, पक्षी और सर्प के रूप में थे। कृष्ण-जैसे प्रतापी बालक का अपने साथी ग्वाल-बालकों की रक्षा करने के लिए ऐसे उपद्रवी पशुओं को मारना कोई आश्चर्य की बात नहीं है, परन्तु ये सारी कथायें 'भागवत' के अतिरिक्त किसी भी अन्य ग्रन्थ में उल्लिखित नहीं हैं, अतः इनकी प्रामाणिकता भी संदेहास्पद है। बंकिम को पुराण-कथित कल्पित उपाख्यानों की रूपकाधारित व्याख्या करना बड़ा प्रिय लगता है। अतः वे वत्स, अघ तथा बक जैसे शब्दों का धात्वर्थ कर इन राक्षसों से 'निंदक', 'पाप' तथा 'कुटिल शत्रु' का अर्थ ग्रहण करते हैं। वस्तुतः यह क्लिष्ट कल्पना ही है क्योंकि जब भागवतकार वत्स, बक और अघ को राक्षस ही मानता है तो उन्हें प्रतीकात्मक अर्थ देना 'मुद्दई सुस्त, गवाह चुस्त' वाला मामला हो जाता है। वस्तुतः पुराण-लेखक तो ऐसी राक्षस-वध की अलौकिक घटनाओं को अंकित कर कृष्ण को भगवदावतार घोषित करने तथा उनमें अलौकिक शक्तियों का उन्मेष दिखाने का प्रयत्न करते हैं।

इन घटनाओं के पश्चात् 'भागवत' में ब्रह्मा द्वारा कृष्ण की परीक्षा लेने का उल्लेख है। ब्रह्मा कृष्ण के साक्षी ग्वालों तथा उनके गाय-बछड़ों

१. भागवत, दशम स्कन्ध, पूर्वार्द्ध, अ० ११।१२
२. विष्णुपुराण, ५।६
३. भागवत, १०।१२

को चुराकर ले जाते हैं। कृष्ण उनके स्थान पर स्वशक्ति से अन्य ग्वालों तथा गो-वत्सों की रचना कर लेते हैं। 'भागवत' की एक अन्य विसंगति की ओर स्वामी दयानन्द ने हमारा ध्यान आकृष्ट किया है। यद्यपि नारायण (विष्णु) ने ही द्वितीय स्कन्ध में ब्रह्मा को यह वरदान दिया था—"भगवान् कल्प-विकल्पेषु न विमुह्यति कर्हिचित्।"[1] अर्थात् 'आप सृष्टि और प्रलय में कभी भी मोह को प्राप्त नहीं होंगे।' परन्तु लेखक इस वर की बात को भूल गया और यहाँ दशम स्कन्ध में आते-आते ब्रह्मा पुनः विष्णु-माया से मोहित हो गये तथा कृष्ण के वत्सों का हरण कर बैठे। 'भागवत' का परस्पर-विरोध उसके लेखक के प्रमादी होने की सूचना देता है।[2]

कृष्ण के दावानल-पान[3] की कथा पर बंकिम की टिप्पणी बड़ी मार्मिक है—"शैवों के शिव विषपान कर नीलकण्ठ हुए थे, इसलिये वैष्णवों ने भी श्री कृष्ण को अग्नि का पान कराकर ही छोड़ा।"[4]

कालिय-दमन[5]

यमुना के एक दह में कालिय नाम का भयंकर विषधर सर्प सपरिवार निवास करता था। उसके कई फण थे और वह अपने विषैले श्वासों से प्राणियों के लिए अत्यन्त कष्टदायी बना हुआ था। सर्प की विष-ज्वालाओं से वृक्षों के पत्ते तक झुलस गये थे। पशु-पक्षी तो क्या, मनुष्य भी उसके निकट जाने का साहस नहीं करते थे। कृष्ण ने इसका दमन करने का निश्चय किया। एक दिन वे कदम्ब की ऊँची शाखा से यमुना-जल में कूद पड़े और कालिय के निवास तक पहुँच गए। कालिय उनपर झपटा, परन्तु ये झट उसके फणों पर चढ़ गये और वंशी बजाते हुए नृत्य करने लगे। इस प्रकार उनके फणों पर नाचते-नाचते कृष्ण नें कालिय को अधमरा कर दिया, वह रक्त-वमन करने लगा और मूर्च्छित-सा हो गया। अपने पति की यह अवस्था देखकर नाग-पत्नियों ने कृष्ण की स्तुति करना आरम्भ कर दिया। इस प्रसंग की चर्चा करते

१. भागवत, २।६।३६
२. सत्यार्थप्रकाश, एकादश समुल्लास
३. भागवत, १०।१९
४. कृष्णचरित्र, पृ० १२७
५. भागयत; १०।१६ ; विष्णु पुराण, ५।७

हुए बंकिम बाबू को मज़ाक करने का अच्छा अवसर मिला है। वे लिखते हैं—"भागवतकार ने नाग-कन्याओं की जो स्तुति कराई है, उससे ज्ञात होता है कि नाग की स्त्रियाँ दर्शनशास्त्र की अच्छी ज्ञाता थीं। 'विष्णुपुराण' में उन्होंने जो स्तव किया है[1] वह बड़ा ही मधुर है। उसके पढ़ने से यही जान पड़ता है कि मनुष्य की स्त्रियाँ भले ही विष उगलनेवाली कही जायँ, परन्तु नाग-कन्यायें सुधा-सिंचन करनेवाली हैं।"[2] कालिय भी अबतक पूर्ण परास्त हो गया था। उसने भी श्री कृष्ण की स्तुति की, तब कृष्ण ने उसे छोड़ दिया और यमुना त्यागकर अन्यत्र निवास करने का आदेश दिया। इस प्रकार यमुना का जल साफ़ हुआ।

'महाभारत' में कालिय-दमन की कथा नहीं है।[3] यह पुराणकारों की कल्पना है, इसलिये इसपर विशेष टीका-टिप्पणी करने की आवश्यकता नहीं है। मात्र औचित्य की दृष्टि से विचारा जाय तो कृष्ण-जैसे तेजस्वी एवं शक्तिशाली बालक के लिए किसी विषधर सर्प को कुचल डालना असम्भव भी नहीं है। परन्तु बंकिम पुनः स्वभावानुसार कालिय-दमन की कथा का भी रूपकात्मक समाधान करने से विरत नहीं हुए। तथ्य यह है कि कृष्ण के मानवीय चरित्र को ही प्रस्तुत करने का दृढ़ संकल्प रखने, अलौकिक और असम्भव के प्रति अश्रद्धा रखने तथा 'महाभारत' की तुलना में पुराणों को अप्रामाणिक मानने पर भी बंकिम की आस्था अवतारवाद के प्रति अविचलित थी, इसीलिये वे पुराण-कथित कथाओं को मिथ्या मानते हुए भी उनकी रचना के पीछे पुराण-लेखकों का कोई-न-कोई निगूढ़ अभिप्राय अवश्य देखते हैं और अवसर मिलते ही इन लालबुझक्कड़ी कहानियों की भी संगति लगाने के लिए लालायित हो जाते हैं। इन अलौकिक आख्यानों में भी बंकिम को कोई-न-कोई उपदेश की बात मिल ही जाती है।

यहाँ भी उन्होंने कालिय-दमन की निम्न प्रकार से रूपकात्मक व्याख्या की—"कृष्ण-सलिला काल नदी ही कालिन्दी है। विपत्काल-रूपी भयंकर भँवरें इसमें पड़ी हैं। कुटिल गतिवाले दुःख ही इसमें

---

१. विष्णुपुराण, ५।७

२. कृष्ण चरित्र, पृ० १२८

३. शिशुपालकृत कृष्ण-निन्दा के प्रसंग में इतना ही कहा गया है—
नागश्च पातितोऽनेन तत्र को विस्मयः कृतः ॥ (सभापर्व, ४१।९)

निवास करनेवाले विषैले सर्प हैं जिनके आध्यात्मिक, आधिदैविक और आधिभौतिक तीन फण हैं। विपत्ति के इस गहन गह्वर में फँसकर जब मनुष्य को दुःखरूपी विषधर त्रासित करता है तो कृष्ण (ईश्वर) के पाद-पद्मों के सिवा उसका कौन-सा सहारा रहता है! अभय की वंशी सुनकर आशा का संचार होता है। तात्पर्य यह है कि ईश्वर की शरण में जाने से दुःख-रूपी साँप से निष्कृति मिलती है।"[1] वास्तव में कल्पना बड़ी सुन्दर है। परन्तु विचारणीय यह है कि ऐतिहासिक अनुसंधान करनेवालों को ऐसी रूपकात्मक बातों से क्या संतोष हो सकता है! इतिहासकार तो विशुद्ध तथ्यों की खोज करता है, न कि कल्पना-सृष्टि रचकर विगत अतीत को किसी पूर्वनिर्धारित दृष्टि से देखे। अतः पुराणों की इन असत्य गाथाओं को रूपक मानकर उनमें किसी नैतिक उपदेश की तलाश व्यर्थ का श्रम है। यदि पुराणों के लेखकों को इन असम्भव कथाओं के माध्यम से कोई बात कहनी थी, तो वे उसका स्पष्ट संकेत करते। जब मूल कथानक में ही रूपक का कोई संकेत नहीं है तो बंकिम का ऐसा व्याख्यान क्लिष्ट कल्पना ही कहा जायगा।

इन्द्रयज्ञ-निवारण और गोवर्द्धन पूजा

इन्द्रयज्ञ के प्रकरण का विवेचन प्रारम्भ करने से पूर्व कृष्ण और बलराम द्वारा मारे गये दो असुरों की चर्चा आवश्यक है। इनका वर्णन 'विष्णु' और 'ब्रह्मपुराण' में है। 'ब्रह्मपुराण' के अनुसार धेनुकासुर गधे के रूप में आया और बलराम द्वारा मारा गया; 'विष्णुपुराण' में इसका वध कृष्ण के द्वारा कराया गया है। 'ब्रह्मपुराण' में प्रलम्वासुर नामक राक्षस कृष्ण को मारने के लिए गोप-वेश धारण कर आया और कृष्ण द्वारा मारा गया; 'विष्णुपुराण' में इसके वध का श्रेय बलराम को दिया गया है। पुराणों के परस्पर-विरोध का यह अच्छा उदाहरण है। एक ही लेखक जब तक भाँग जैसे किसी मादक द्रव्य का पान कर लिखने नहीं बैठेगा, ऐसी 'वदतो व्याघात'-दोष वाली बातें नहीं लिख सकता है और निश्चय ही भगवान् व्यास की लेखनी से ऐसे प्रमादपूर्ण कथन नहीं उतरे होंगे। अब गोवर्द्धन-प्रसंग को लीजिये—

गोप-गण प्रतिवर्ष वृष्टि के लिए इन्द्र-यज्ञ किया करते थे। कृष्ण ने

---

१. कृष्ण-चरित्र, पृ० १२८-१२६

लोगों को समझाया कि ग्वालों के जीवन का आधार गायें और गोवर्द्धन पर्वत है, अतः इन्द्र-पूजा बंद होनी चाहिए और उसके स्थान पर गायों, बछड़ों और गोवर्द्धन की पूजा होनी चाहिए। कृष्ण का परामर्श स्वीकार हुआ तथा इन्द्र-पूजा के स्थान पर गायों और बछड़ों की पूजा हुई। गोवर्द्धन-पर्वत को जो खाद्य-पदार्थ अर्पित किये गये, उन्हें कृष्ण ने गोवर्द्धन का रूप धारण कर खा लिया। इन्द्र अपना यह अपमान देखकर कुपित हुआ और उसने मेघों को ब्रज पर मूसलाधार वृष्टि करने का आदेश दिया। अतिवृष्टि से दुःखी होकर गोपियाँ और ग्वाले अपने पशुओं को लेकर कृष्ण की शरण में गये। कृष्ण ने गोवर्द्धन-पर्वत को उठाकर सबको शरण दी और व्रज को बचाया। अन्त में इन्द्र ने पराजय स्वीकार कर ली और वह कृष्ण की शरण में आकर क्षमा-याचना करने लगा। यह है भागवतकार की उपन्यास-कल्पना।[1]

'महाभारत' में शिशुपाल श्री कृष्ण पर व्यंग करता हुआ कहता है— "दीमक के टीले के समान गोवर्द्धन-पर्वत को इसने सप्ताह-भर थामा भी हो तो मेरी समझ में यह कोई बड़ी बात नहीं है।"[2] यह लीजिये ! शिशुपाल के लिए एक विशाल पर्वत वल्मीकों का टीला ही हो गया ! वस्तुतः यह कथा भी असम्भव होने से त्याज्य ही है। इसमें यदि सत्य का कुछ अंश है तो इतना ही है कि कृष्ण-जैसे दूरदर्शी और यथार्थदर्शी पुरुष गायों और ग्वालों की सुविधा की दृष्टि से गोवर्द्धन जैसे हरे-भरे पर्वत का पूर्ण उपयोग लेने के पक्षपाती थे। पूजा का तात्पर्य जहाँ सम्मान करना और सत्कार करना है वहाँ किसी वस्तु का उचित उपयोग लेना भी है। गोवर्द्धन-पूजा में कृष्ण का यही उद्देश्य रहा होगा।

यहाँ भी बंकिमचन्द्र को गोवर्द्धन-धारण आदि कार्यों में पुराण-लेखक का कुछ गूढ़ तात्पर्य (?) दृष्टिगोचर हुआ है, यद्यपि इससे पूर्व वे हमारी तरह ही इस कथा को असम्भव समझकर छोड़ चुके हैं। वह गूढ़ तात्पर्य यह है—"प्राचीन आर्य लोग जड़ पदार्थों में परमात्मा की सत्ता और शक्ति समझकर उनकी पूजा किया करते थे। सूर्य, अग्नि,

१. भागवत, १०। अ० २४-२५; विष्णुपुराण, ५।१०-११

२. वल्मीकमात्रः सप्ताहं यद्यनेन धृतोऽचलः।
तदा गोवर्द्धनो भीष्म न तच्चित्रं मतं मम ॥—सभापर्व, ४१-६

जल, वायु, वृष्टि आदि की पूजा इसी प्रकार प्रचलित थी। कृष्ण ने मेघों की पूजा बंद कराकर पर्वत और बछड़ों की पूजा प्रचलित कर दी। बंकिम की दृष्टि में यह ठीक ही है क्योंकि आकाशादि जड़-पदार्थों की पूजा की अपेक्षा दरिद्रों और गोवत्सों को खिलाना अधिक धर्म-सम्मत है।"[1]

बंकिम के इस कथन से वैदिक धर्म का मर्मज्ञ कोई भी विद्वान् सहमत नहीं हो सकता कि प्राचीन आर्य लोग जड़-शक्तियों तथा पदार्थों की पूजा करते थे। वस्तुतः वेदों में जहाँ अग्नि, इन्द्र, वरुण, मित्र आदि विभिन्न देवताओं के स्तुतिपरक मंत्रों का संग्रह हुआ है, वहाँ तत्-तत्-नाम-धारी परमात्मा की स्तुति का ही अभिप्राय समझा जाना चाहिए।[2] आर्यों को जड़-पूजक कहना वेद-प्रतिपादित उपासना-प्रणाली से अपनी अनभिज्ञता सूचित करना है। वस्तुतः आर्य एकेश्वरवादी थे तथा नाना नामों से अभिहित परमात्मा ही उनका एकमात्र पूज्य और उपास्य था। 'एकं सद् विप्रा बहुधा वदन्ति'[3] तथा 'महाभाग्याद्देवताया एक आत्मा बहुधा स्तूयते' जैसे प्रमाण हमारे इसी कथन की पुष्टि करते हैं। ऐसी दशा में आर्यों पर आकाश, मेघ आदि जड़-पदार्थों की पूजा करनेवाले होने का आरोप युक्तिसंगत नहीं है।

आज के बुद्धिप्रधान युग में पर्वत को अंगुलियों पर उठा लेने जैसी असम्भव बात पर कौन विश्वास करेगा? जो बात युक्ति-संगत न हो, विज्ञान और सृष्टि-नियम के प्रतिकूल हो, उसे मानना सम्भव नहीं। तभी तो पुराण-वर्णित अलौकिक कथाओं की अतिरंजित बातों को हटाकर उनका सहज एवं बुद्धि-ग्राह्य-रूप ही जनता के समक्ष प्रस्तुत किया जाना आज के लोगों को उचित लगता है। हिन्दी के प्रसिद्ध कवि पं० अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध' ने गोवर्द्धन-धारण की जो तर्कपूर्ण और बुद्धिग्राह्य व्याख्या की है वह अत्यन्त मनोरम है। उनके कथन का तात्पर्य यह है कि एक बार जब ब्रज में घोर वृष्टि हुई तो

---

१. कृष्ण-चरित्र, पृ० १३४

२. वेद-प्रतिपादित एकेश्वरवाद का प्रबल प्रतिपादन दयानन्द सरस्वती ने अपने 'सत्यार्थप्रकाश' तथा 'ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका' आदि ग्रन्थों में किया है जहाँ उन्होंने 'एकं सद् विप्रा बहुधा वदन्ति' जैसे मंत्रों द्वारा सिद्ध किया है कि वेद में एक परमात्मा ही उपास्य तथा पूज्य माना गया है।

३. ऋग्वेद, १।१६४।४६

उससे ब्रज के गोप, गोपी, गायों और बछड़ों को बड़ा कष्ट हुआ। ऐसे भयंकर जल-प्लावन के समय में कृष्ण जैसे लोक-सेवक का जनता की सेवा के कार्य में पीछे रहना असम्भव ही था। वे तुरन्त रक्षा-कार्य में कूद पड़े। उन्होंने अपनी चतुराई, धैर्य, कार्यकुशलता तथा सहयोग-भावना से सेवा का अपूर्व आदर्श प्रस्तुत किया और विपत्तिकाल में लोगों की रक्षा की। पार्वत्य गुफाओं और कन्दराओं में वृष्टि-पीड़ित प्राणियों के निवास की व्यवस्था कर उनके प्राणों की रक्षा की। यही उनका गोवर्द्धन-धारण था—

लख अपार प्रसार गिरीन्द्र में
ब्रज-धराधिप के प्रिय पुत्र का।
सकल लोग लगे कहने उसे
रख लिया उँगली पर श्याम ने॥[1]

यहाँ आते-आते कृष्ण की किशोरावस्था समाप्त होती है। इसके आगे पुराणों में गोपी-प्रेम, रास-क्रीड़ा तथा राधा के प्रसंग वर्णित हुए हैं। कृष्ण-चरित्र को सर्वाधिक रूप से विकृत करने के लिए पुराणों के ये प्रसंग ही उत्तरदायी हैं, इसका संकेत हम पहले ही कर चके हैं। अब इन्हीं प्रसंगों की तर्कपूर्ण समीक्षा की जायगी।

अध्याय १०

गोपी-प्रसंग

'महाभारत' में कृष्ण-गोपियों के परस्पर प्रेम का कोई उल्लेख नहीं मिलता। स्पष्ट ही यह प्रसंग काल्पनिक तथा परवर्ती पुराणकारों द्वारा गढ़ा गया है।[1] कृष्ण-चरित्र के विषय में 'महाभारत' की प्रामाणिकता सिद्ध की जा चुकी है, अतः इसमें गोपियों का उल्लेख न मिलना इस प्रसंग की अर्वाचीनता बताता है। इसके मिथ्या और अनैतिहासिक होने का एक कारण और भी है। सभापर्व में राजसूय यज्ञ के अवसर पर शिशुपाल ने कृष्ण की भरपेट निंदा की। इसमें उसने कृष्ण के बाल्य और यौवनकाल की कोई छोटी-से-छोटी घटना भी नहीं छोड़ी। यदि ब्रज-बालाओं तथा कृष्ण के जार-सम्बन्ध में किञ्चिन्मात्र भी वास्तविकता होती तो वह अपने प्रतिद्वन्द्वी को बदनाम करने का यह स्वर्ण-अवसर कभी न छोड़ता। परन्तु यहाँ तो शिशुपाल भी मौन है। अतः गोपी-प्रसंग को पुराणकाल और काव्यकाल की उपज मानना ही समीचीन है।

'महाभारत' में केवल एक स्थान पर द्रौपदी के केशाकर्षण-प्रसंग में पाञ्चाली द्रौपदी के मुख से कृष्ण के लिए 'गोपीजन-प्रिय' शब्द का प्रयोग हुआ है—

गोविन्द द्वारिकावासिन् कृष्ण गोपीजन-प्रिय ॥

(सभापर्व ६८ । ४१)

परन्तु इस सम्बोधन से कृष्ण और गोपियों के बीच किसी अवांछनीय जार-सम्बन्ध की सूचना नहीं मिलती। कृष्ण अपने रूप और गुणों के

१. 'महाभारत' में गोपी-प्रेम की गन्ध भी नहीं है। और तो और, किसी प्रसंग में भी कृष्ण की रासलीला का वर्णन नहीं। यहाँ तक कि महाभारतकार ने कृष्ण के होंठों से वंशी तक न छुवाने की कसम खा ली है। 'महाभारत' का कृष्ण चक्रधर है, गदाधर है, असिधर है, मुरलीधर नहीं। (योगेश्वर कृष्ण,

कारण ब्रज-मण्डल में सर्वजन-प्रिय थे। गोपी-ग्वाल, आबाल-वृद्ध, सभी उन्हें प्यार करते थे, जैसा कि अब भी हम देखते हैं कि सुन्दर, क्रीड़ा-प्रिय और चंचल बालक अपने गाँव एवं मुहल्लेवाले स्त्री-पुरुषों में समान रूप से प्रीति-पात्र बन जाते हैं। अतः, कृष्ण के उपर्युक्त 'गोपी-जन-प्रिय' सम्बोधन से कृष्ण की लोकप्रियता ही व्यक्त होती है।

यद्यपि बंकिम ने 'महाभारत' में उल्लेख न मिलने के कारण गोपी-प्रसंग को ऐतिहासिक दृष्टि से कोई महत्त्व नहीं दिया, परन्तु अवतार-वाद तथा पुराण-प्रमाणवाद से सर्वतोभावेन पीछा छुड़ाने में असमर्थ रहने के कारण उन्होंने इस प्रसंग की भी अपनी दृष्टि से युक्ति-संगत व्याख्या की है। यह तो वे स्वयं स्वीकार करते हैं कि "विष्णुपुराण हरिवंश और भागवत में उपन्यास की उत्तरोत्तर वृद्धि हुई है। 'महाभारत' में गोपियों की कथा नहीं है, विष्णुपुराण में पवित्र भाव से है, हरिवंश में विलासिता की कुछ गंध है, भागवत में उसकी अधिकता है, पर ब्रह्मवैवर्त की कुछ मत पूछिये, उसमें तो विलासिता की नदी उमड़ चली है।"[१]

'विष्णुपुराण' में गोपी-प्रसंग

'विष्णुपुराण'-वर्णित रासलीला-प्रसंग[२] को बंकिम ने विस्तारपूर्वक उद्धृत किया है[३] तथा उससे निम्न निष्कर्ष निकाले हैं—

१. 'रम, क्रीड़ायाम्' धातु से निष्पन्न होने के कारण 'रमण' शब्द का अर्थ सामान्य मनोरञ्जनात्मक क्रीड़ाओं से है। इसी प्रकार 'रास' भी एक क्रीड़ा-विशेष है।[४] इसका वासना से कोई सम्बन्ध नहीं है।

२. रासलीला एक रूपकात्मक वर्णन है। यह कृष्ण और गोपियों की चित्तरंजिनी वृत्तियों का अनुशीलन है।[५] गोपियों के लिए यह ईश्वरोपासना का एक प्रकार है।

प्रथम बिन्दु के सम्बन्ध में हमें कुछ नहीं कहना है। शृंगारोद्दीपन की भावना से रहित शुद्ध मनोरंजनात्मक क्रीड़ाओं पर आक्षेप करना

---

१. कृष्ण-चरित्र, पृ० १३६

२. विष्णुपुराण, ५।१३

३. कृष्ण-चरित्र, पृ० १३७,१४५

४. वही, पृ० १४६

५. वही, पृ० १४७

हमारा उद्देश्य नहीं है। 'विष्णुपुराण' का रासलीला-वर्णन बहुत आपत्ति-कर न भी हो, तदपि निम्न श्लोक हमारे हृदय में पर्याप्त शंका उत्पन्न करते हैं—

काचिद् प्रविलसद् बाहुः परिरभ्य चुचुम्बतम् ।
गोपी गीत स्तुति व्याज्जान्निपुणा मधुसूदनम् ।।
गोपी कपोल संश्लेषमभिगम्य हरेर्भुजौ ।
पुलकोद्गम्यस्याय स्वेदाम्बु घनतां गतौ ।।[1]

'कपटता में निपुण एक गोपी ने कृष्ण के गीत की स्तुति करने के छल से बाहु से आलिंगनपूर्वक मधुसूदन का चुम्बन किया। कृष्ण की दोनों भुजायें किसी गोपी के कपोलों से छू जाने पर पुलकोद्गम-स्वरूप अन्नादि उत्पन्न करने के लिए स्वेदाम्बुवर्षक मेघ बन गये।' प्रथम श्लोक में गोपी के छलपूर्ण आलिंगन तथा चुम्बन का वर्णन है और दूसरे श्लोक में तो स्पष्ट ही कहा गया है कि किसी गोपी के कपोलों का स्पर्श हो जाने के कारण कृष्ण को पसीना आ गया। साहित्य की परिभाषा में इसे सात्विक भावगत 'प्रस्वेद' कहा जाता है। निश्चय ही पुराणकार को रति-भाव की उत्पत्ति का वर्णन अभीष्ट है और रति-भाव युवावस्था-प्राप्त नायक-नायिका में ही होगा, न कि अल्पवयस्क बालक-बालिका में। अतः, निश्चय ही उपर्युक्त श्लोकों में कृष्ण-गोपी का वासना-रंजित प्रेम ही वर्णित हुआ है।

बंकिम की इस धारणा से भी सहमत होना असम्भव है कि प्राचीन काल में स्त्रियों के लिए ज्ञान-मार्ग का निषेध था, अतः जार-भाव से ईश्वर की भक्ति करने के अतिरिक्त ईश्वर-प्राप्ति का उनके लिए और कोई उपाय ही नहीं था। यह तो सत्य है कि मध्यकालीन समाज में स्त्रियों के अनेक अधिकार छीन लिये गये थे। वे न वेद पढ़ने की अधिकारिणी मानी जाती थीं और न उन्हें श्रौत-स्मार्त कर्मकाण्डों में भाग लेने की ही आज्ञा थी। परन्तु महाभारत-पूर्व काल में ऐसी स्थिति नहीं थी। निश्चय ही वैदिक काल में नारियों को भी पुरुषों के तुल्य अधिकार प्राप्त थे। उस युग में तो घोषा, अपाला, लोपामुद्रा आदि अनेक मन्त्र-द्रष्टा ऋषिकायें हुई थीं जिन्होंने वेद-मन्त्रों के रहस्य का दर्शन कर उनका संसार में प्रचार किया था। ब्रह्म-विद्या में प्रवीण

गार्गी, मैत्रेयी, सुलभा आदि ब्रह्मवादिनी स्त्रियाँ भी भारत के इतिहास में सुख्यात हैं। अतः, बंकिम के इस कथन में कुछ भी औचित्य नहीं है कि स्त्रियों के लिए ज्ञानकाण्ड का निषेध होने और कर्मकाण्ड की जटिलता के कारण स्त्रियों का भक्ति-मार्ग में ही विशेष अधिकार था। और फिर यह भक्ति थी कौन-सी?—पुराण-वर्णित वासना-रंजित परकीया-भाव की भक्ति; बंकिम के अनुसार जिसका उपादान लौकिक सौन्दर्य है। शास्त्रकारों ने जिस परमात्मा को प्राप्त करने के योग-साधन, जप, उपासना, सत्संग, परोपकार आदि श्रेष्ठ कर्मों का विधान किया, उसकी प्राप्ति के लिए स्त्रियों को जार-भाव रखना चाहिए, यह पुराणकारों का उपदेश विचित्र तथा असमंजसपूर्ण है। जार-भाव को भक्ति के भीतर परिगणित करना बुद्धि का विकार ही माना जायगा। बंकिम कहते हैं—"जो ब्रह्म-ज्ञानियों के ज्ञान का और योगियों के योग का चरमोद्देश्य है, वही ज्ञान प्राप्त कर गोपियाँ ईश्वर में लीन हो गईं।"[1] ब्रह्म-लीन होने का क्या यही उपाय है? यह विडम्बना के अतिरिक्त कुछ भी नहीं है।

बंकिम रास-लीला को रूपक मानते हैं, साथ ही गोपियों को स्त्री होने के नाते कृष्ण से जार-सम्बन्ध स्थापित करनेवाली परकीया स्त्रियाँ भी कहते हैं। यह दोनों घोड़ों पर सवारी कैसे सम्भव है? कृष्ण-चरित्र की आलोचना करते समय बंकिम के समक्ष दो दृष्टिकोण थे—(१) कृष्ण मानव हैं; (२) कृष्ण ईश्वरावतार थे। इन दोनों परस्पर-विरोधी विचारधाराओं के सम्मिश्रण ने बंकिम के विवेचन को 'वदतोव्याघात'-युक्त बना दिया है। यह ठीक है कि दोष-निवारण की दृष्टि से पुराण ने वासना-पंकिल रास-लीला को 'आत्माराम कृष्ण की आत्मक्रीड़ा' का रूप दे दिया है, परन्तु यह केवल मनस्तोष की ही बात है। जब कृष्ण का ईश्वरत्व ही सिद्धि की अपेक्षा रखता हो तो रास-लीला की आध्यात्मिक व्याख्या का अधिक मूल्य नहीं हो सकता।

'हरिवंश पुराण' में रास-लीला

इसी प्रकार 'हरिवंश' के गोपी-प्रसंग को उद्धृत कर बंकिमचन्द्र ने उसे कविता, गम्भीरता, विद्वत्ता और उदारता में 'विष्णुपुराण' से न्यून ठहराया है। उनके कथनानुसार विष्णुपुराणकार ने रास के

जिस गूढ़ तात्पर्य का संकेत दिया था, वह हरिवंशकार नहीं समझ सका। इसपर हम क्या कह सकते हैं! पौराणिक मान्यता के अनुसार तो जिस व्यास ने 'विष्णुपुराण' को लिखा, वही 'हरिवंश' का भी रचयिता है। विष्णुपुराण-कर्ता व्यास ने रूपक-कल्पना के आधार पर रास-लीला को निर्दोष बताया, किन्तु वही व्यास 'हरिवंशपुराण' में उसी प्रसंग का वर्णन करते हुए विलास-वर्णन में फँस गये, इससे बढ़कर विडम्बना और क्या हो सकती है! इससे तो यही सिद्ध होता है कि 'विष्णुपुराण' का लेखक और 'हरिवंश' का रचयिता भिन्न-भिन्न थे। बंकिम को 'हरिवंश' का यह कथन "तास्तं पयोधरोत्तानैरुरोभिः संपीडयन्" अखरा है। वास्तव में विलासिता और आध्यात्मिकता का कृत्रिम समन्वय टिकाऊ नहीं हो सकता।

'भागवतपुराण' में रास-लीला

बंकिमचन्द्र 'भागवत' को अन्य पुराणों की अपेक्षा परवर्ती मानते हैं और यह ठीक भी है। वे यह भी स्वीकार करते हैं कि इस पुराण में विलासिता की गंध कुछ अधिक ही है। अन्त में वे यहाँ तक लिखने के लिए बाध्य हुए हैं कि कहीं-कहीं तो भागवतकार ने आजकल की रुचि के विरुद्ध कर दिया है। परन्तु कुछ ही पंक्तियों के पश्चात् वे लिखते हैं—"उसके (भागवत) भीतर भक्ति-तत्त्व छिपा हुआ है। हरिवंशकार की तरह भागवतकार विलासिता के दोष से दूषित नहीं है।"[1] क्या यह बंकिम के कथन की परस्पर-विरुद्धता नहीं है?

'भागवत' में रास का वर्णन १०वें स्कन्ध के पाँच अध्यायों में हुआ है। इन्हें 'रास पंचाध्यायी' कहा जाता है। इस प्रसंग का आरम्भ २२वें अध्याय में वर्णित गोपियों की चीर-हरण-लीला से होता है। चीर-हरण की कथा 'महाभारत', 'विष्णुपुराण', 'हरिवंश' आदि में कहीं नहीं है। बंकिम के अनुसार यह भागवतकार की मनगढ़ंत है तथा आजकल की रुचि के भी प्रतिकूल है। सर्वप्रचलित और अश्लील होने के कारण मूल कथा को न लिखकर यहाँ बंकिम के तद्विषयक विचारों की समीक्षा करना ही अधिक उपयुक्त होगा। यों तो बंकिम बाबू ने चीरहरण-लीला में भी अनेक शिक्षाप्रद उपदेश तलाशने का प्रयत्न किया है, किन्तु वे 'भागवत' की अश्लीलता को नहीं छिपा सके।

---

१. कृष्ण-चरित्र, पृ० १५६

चीरहरण-विषयक श्लोकों को उद्धृत करने के प्रसंग में वे लिखते हैं— "पीछे जो कुछ हुआ वह मैं स्त्री और बालकों के समझने योग्य भाषा में किसी तरह नहीं लिख सकता।" यहाँ आपने मूल श्लोकों को ही उद्धृत किया है, परन्तु अपनी रूपकप्रियता के फेर में पड़कर भागवतकार के नग्न वर्णन को थोड़ी देर के लिए भूल गये और लिख बैठे— "भक्ति का यही छिपा हुआ तत्त्व है।" यदि वास्तव में यही भक्ति का गूढ़ तत्त्व है कि कृष्ण गोपियों के वस्त्रों को लेकर वृक्ष पर बैठ जायँ और नग्न गोपियाँ पानी में खड़ी रहकर उनसे वस्त्रों की याचना करें, तो इस भक्ति के निगूढ़ तत्त्व से आप महिलाओं और बालकों को क्यों वंचित रखना चाहते हैं? क्या चीरहरण की इस आदर्श लीला से हमारे स्त्री और बच्चे लाभान्वित नहीं होंगे?

पौराणिक वर्ग की दृष्टि में चीरहरण-लीला

पुराणों के नवीन व्याख्याकारों, जिनमें हम बंकिम को भी सम्मिलित कर लेते हैं, की दृष्टि में चीरहरण-लीला के निम्न उद्देश्य थे—

(१) गोपियाँ यमुना-जल में नग्न होकर स्नान कर रही थीं। उनके वस्त्रापहरण द्वारा कृष्ण उन्हें यह शिक्षा देना चाहते थे कि नदी में इस प्रकार नग्न होकर स्नान करना मर्यादा के प्रतिकूल है और इससे जल के अभिमानी देवता का अपमान होता है।

इसपर हमारा निवेदन है—यह तो ठीक है कि शिष्टता की दृष्टि से सार्वजनिक जलाशयों में नग्न स्नान करना उचित नहीं है, परन्तु क्या गोपियों को शिष्टता का पाठ पढ़ाने के लिए यह आवश्यक था कि उनके वस्त्रों का अपहरण कर उन्हें नग्नावस्था में जल में खड़े रहने के लिए विवश किया जाता? जहाँ तक 'जल के अभिमानी देवता' के अपमान का प्रश्न है, जड़ वस्तुओं के अभिमानी देवता का सिद्धान्त ही अवैदिक है।

(२) चीरहरण-लीला को रूपक सिद्ध करनेवाली एक अन्य पुस्तक हमारी दृष्टि में आई है। इसका शीर्षक है 'भगवान् कृष्ण की पवित्र चीरहरण-लीला और उसका रहस्य'।[१] इसके लेखक हैं महात्मा आनन्दस्वरूप, जिनके अनुसार चीरहरण-लीला मात्र अलंकार-योजना है। इसके अनुसार मनुष्य की चित्तवृत्तियाँ गोपियाँ हैं तथा अन्तरात्मा

हैं भगवान् कृष्ण। चित्तवृत्तियों को अन्तरात्मा में लीन करना ही साधक का उद्देश्य होता है। लेखक ने चीरहरण-लीला के उपाख्यान के आनुषंगिक अंगों की रूपकात्मक संगति इस प्रकार लगाई है—

गोपियों के वस्त्र—पञ्च तन्मात्रायें।

यमुना—असम्प्रज्ञात समाधि।

कदम्ब वृक्ष—ब्रह्मरंध्र।

इस प्रकार इस लीला की आध्यात्मिक व्याख्या करने के अनन्तर लेखक ने इस उपाख्यान का सामाजिक और राजनैतिक दृष्टि से भी विचार किया है। इस 'लीला' का एक अन्य पहलू लेखक ने स्व-कल्पना के आधार पर इस प्रकार ऊहित किया है—चीरहरण कर कृष्ण गोपियों को स्वदेशी वस्त्र धारण करने की प्रेरणा देते हैं और विदेशी वस्त्रों के त्याग का उपदेश देते हैं। सम्भवतः महात्मा गांधी द्वारा विदेशी वस्त्रों के त्याग के तत्कालीन आन्दोलन से प्रेरणा लेकर ही लेखक ने उक्त पौराणिक कथा की इस प्रकार व्याख्या की है। अन्यथा, कृष्ण के युग में भी स्वदेशी वस्त्रों का आग्रह तथा विदेश में निर्मित वस्तुओं के त्याग का कोई आन्दोलन चला हो, इसकी जानकारी हमें ही क्या, 'महाभारत' के मर्मज्ञ विद्वानों को भी नहीं होगी। सामाजिक दृष्टि से लेखक ने उपर्युक्त तर्क को ही दुहराया है कि नदी में नग्न स्नान अनुचित है। यही सीख देने के लिए कृष्ण ने गोपियों का वस्त्रापहरण किया था। पुस्तक के अन्त में लेखक ने यह भी बताने का प्रयत्न किया है कि चीरहरण के समय कृष्ण की आयु १० वर्ष की ही थी, क्योंकि ११वें वर्ष के आरम्भ में तो उन्होंने ब्रज छोड़कर मथुरा के लिए प्रस्थान किया था। दस-वर्षीय बालक के हृदय में काम-विकार उत्पन्न नहीं होता, अतः इस दृष्टि से भी चीरहरण-लीला निर्दोष है।

चीरहरण-लीला का 'भागवत'-वर्णित स्वरूप तथा उनकी उपर्युक्त नूतन व्याख्याओं पर सम्पूर्ण रीत्या विचार करने के पश्चात् हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि ऐसी लीलाओं की रूपकात्मक व्याख्या बहाना मात्र है। इन लीलाओं के औचित्य को प्रतिपादित करनेवालों के पास इस बात का क्या प्रमाण है कि ये सारी बातें आध्यात्मिकता का उपदेश देने की दृष्टि से ही लिखी गई हैं अथवा व्याख्याकारों का अभिप्रेत राजनैतिक अथवा सामाजिक उद्देश्य इन कथाओं में निहित है? वस्तुतः इतिहास और रूपक सर्वथा भिन्न-भिन्न तत्त्व हैं। ऐतिहासिक पुरुषों

के जीवन का विश्लेषण करते समय हमें अलंकार-योजना तथा रूपक-विधान को पृथक् रखना होगा। क्या श्री कृष्ण के अतिरिक्त अन्य महापुरुषों के इतिहास को निबद्ध करते समय भी हम ऐसी कल्पना-मूलक बातों का सहारा लेते हैं? सारी बात घूम-फिरकर कृष्ण के ईश्वरावतार होने के प्रश्न पर आकर खड़ी होती है। जब अवतारवाद ही असिद्ध है तो कृष्ण के साथ जुड़ी हुई ऐसी सभी पौराणिक कथायें भी मिथ्या सिद्ध हो जाती हैं। अतः, हमारा निश्चित मत है कि चीर-हरण आदि लीलायें पुराण-लेखकों की कपोल-कल्पनायें ही हैं। इनसे कृष्ण-चरित्र की पावनता नष्ट होती है; विधर्मियों को हमारे महा-पुरुषों के चरित्र को दूषित करने का अकारण अवसर मिलता है। व्यभिचारी लोग तो ऐसी कथाओं से ही अपने दुष्कर्मों के लिए ईश्वरीय प्रेरणा की ओट लेते हैं। उनका तर्क होता है कि जब अवतारी चरित्रों ने ही ऐसे काम किये तो उन्हें करने में हम संकोच क्यों करें? परिणाम-स्वरूप घटित होती हैं कलकत्ते के 'गोविन्दभवन' जैसी लीलायें, जिनमें हीरालाल गोयनका जैसा दुराचारी स्वयं को कृष्ण घोषित कर भक्त-स्त्रियों को गोपी बनाता है तथा उनके साथ व्यभिचार में प्रवृत्त होता है। वल्लभ-सम्प्रदाय की लीलायें सर्वत्र विदित हैं। मैथिलीशरण गुप्त ने 'भारत-भारती में ठीक ही लिखा था—

भक्त-स्त्रियाँ हैं गोपियाँ, गोस्वामि ही गोपाल हैं।

हम तो परमात्मा से पुराणों के इन नवीन भाष्यकारों और व्याख्या-कारों को सद्बुद्धि देने की ही प्रार्थना कर सकते हैं, जिससे कि वे पुराणों के कुत्सित वर्णनों को समर्थन देने की अपेक्षा उनको गर्हित समझकर त्याग दें।

चीरहरण-लीला के साथ रास-लीला का कार्य-कारण-सम्बन्ध है। गोपियों के चीर लौटाने के उपरान्त कृष्ण ने उन्हें वचन दिया कि जिस उद्देश्य से तुमने कात्यायनी-व्रत किया है, उसे तुम आगामी शरद् ऋतु की पूर्णिमा को प्राप्त करोगी। उनका अभिप्राय था कि तुमने मुझे पति-रूप में प्राप्त करने की इच्छा की है और तुम्हारी यह इच्छा आगामी पूर्णिमा—महारास की रात्रि को पूरी होगी। इसके पश्चात् 'रास पंचाध्यायी' का प्रकरण आता है जिसमें कृष्ण और गोपियों की रासक्रीड़ा का विस्तृत वर्णन है। पौराणिक कथाओं के समर्थक निम्न

तर्क देकर कृष्ण-गोपियों के सम्बन्ध की शुद्धता एवं पवित्रता सिद्ध करते हैं—

(१) कृष्ण-गोपी-सम्बन्ध विशुद्ध आध्यात्मिक है, लौकिक वासना से इसका दूर का भी सम्बन्ध नहीं है। इसे समझाने के लिए वे निम्न तर्क की उद्भावना करते हैं—

(२) कृष्ण साक्षात् परमात्मा हैं और गोपियाँ जीवात्माओं की प्रतीक हैं। उनका यह मिलन आत्मा और परमात्मा का मिलन है। यह रूपकात्मक आलंकारिक वर्णन है जिसमें स्त्री-पुरुष-मिलन के व्याज से जीवेश्वर-सम्बन्ध की व्यंजना की गई है। जब पुराणोक्त रास-लीला के अन्तर्गत आनेवाले स्थूल शारीरिक मिलन के उल्लेखों की ओर ऐसे लोगों का ध्यान आकृष्ट किया जाता है, तब वे एक अन्य बात कहते हैं—

(३) रास के समय कृष्ण की आयु मात्र १० वर्ष की थी। उस अवस्था के बालक के मन में कामोद्भव कैसे हो सकता है?

(४) किसी पुराण-विशेष में उल्लिखित कथा के आधार पर वे यह भी सिद्ध करने का प्रयत्न करते हैं कि गोपियाँ पूर्व-जन्म में वेदों की ऋचायें थीं। त्रेता-युग में जब भगवान् राम की अपूर्व रूप-माधुरी पर मुग्ध होकर उनसे रमण करने की इच्छा व्यक्त की तो उन्होंने कृष्णावतार तक उनसे प्रतीक्षा करने को कहा और यह भी कहा कि उस समय वे गोपियों का जन्म लेकर जार-भाव से उन्हें प्राप्त कर सकेंगी।

बंकिम को उपर्युक्त व्याख्याओं से किंचिन्मात्र भी संतोष नहीं होता। वे इन्हें पुराण-लेखकों की मनगढ़न्त कथायें ही समझते हैं, परन्तु प्रत्येक पुराण-वर्णित कथा को रूपकात्मक सिद्ध करने का खब्त उनपर कुछ ऐसा सवार रहता है कि वे भी अन्ततः इन कथाओं को निर्दोष सिद्ध करने में ही अपनी बुद्धि को व्यय कर देते हैं।

वस्तुतः पौराणिक व्याख्याकारों के उपर्युक्त तर्क बड़े कच्चे हैं। आत्मा-परमात्मा का मिलन ही कृष्ण-गोपी-मिलन के रूप में वर्णित हुआ है, यह युक्ति भी टिकनेवाली नहीं है। वेदों में जार-भाव की भक्ति का कहीं भी विधान नहीं है और न इस कथन का ही कोई औचित्य है कि जीवात्मा-रूपी स्त्री परमात्मा-रूपी पुरुष पति को दाम्पत्य-भाव के माध्यम से ही प्राप्त करती है। वेदों में जीव और

ईश्वर का सम्बन्ध पिता-पुत्र[1], राजा-प्रजा[2], स्वामी-सेवक, गुरु-शिष्य और मित्र-मित्र[3] का तो अवश्य बताया गया है, किन्तु उनका पति-पत्नी-भाव या प्रेमी-प्रेमिका-भाव कहीं भी उल्लिखित नहीं हुआ है। उपासना में यह माधुर्य-भावना प्रथम वाममार्गी साधना का अंग बनी, पुनः सहजयानी बौद्धों में आई। उनसे वैष्णवों ने इसे ग्रहण किया। वैष्णवों में भी सखी-सम्प्रदाय में यह जार-भाव की भक्ति घोर अति-वादिता तथा स्थूलता के साथ व्यक्त हुई। अतः कृष्ण-गोपी-प्रेम को अभौतिक और आध्यात्मिक कहकर उसके स्थूल वासना-रंजित रूप को दृष्टि से ओझल नहीं किया जा सकता।

जब रूपकवाला तर्क निष्फल हो जाता है तो पौराणिक व्याख्याकार यह कहते हैं कि रासलीला के समय कृष्ण की आयु दस वर्ष की ही थी। उस अवस्था में तो यौन-भावना का उदय भी नहीं होता, अतः ऐसी परिस्थिति में कृष्ण पर गोपियों से रतिक्रीड़ा का आरोप नहीं लगाया जा सकता। हमारा निवेदन है कि कृष्ण और गोपियों का मिलन शारीरिक स्तर पर हुआ है, इसकी साक्षी आपके मान्य पुराण ही देते हैं। जब वासना-मूलक प्रेम और शारीरिक मिलन के स्पष्ट संकेत पुराणों में उपलब्ध होते हैं तो व्यर्थ की हठवादिता के वशवर्ती होकर कृष्ण-गोपी-प्रसंग को निर्दोष सिद्ध करना दुराग्रह ही माना जायगा। यदि वादि-तोष-न्याय से यह भी मान लें कि पुराणों में कृष्ण की उस समय की अवस्था १० वर्ष की ही बताई गई है तो यह भी उन्हीं ग्रन्थों के लिए दोषावह सिद्ध होता है। एक ओर तो पुराणकार कृष्ण को अल्पवयस्क बालक बताते हैं और साथ ही गोपियों के साथ उनके संभोग का ग्राम्य रुचि जैसा स्थूल वासना-रंजित वर्णन भी करते हैं। अब पुराण क्या हुए स्वामी श्रद्धानन्द जी के शब्दों में चूँ-चूँ का मुरब्बा हो

---

१. त्वं हि नः पिता वसो माता शतक्रतो बभूविथ।
अधा ते सुम्नमीमहे॥ (ऋग्वेद, ८।९८।११)
इन्द्र क्रतुं न आ भर पिता पुत्रेभ्यो यथा।
शिक्षाणो अस्मिन्पुरुहूत यामनि जीवा ज्योतिरशीमहि॥
—ऋग्वेद, ७।३२।२६

२. सोम राजन् मृळया नः स्वस्ति तव स्मसि व्रत्या स्तस्य विद्धि।-ऋ०४।४८।४

३. द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते।
तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्नन्नन्यो अभि चाकशीति॥
—ऋग्वेद, १।१६४।२०

गये। यह तर्क कुछ इस प्रकार का हुआ—कृष्ण बालक भी हैं अतः वे शृंगार-चेष्टाओं को क्या समझें! साथ ही, कृष्ण गोपियों से वैसा ही व्यवहार करते हैं जैसा कोई कामुक पुरुष स्त्री से करता है। ऐसा परस्पर-विरोध जिन ग्रन्थों में पाया जाय, वे बुद्धिवादियों के लिए कथमपि प्रमाण नहीं हो सकते।

हमारी दृष्टि में तो कृष्ण का बाल्य और कैशोर्य काल पूर्ण ब्रह्मचर्य-पालन का काल था। पुराणों ने जो बातें गोपी-प्रसंग के अन्तर्गत लिखी हैं, वे सभी मिथ्या हैं तथा उस महापुरुष के अमल-धवल चरित्र को कलंकित करनेवाली हैं।

गोपियों को वेदों की ऋचाओं का अवतार मानना तो चण्डूखाने की गप्प से भी कुछ अधिक ही है। वेद तो शब्दमय हैं। क्या शब्द-ब्रह्म, जो अपने में अत्यन्त सूक्ष्म है, नारी का स्थूल शरीर धारण कर सकता है? पाठकों को यहाँ यह बता देना भी अनुचित नहीं होगा कि परवर्ती रामोपासक-सम्प्रदाय में भी परकीया-प्रेम का शृंगारी-भाव प्रविष्ट हो गया था।[1] फलतः रामोपासना में भी ऐसी ही विकृतियाँ प्रविष्ट हो गईं, जो कृष्ण-भक्ति-सम्प्रदाय में पहले से विद्यमान थीं। वेदों की ऋचाओं का राम से रतिदान माँगना 'आदि पुराण'-वर्णित घटनायें ही इस विकृत रामोपासना का मूल कारण ठहरती हैं।

'भागवत' के रासलीला-वर्णन में स्थूल ऐन्द्रिय भावनाओं का स्पष्ट उल्लेख है। बंकिम भी 'भागवत' में वासनामूलक भावों की उपस्थिति स्वीकार करते हैं, अतः जो लोग यह कहते हैं कि 'भागवत'-वर्णित रासलीला में कुछ भी स्थूलता नहीं है, उन्हें सावधान होकर निम्न श्लोकों को पढ़ना चाहिए—

बाहु प्रसार परिरम्भ कराल कोरू
नीवीस्तनालभन नर्म्मनखाग्र-पातैः।
क्ष्वेल्याऽवलोकहसितैर्व्रज सुन्दरीणा-
मुत्तम्भयन् रतिपतिं रमयाञ्चकार॥ (१०।२६।४६)

तथा— **कस्याश्चिन्नाट्य विक्षिप्त कुण्डलत्विषमण्डितम्।**
गण्डं गण्डे संदधत्याः प्रादात्ताम्बूल-चर्वितम्॥
(१०।३३।१३)

---

१. रामोपासक-सम्प्रदाय में परकीया-भाव तथा माधुर्य-भाव की विवेचना करनेवाले अनेक ग्रन्थ प्रकाशित हो चुके हैं।

नृत्यन्ती गायती काचित् कूजन्नूपुरमेखला ।
पार्श्वस्थाऽच्युत हस्ताब्जं श्रान्ता धात्स्तनयोः शिवम् ।।
(१० । ३३ । १४)

क्या कोई छाती पर हाथ धरकर सच्चे दिल से कह सकता है कि उपर्युक्त श्लोकों में कृष्ण-गोपी के आध्यात्मिक सम्बन्धों की ही चर्चा हो रही है? क्या यह शारीरिक स्पर्श का स्थूल ब्यौरा नहीं है ?

इसी विचित्र रासलीला की कथा को सुनकर बेचारे परीक्षित ने शुकदेव से ठीक ही पूछा था—

संस्थापनाय धर्मस्य प्रशामयेतरस्य च ।
अवतीर्णो हि भगवानंशेन जगदीश्वरः ।।
स कथं धर्मसेतूनां वक्ता कर्त्ताऽभिरक्षिता ।
प्रतीपमाचरद् ब्रह्मन् पर-दाराभिमर्षनाम् ।।[1]

'हे ब्रह्मन् ! आपने कहा था कि भगवान् जगदीश्वर धर्म की स्थापना तथा अधर्म के नाश-हेतु अवतार धारण करते हैं । स्वयं धर्म-मर्यादा के वक्ता, कर्ता तथा रक्षक होकर भी ऐसे भगवान् (कृष्ण) ने मर्यादा के विपरीत पर-स्त्री-स्पर्शरूपी महान् अधर्म का कार्य क्यों किया ?' परीक्षित का प्रश्न सर्वथा उचित ही था । परमात्मा के अवतार से तो हम यह अपेक्षा रखते हैं कि स्वयं मर्यादा का पालन करते हुए वह अपने भक्तों को भी मर्यादा-पालन का आदर्श सिखाता है, तब कृष्ण के इस पर-दाराभिमर्षण-रूपी पाप-कृत्य का क्या औचित्य है ? आश्चर्य तो शुकदेव के उस उत्तर पर होता है जिसे सुनकर लज्जा को भी लज्जित होना पड़ेगा । उन्होंने स्पष्ट कहा—जिस प्रकार सर्वहुत अग्नि में अपवित्र वस्तु डाल देने पर भी वह अपवित्र नहीं होती, उसी प्रकार सर्व-समर्थ भगवान् के ऐसे कृत्य भी जो मर्यादा का उल्लंघन करते हैं, अनुचित नहीं माने जाते ।[2] गोस्वामी तुलसीदास ने भी 'भागवत' के इसी भाव को "समरथ को नहीं दोस गुसांई । रवि पावक सुरसरि की नांई ।" कहकर व्यक्त किया था ।

१. भागवत, १०।३३।२७-२८
२. धर्मव्यातिक्रमो इष्ट ईश्वराणां च साहसम् ।
तेजीयसां न दोषाय वह्नेः सर्वभुजो यथा ।।—१०।३३।३०

परन्तु क्या शुकदेव का उपर्युक्त कथन वास्तव में संतोषप्रद है ? शायद नहीं, क्योंकि स्वयं कृष्णोक्त गीता में ही कहा गया है—

यद् यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः ।
स यत्प्रमाणं कुरुते लोकस्तदनुवर्तते ॥—३ । २१

'श्रेष्ठ पुरुषों के आचरण का ही अनुकरण सामान्य जन भी करते हैं। अतः उनसे यह अपेक्षा की जाती है कि वे अपने आचरण को आदर्श और पवित्र बनायें ताकि अन्य लोग भी उनका अनुकरण कर सदाचारी बनें ।' क्या 'भागवत' के समर्थकों ने कभी इस बात पर भी ध्यान दिया है कि यदि जन-सामान्य कृष्ण के पर-दाराभिमर्षण-रूपी पाप-कृत्य का अनुसरण करने लगे तो क्या समाज रसातल को नहीं चला जायगा ? और ऐसा होने से समाज में उच्छृङ्खलता तथा अराजकता की जैसी वृद्धि होगी क्या उसके लिए 'भागवत'-जैसे ग्रन्थों को दोषी नहीं ठहराया जायगा ? शुकदेव जी के उत्तर से पाठकों का तो कुछ भी समाधान नहीं होता है, बल्कि यह अवश्य जान पड़ता है कि दाल में कुछ काला है। यदि कृष्ण ने वास्तव में परदार-संसर्ग नहीं किया होता, अथवा वे पुराण-समर्थकों के अनुसार मात्र १० वर्ष के बेसमझ बालक ही होते तो क्या परीक्षित को कुत्ते ने काटा था जो वह ऐसा सवाल करता ?

इस प्रसंग को अनावश्यक विस्तार न देकर इतना ही कह देना पर्याप्त है कि कृष्ण-गोपी-प्रसंग का यह पुराण-वर्णित आख्यान हमारी संस्कृति का अमिट कलंक है। यदि दुर्जन-तोष-न्याय से इसे आध्यात्मिक सम्बन्धों की रूपकात्मक कल्पना ही मान लें, तथा इसी आधार पर गोपियों के आचरण को भक्ति-विह्वल स्थिति में किया हुआ मान लें, तो भी पुराणों के उन वासना-रंजित स्थलों का क्या समाधान होगा जिनमें विषय-वासना का उद्दाम नर्तन हुआ है ? ऐसे उदाहरण राधा-कृष्ण-प्रसंग में बहुतायत से आये हैं। पुराणों और परवर्ती कृष्ण-काव्य में विद्यमान गर्हित स्थूलता ही कृष्ण-चरित्र की सबसे बड़ी विकृति है। जबतक पुराण हमारे लिए मान्य रहेंगे तबतक कृष्ण-चरित्र को शुद्ध रूप में प्रस्तुत करना भी कठिन होगा, और जबतक कृष्ण का निर्मल एवं लोक-पावन चरित्र जन-समाज के समक्ष नहीं आयगा तबतक विश्व-मानव के समक्ष आर्य-चरित्र का गौरवास्पद रूप हम किस प्रकार प्रस्तुत कर सकेंगे ? बंकिम के इस कथन के प्रारम्भिक

अंश से हम चाहे सहमत न हों किन्तु उसका शेषांश हमारे समक्ष एक महान् सत्य का उद्घाटन करता है—" 'भागवत' में भक्ति का जो गूढ़ तत्त्व है वह जयदेव गोस्वामी के हाथों में जाकर मदन-धर्मोत्सव बन गया। तब से हमारी मातृभूमि मदनोत्सव के बोझ से दबी चली आती है। इस हेतु कृष्ण-चरित्र की नूतन व्याख्या की आवश्यकता है।"[1]

१. कृष्ण-चरित्र, पृ० १६४

अध्याय ११

राधा-कृष्ण

कृष्ण-सम्बन्धी पौराणिक वाङ्मय में राधा का विशिष्ट स्थान है। उसे कृष्ण की प्रेयसी के रूप में उल्लिखित किया गया है। यहाँ यह ध्यान रखना आवश्यक है कि राधा, कृष्ण की परिणीता पत्नी नहीं है। कृष्ण का विवाह तो विदर्भराज भीष्मक की पुत्री रुक्मिणी के साथ ही हुआ था। तथापि, राधा और कृष्ण का अविनाभाव सम्बन्ध पौराणिक धर्म में स्थापित हो गया है। राधा के बिना कृष्ण की कल्पना भी असम्भव लगती है। उसे कृष्ण की प्रमुख शक्ति के रूप में कल्पित किया गया है और कहीं-कहीं इस प्रेमी-युग्म को पुरुष एवं प्रकृति का स्थानापन्न भी कहा गया है। कृष्ण-विषयक हमारा विवेचन शुद्ध ऐतिहासिक गवेषणा पर आधारित होने के कारण हमें इस प्रसंग को किसी आध्यात्मिक रहस्य अथवा रूपक-योजना के रूप में नहीं देखना है। हमारा प्रयत्न यह बताना होगा कि कृष्ण-विषयक पुरातन एवं मान्य साहित्य में तो राधा का कहीं भी उल्लेख नहीं है; हाँ, परवर्ती पुराणों, काव्यों तथा साम्प्रदायिक ग्रन्थों में उसकी चर्चा अवश्य मिलती है।

कृष्ण-चरित के मुख्य उपादानभूत 'महाभारत' तथा 'विष्णु' एवं 'भागवतपुराण' तक में राधा का कहीं उल्लेख नहीं मिलता है। अकेला 'ब्रह्मवैवर्तपुराण' ही राधा का उल्लेख करता है। 'भागवत' के टीका-कारों को जब मूल ग्रन्थ में 'राधा' का कोई संदर्भ नहीं मिला तो उन्होंने पाद-टिप्पणियों में राधा का नाम इस आधार पर जोड़ना आरम्भ कर दिया कि 'रास पंचाध्यायी' में, जहाँ कृष्ण का किसी विशेष गोपी के साथ अन्तर्धान होना लिखा है, वह विशिष्ट गोपी राधा ही थी।[1] भागवतकार का अभिप्राय यहाँ राधा से ही है, यह टीकाकारों

१. भागवत, १० पू०, अध्याय ३०

का अनुमान-मात्र है, क्योंकि किसी विशेष गोपी के साथ कृष्ण का ग़ायब हो जाना 'राधा' के अस्तित्व की सिद्धि का साधक नहीं हो सकता; हाँ, ऐसा सोचना गोपियों की ईर्ष्याजन्य मनःस्थिति में सम्भव तो है।

अतः, यह स्वीकार करने में कुछ भी शंका नहीं होनी चाहिए कि जो राधा आज वैष्णव भक्तों द्वारा 'स्वामिनी जी' और 'लाडिली जी' जैसे विरुद धारण कर कृष्ण की ह्लादिनी शक्ति के रूप में सर्वमान्य हो चुकी है तथा जिसके बिना कृष्ण की पौराणिक कल्पना अधूरी रहती है, उसका अस्तित्व भी 'महाभारत', 'हरिवंश', 'विष्णुपुराण' तथा 'भागवत' में नहीं है। जैसा कि हम देख चुके हैं 'राधा' का प्रथम बार उल्लेख 'ब्रह्मवैवर्तपुराण' में हुआ है। प्रो० विल्सन की सम्मति में यह पुराण सर्वथा नवीन है। बंकिमचन्द्र के अनुसार 'ब्रह्मवैवर्त' का प्रचलित संस्करण अधिक पुराना नहीं है। पं० वेंकटेशनारायण-तिवारी ने अपने एक लेख में इस पुराण के प्रचलित संकलन का काल सोलहवीं शताब्दी माना है।[1] 'मत्स्यपुराण' में 'ब्रह्मवैवर्तपुराण' का जो लक्षण दिया गया है वह वर्तमान में उपलब्ध 'ब्रह्मवैवर्त' में घटित नहीं होता, इससे बंकिम का अनुमान है कि प्राचीन 'ब्रह्मवैवर्त' लुप्त हो गया और उसके स्थान पर यह नवीन ग्रन्थ प्रचलित हो गया। ख़ैर, कुछ भी हो, प्रचलित 'ब्रह्मवैवर्त' में ही राधा की प्रथम कल्पना की गई है और इसकी नवीनता सिद्ध हो चुकी है। अतः ऐतिहासिक दृष्टि से राधा-प्रसंग को कृष्ण के जीवन का एक प्रक्षिप्त अंश ही मानना होगा।

इस पुराण के अनुसार 'राधा' कृष्ण की अधिष्ठात्री शक्ति है। उसका कृष्ण से वैसा ही अविभाज्य सम्बन्ध है जैसा सांख्य-वर्णित पुरुष एवं प्रकृति का। आश्चर्य की बात तो यह है कि पुराणों के जो नवीन व्याख्याकार राधा-कृष्ण के पुराण-वर्णित अश्लील प्रसंगों का समाधान स्वकल्पित युक्तियों के आधार पर करना चाहते हैं, वे ऐसा करते समय यह भूल जाते हैं कि इस पुराण में तो राधा-कृष्ण का जो घोर शृंगारपूर्ण चित्र अंकित किया गया है, वह इतना अश्लील, वीभत्स एवं ग्राम्य है कि उसपर आध्यात्मिकता, अलौकिकता तथा दिव्यता

का कितना ही मुलम्मा क्यों न चढ़ाया जाय, वास्तविकता को छिपाना कठिन है। आगे के विवेचन से यह सब स्वतः ही स्पष्ट हो जायगा।

आज से कई वर्ष पूर्व प्रसिद्ध नाटककार तथा पारसी रंगमंच के कुशल लेखक पं० नारायणप्रसाद 'बेताव' ने 'राधा-कृष्ण का नाता' शीर्षक एक छोटी-सी पुस्तक लिखी थी। उसमें अत्यन्त मनोरंजक शैली में राधा और कृष्ण के परस्पर पिता-पुत्री, माता-पुत्र, पति-पत्नी और भाभी तथा ननद के पुत्र के सम्बन्ध 'ब्रह्मवैवर्तपुराण' के प्रमाणों से ही सिद्ध किये थे। अपने लेख के अन्त में लेखक अत्यन्त विनम्र भाव से भगवान् कृष्ण से ही पूछता है—कृपा कर बताएँ इनमें से आपका राधा से कौन-सा सम्बन्ध था? क्या ये सभी सत्य हैं या सभी असत्य? अथवा, इनमें से एक सत्य है और शेष असत्य? निष्कर्ष-रूप में लेखक यही कहता है कि राधा का पुराणोक्त वर्णन तथा कृष्ण से उसके प्रेम-सम्बन्ध का यह सम्पूर्ण प्रसंग ही कल्पनिक है और 'ब्रह्मवैवर्त' के अतिरिक्त कहीं अन्यत्र यह प्रसंग नहीं आया है।

यहाँ इस पुराण के आधार पर यह दिखाना आवश्यक है कि कृष्ण और राधा के पारस्परिक सम्बन्धों का उल्लेख उपर्युक्त प्रकार से करके पुराणकार स्वयं ही इसे असम्भव, मिथ्या और परस्पर-विरुद्ध बता रहा है।

राधा : कृष्ण की पुत्री

'ब्रह्मवैवर्तपुराण' के ब्रह्मखण्ड के पाँचवें अध्याय में राधा की उत्पत्ति इस प्रकार बताई गई है—

आविर्बभूव कन्यैका कृष्णस्य वामपार्श्वतः।। (२५)
तेन राधा समाख्याता पुराविद्भिर्द्विजोत्तमः।। (२६)

अर्थात् "कृष्ण के वामपार्श्व से एक कन्या उत्पन्न हुई। पुराकल्प को जाननेवाले ब्राह्मणों ने उसे 'राधा' नाम दिया।" अगले श्लोक में उसे कृष्ण की प्राणाधिष्ठात्री देवी कहा गया है तथा उसे कृष्ण के प्राणों से उत्पन्न माना गया है—

प्राणाधिष्ठात्री देवी सा कृष्णस्य परमात्मनः।
आविर्बभूव प्राणेभ्यः प्राणेभ्योऽपि गरीयसी।।

(ब्रह्मखण्ड, ५।२७)

प्रथम तो राधा को कृष्ण के वाम पार्श्व से उत्पन्न बताना और उसके तुरन्त बाद उसे प्राणों से उत्पन्न बताना लेखक का उन्मत्त प्रलाप है। पार्श्व और प्राण एक वस्तु तो हैं नहीं। अवश्य ही पुराणकार ने यह भी ध्यान नहीं रक्खा कि वह पहले क्या लिख चुका और अब क्या लिख रहा है।

यही राधा, जो गोलोक में कृष्ण की शाश्वत संगिनी के रूप में रहकर चिरविहार करती है, श्रीदामा के शापवश मृत्युलोक में वृषभानु गोप की पुत्री के रूप में अवतीर्ण हुई। अब उसने माता कलावती के गर्भ से जन्म लिया—

वृषभानु सुता सा च माता तस्याः कलावती।

(कृष्ण पू०, खण्ड १३। ९२)

यहाँ भी इसे कृष्ण के अर्द्धांश से उत्पन्न कहा गया है—

श्रीकृष्णार्द्धसम्भूता तेन तुल्या च तेजसा॥

(कृ० पू०, खण्ड १७। २९)

यही बात अन्यत्र भी कृष्ण-जन्मखण्ड के पूर्वार्द्ध, अध्याय १७।२२९, अध्याय ४१।७२, उत्तरार्द्ध के अध्याय १२४।९४ में भी दुहराई गई है। इस वर्णन को देखते हुए यदि पं० बेताब ने राधा को कृष्ण की पुत्री ठहराया तो उसे अनुचित नहीं कहा जा सकता। पुत्री को 'अंगजा' कहते हैं और उपर्युक्त प्रमाणों से यह स्पष्ट हुआ कि राधा कृष्ण के अंग से ही उत्पन्न हुई थी, उसी प्रकार जैसे इस्लाम धर्म में आदम की पसली से हव्वा की उत्पत्ति मानी गई है। फिर इस पिता-पुत्री के सम्बन्ध को शृंगार में क्यों घसीटा गया?

राधा : कृष्ण की पत्नी

अब हम उन प्रसंगों को देखें जिनमें राधा कृष्ण की पत्नी के रूप में वर्णित हुई है। प्रकृति खण्ड के ४८वें अध्याय में महादेव राधा को कृष्ण की पत्नी कहते हैं—

'स्वयं राधा कृष्ण-पत्नी कृष्ण-वक्षःस्थलास्थिता॥' (४७)

राधा और कृष्ण का विवाह स्वयं ब्रह्मा ने कराया, यह भी इस पुराण में अनेक स्थानों पर आया है। यथा—कृष्ण-जन्मखण्ड-पूर्वार्द्ध, अध्याय १५ में राधा और कृष्ण के विवाह का विस्तृत वर्णन है जिसमें यज्ञ-प्रदक्षिणा, पाणिग्रहण आदि सभी शास्त्रोक्त क्रियाओं का उल्लेख

है। अब किसी को यह शंका नहीं रह जानी चाहिए कि कृष्ण से विवाह वेदोक्त विधि से नहीं हुआ था। बाणासुर के आक्षेपों का उत्तर देते हुए कृष्ण-जन्मखण्ड के उत्तरार्द्ध, अध्याय ११५ में अनिरुद्ध स्वीकार करते हैं कि इस विवाह में ब्रह्मा ने ही पौरोहित्य किया था—

पाणिं जग्राह राधायाः स्वयं ब्रह्मा पुरोहितः। (८८)

सिद्ध हुआ कि राधा कृष्ण की विवाहिता पत्नी थी।

राधा : कृष्ण की मामी

अब इन दोनों के तीसरे प्रकार के सम्बन्ध को देखें! —प्रकृतिखण्ड अध्याय ४९ में निम्न श्लोक मिलते हैं—

राधा जगाम वाराहे गोकुलं भारतं सती।
वृषभानोश्च वैश्यस्य सा च कन्या बभूव ह॥ (३५)

वाराह-कल्प में राधा गोकुल जाकर वृषभानु की कन्या बनी—

अतीते द्वादशाब्दे तु दृष्ट्वां तां नवयौवनाम्।
सार्द्धं रायाण वैश्येन तत्सम्बन्धं चकार स॥ (३७)

जब वह १२ वर्ष की होकर यौवन को प्राप्त हुई तो रायाण वैश्य से उसका विवाह-सम्बन्ध कर दिया गया। यह रायाण कौन था? ब्रह्म-वैवर्तकार कहता है—

कृष्णमातुर्यशोदा या रायाणस्तत्सहोदरः।
गोलोके गोप कृष्णांशः सम्बन्धात्कृष्णमातुलः॥ (४०)

अर्थात् 'कृष्ण की माता यशोदा का भाई रायाण था, जो गोलोक में तो कृष्ण का ही अंशभूत एक गोप था, किन्तु यहाँ मर्त्यलोक में वह कृष्ण का मामा था।'

यहाँ पुराणकार ने एक चालाकी अवश्य की है। यदि वह प्रकटतः एक ओर तो रायाण को राधा का विवाहित पति बताता और उधर ब्रह्मा द्वारा कृष्ण के साथ राधा का विवाह कराया जाना भी लिखता तो राधा का बहुपतित्व स्वतः ही सिद्ध हो जाता। सम्भवतः इसी आपत्ति को दूर करने के लिए उसने 'छाया राधा' की कल्पना की। इसी अध्याय का ३८वाँ श्लोक है—

छायां संस्थाप्य तद् गेहे साऽन्तर्धानमवाप ह।
बभूव तस्य वैश्यस्य विवाहश्छायया सह॥

अर्थात् 'वह राधा अपनी छाया को घर में रखकर स्वयं अन्तर्धान हो गई, उसी छाया के साथ रायाण का विवाह हुआ।' इसी 'छाया राधा'

की कल्पना के बल पर पं० दीनानाथ शास्त्री सारस्वत ने 'सनातन-धर्मालोक' के छठे पुष्प में पुराण-वर्णित इस कलंक-गाथा के मार्जन का असफल प्रयास किया है। उनके अनुसार वास्तविक राधा तो कृष्ण के साथ ही रही और छाया ही रायाण की पत्नी बनी—

स्वयं राधा हरैः क्रोडे छाया रायाण-मंदिरे। (४२)

कृष्ण-जन्म उत्तर खण्ड में भी इसी प्रकार का उल्लेख निम्न श्लोकों में आया है। यहाँ कृष्ण कहते हैं—

मत्कलांशश्च रायाणस्त्वां विवाहे ग्रहीष्यति। (८६।३६)

विवाह काले रायाणस्त्वां च छायां ग्रहीष्यति॥ (३८)

'मेरी कला का अंश रायाण ही तुम्हें ग्रहण करेगा, तुम्हें नहीं; बल्कि तुम्हारी छाया को ही विवाह के अवसर पर वह पत्नी-रूप में स्वीकार करेगा।' फलतः

स्वयं राधा मम क्रोडे छाया रायाण-कामिनी॥ (८६।४०)

'राधा तो मेरे वक्ष पर ही रहेगी, केवल उसकी छाया ही रायाण की पत्नी बनेगी।' राधा स्वयं भी उक्त खण्ड के १११वें अध्याय में कहती है—

अहमेव स्वयं राधा छाया रायाणकामिनी। (५७)

'मैं ही राधा हूँ, रायाण-पत्नी तो मेरी छाया है।' अब यहाँ दो बातें वक्तव्य हैं—प्रथम तो बेचारे रायाण को धोखे में रक्खा गया। उसे वास्तविक राधा के स्थान पर उसकी छाया को ही पत्नी बनाकर संतोष करना पड़ा। छाया-राधा से वह किस प्रकार संतुष्ट हुआ होगा, यह पौराणिकों के लिए अन्वेषणीय है। कृष्ण का भी यहाँ छलपूर्ण आचरण स्पष्ट होता है। उन्होंने वास्तविक राधा को तो अपनी प्रेयसी बनाये रक्खा और उसकी छाया का विवाह रायाण से करा दिया। कुछ भी हो, यह तो मानना ही पड़ेगा कि 'छाया राधा' का प्रपंच इसीलिए खड़ा किया गया है जिससे कि कृष्ण के 'मातुल-पत्नी-गमन' के पाप का परिमार्जन किया जा सके। उक्त अपराध का मार्जन कितना हुआ या नहीं हुआ, यह तो उन लोगों के लिए सोचने का विषय है जो पुराणों की मिथ्या गाथाओं को आँख मूँदकर प्रामाणिक स्वीकार करते हैं, परन्तु हम तो इस सारे प्रसंग को ही मिथ्या कल्पना मानते हैं। जब राधा ही पुराणकारों की कल्पना-विलास से जन्मी तो 'छाया-राधा' तो वैसे ही मिथ्या सिद्ध हो गई।

राधा : कृष्ण की माता

राधा और कृष्ण को एक अन्य विचित्र स्थिति में भी पुराणकार ने चित्रित किया है। पुराण लिखता है कि उस समय कृष्ण छोटे बालक ही थे। एक बार नन्द उन्हें लेकर भाण्डीर वन में गोचारण हेतु गये। वहाँ अचानक ही आकाश मेघावृत हो गया और झंझावात का शब्द सुनाई पड़ने लगा। मूसलाधार वृष्टि भी होने लगी। तब नन्द को यह चिन्ता हुई कि बालक कृष्ण को सुरक्षित रूप से घर तक कैसे पहुँचाया जाय? अचानक राधा वहाँ आ पहुँची। नंद ने रोते हुए बालक को उसे दे दिया। राधा कृष्ण को लेकर चली गई। अब विचार करने की बात है कि राधा पूर्ण यौवन-सम्पन्ना युवती है और कृष्ण उसकी गोद में पुत्र के तुल्य बालक हैं। क्या यह माता-पुत्र का सम्बन्ध नहीं है? परन्तु पुराणकार को इतना लिखकर ही सन्तोष नहीं हुआ। उसने आगे जो कुछ लिखा उसका सार यह है—

राधा ने कृष्ण को गोद में लेकर काम-वासना का अनुभव किया। उसका शरीर रति-भाव के उत्पन्न होने के कारण कंटकित हो गया। तुरन्त उसने रास-मण्डप को स्मरण किया, जिसके फलस्वरूप एक रास-मण्डप स्वत: ही बन गया और उसमें सभी प्रकार की वासनोत्तेजक सामग्रियाँ उपस्थित हो गईं। बालक कृष्ण भी एक परम रूपवान् नवयुवक के रूप में परिवर्तित हो गये और उसके पश्चात् ···जो कुछ होना था वहीं हुआ। यहाँ पुराणकार खुलकर खेला है। राधा-कृष्ण का जो संभोग-वर्णन इस पुराण में मिलता है वह अपनी अश्लीलता तथा ग्राम्य वर्णनों की दृष्टि से अद्वितीय है। जो लोग ऐसे गर्हित तथा शिष्ट रुचि के प्रतिकूल वर्णनों को पुराणों में देखते हुए भी इन ग्रंथों को व्यास मुनिकृत धर्म-ग्रंथों की संज्ञा देते हैं, उनकी बुद्धि पर तरस आता है। यदि 'ब्रह्मवैवर्त' जैसे वासनोत्तेजक शृंगार-वर्णनों से भरपूर ग्रंथ को भी धर्म-शास्त्र की संज्ञा दी जा सकती है तो कामशास्त्र किसे कहा जायगा? इसी अध्याय के कुछ ऐसे ही श्लोक नमूने के लिए प्रस्तुत हैं—

करे धृत्वा च तां कृष्णः स्थापयामास वक्षसि।
चकार शिथिलं वस्त्रं चुम्बनं च चतुर्विधम्॥ (१४८)

'कृष्ण ने राधा को हाथ से पकड़कर अपने वक्ष से लगा लिया और उसके वस्त्र शिथिल कर उसका चतुर्विध चुम्बन किया।'

बभूव रतियुद्धेन विच्छिन्न क्षुद्रघण्टिका।
चुम्बनेनोष्ठरागश्च ह्याश्लेषेण च पत्रकम्॥ (१४९)

'जो रतियुद्ध हुआ उससे राधा की करधनी टूट गई। चुम्बन से अधरों का रंग उड़ गया और आलिंगन से पत्रावली नष्ट हो गई।'

मूर्च्छामवाप सा राधा बुबुधेन दिवानिशम्॥ (१५१)

'नवसंगम से राधा मूर्च्छित हो गई तथा रात-दिन तक उसे होश ही नहीं आया।'

शृङ्गाराष्ट्रविधं कृष्णश्चकार कामशास्त्रवित्। (१५१)

'काम-शास्त्र के जाननेवाले कृष्ण ने आठ प्रकार का शृंगार किया।'
संभोग के पश्चात् कृष्ण ने पुनः शिशु का रूप धारण कर लिया—

बभूव शिशुरूपं च कैशोरं च विहाय च॥ (१६३)

उसी बालक को पुनः अपने अंक में लेकर राधा यशोदा के निकट गई और बोली—

गृहाण बालकं भद्रे स्तनं दत्वा प्रबोधय। (१७५)

'हे कल्याणी, अपने बालक को लो और स्तन्यपान कराकर इसे सावधान करो।'

अब कोई भी व्यक्ति विरोधाभास देख सकता है कि माता के तुल्य राधा ने कृष्ण को स्व-क्रोड़ में लेकर उसके प्रति प्रथम तो वात्सल्य-भाव प्रकट किया, परन्तु नंद से कृष्ण को गोद में लेने और उसे वापस यशोदा को लौटाने तक की अवधि में जो एक विचित्र संभोग-काण्ड घटित हो गया, उसका विस्तृत विवरण ऊपर दिया जा चुका है।

परन्तु पुराणों के समर्थकों को ऐसे परस्पर-विरुद्ध प्रतीत होनेवाले तथा महापुरुषों के चरित्र को विकृत रूप में पेश करनेवाले कथानकों को पढ़कर भी कोई ग्लानि नहीं होती। जो लोग 'ब्रह्मवैवर्तपुराण' के उपर्युक्त प्रसंगों को पढ़कर भी राधा और कृष्ण के प्रेम को वासना-पंक से सर्वथा रहित एवं विशुद्ध आध्यात्मिक भावापन्न मानते हैं, उनकी विचार-शक्ति के प्रति खेद ही प्रकट किया जा सकता है।

राधा के तथाकथित आलंकारिक रूप की समीक्षा करने से पूर्व यह देख लेना आवश्यक है कि 'ब्रह्मवैवर्त' में अवतारवाद का सिद्धान्त एक अभिनव रूप में उपस्थित हुआ है। अब तक की मान्यता तो यह थी कि कृष्ण विष्णु के अवतार हैं, परन्तु 'ब्रह्मवैवर्तपुराण' ने नक्शा ही पलट दिया। यहाँ कृष्ण ही अनादि चिन्मय ब्रह्म ठहराये गये हैं तथा

ब्रह्मा, विष्णु और रुद्र को उनकी कृति माना गया है। इस पुराण के अनुसार कृष्ण का निवास गोलोक में है जहाँ वे अपनी आद्या शक्ति राधा के साथ निवास करते हैं। गोलोक में राधा के अतिरिक्त अन्य गोपियाँ भी रहती हैं। इनमें एक विरजा नामक गोपी भी है। विरजा के साथ कृष्ण ने राधा के अनजाने रति-प्रसंग किया। जब राधा को इस बात का पता चला तो वह तुरन्त घटनास्थल पर आई, परन्तु उसके पहुँचने के पहले ही अपराधी तो फ़रार हो चुका था। कृष्ण अन्तर्धान हो गये और विरजा ने योग-बल से शरीर त्यागकर नदी का रूप धारण कर लिया। कृष्ण ने जब अपनी प्रिया को नदी-रूप में देखा तो उच्च स्वर से रोने लगे। पुराणकारों ने तो कृष्ण के रुदन को भी भगवान् की लीला ही माना है। इसके पश्चात् कृष्ण की आज्ञा से विरजा ने पुनः स्त्री-शरीर धारण किया और कृष्ण के साथ रति-क्रीड़ा में लीन हो गई। विरजा और कृष्ण का यह संभोग-वर्णन तो नग्नता की दृष्टि से सीमा का अतिक्रमण कर जाता है। पुराण के इसी कामुकतापूर्ण शृंगार-वर्णन को देखकर वेंकटेशनारायण तिवारी को लिखना पड़ा—"भौतिक लीलाओं के वर्णन की नग्नता और कामुकता में यह कहना असम्भव है कि कौन किससे और कितना आगे बढ़ गया।"[१]

कृष्ण को पर-स्त्री में आसक्त देखकर राधा आपे से बाहर हो गई। उसने कृष्ण की शान में जो कुछ कहा उसे सम्पूर्णतया लिखना हमारा प्रयोजन नहीं है, परन्तु एक-दो श्लोक नमूने के रूप में लिख देते हैं—

हे कृष्ण विरजाकान्त गच्छ मत्पुरतो हरे।
कथं दुनोषि मां लोल रति-चौर-लम्पट ।। (३।५९)

'हे विरजा के प्यारे, मेरे निकट से दूर हो जाओ! हे रति-चोर लम्पट, मुझे क्यों कष्ट देते हो?' पुनः वह कहती है—

शीघ्रं पद्मावतीं गच्छ रत्नमालां मनोरमाम्।
अथवा वनमालां वा रूपेणाऽप्रतिमाम् व्रज ।। (३।६०)
हे नदीकान्त देवेश देवानां च गुरोर्गुरो।
मया ज्ञातोऽस्मि भद्रं ते गच्छ गच्छ ममाश्रमात् ।। (३।६१)
हे सुशीले शशिकान्ते हे पद्मावति माधवी।
निवार्यतां च धूर्तोऽयं किमत्राऽस्य प्रयोजनम् ।। (३।६२)

---

१. 'सरस्वती' में प्रकाशित लेख।

राधा ने कृष्ण के लिए रति-चोर, लम्पट, धूर्त जैसे शब्दों का प्रयोग किया। अपशब्दों की मानो धारा ही वहा दी। एक अन्य प्रसंग में भी कृष्ण को बुरा-भला कहने में राधा ने कोई कसर नहीं रक्खी। प्रकृति-खण्ड के ११वें अध्याय में जो गंगाविषयक उपाख्यान है उसमें भी कृष्ण को गंगा के साथ प्रेम करते देखकर राधा फटकारती है और चेतावनी देते हुए कहती है—

संगृह्येमां प्रियामिष्टा गोलोकाद् गच्छ लम्पट।
अन्यथा नहि ते भद्रं भविष्यति सुरेश्वर॥ (११।४५)

'अपनी इस प्रिया को लेकर, हे लम्पट, इस गोलोक से चले जाओ, अन्यथा अच्छा नहीं होगा।' पुराण के इस प्रसंग पर तिवारी जी ने ठीक ही लिखा है—"मृत्युलोक में जैसे, वैसे ही स्वर्ग में भी सौतों में लड़ाई होती है और एक से अधिक पत्नियों के पति चाहे विष्णु ही हों, उनका जीवन इस सौतिया-डाह के कारण कष्टमय हो जाता है।" तब यह कृष्ण का गोलोक क्या हुआ, किसी राजा या नवाब का अन्त:पुर हो गया! और कृष्ण परमात्मा क्या हुए, उनकी स्थिति तो बहुपत्नियों से पीड़ित लम्पट-कामी राजा की-सी हो गई! तिवारी जी का इस सम्बन्ध में यह कथन कितना मार्मिक है—"गोलोकस्थ परमात्मा श्रीकृष्ण की लम्पटता का इतना निश्शंक वर्णन पढ़कर मेरी तो बुद्धि चकरा जाती है। सोलहवीं सदी के नवाब और राजा-महाराजा जिस तरह लम्पटता करते थे और उनके रणवासों में जैसा जीवन रानियों को बिताना पड़ता था, उसी को आदर्श मानकर इस पुराण-लेखक ने जगत्पिता श्री कृष्ण के गोलोक की जीवनचर्या में व्यक्त करने की इच्छा की है।"

'ब्रह्मवैवर्त पुराण' के उपर्युक्त सभी प्रसंग राधा-कृष्ण की विलास-लीला का जिस शैली में वर्णन करते हैं वह अत्यन्त ग्राम्य तथा संस्कृति-रुचि के प्रतिकूल है। इन वासनोत्तेजक वर्णनों को पढ़कर कोई भी यह कहने का साहस नहीं कर सकता कि यह पुराण व्यास-जैसे विद्वान्, संयमी तथा तपस्वी ऋषि की रचना है। यह सब होने पर भी लोगों को, खास तौर से भक्तजनों को राधा और कृष्ण के सम्बन्ध में भक्ति-सम्बन्धी बड़ी-बड़ी आडम्बरपूर्ण बातें कहते सुना जाता है। वे यह कहकर पुराणों की रक्षा करने का प्रयत्न करते हैं कि ये सब प्रसंग आध्यात्मिक भावों से ओत-प्रोत हैं। ऐसे लोगों के कथन का सारांश इस प्रकार से प्रस्तुत किया जा सकता है—

(१) राधा और कृष्ण का सम्बन्ध अलौकिक और दिव्य है। इसमें किसी प्रकार की मांसलता एवं स्थूलता नहीं है।

(२) प्रसिद्ध वैदिक विद्वान् स्व० पं० श्रीपाद दामोदर सातवलेकर ने अपने एक लेख में लिखा था कि राधा का कृष्ण के प्रति पवित्र भक्ति-पूर्ण सम्बन्ध था। उसमें कामुकता के भावों को देखना भूल है।[1]

(३) बंकिम जैसे कृष्ण-चरित्र के गम्भीर आलोचक यद्यपि राधा के अस्तित्व को पुराण-लेखकों का कल्पना-विलास मात्र समझते हैं, परन्तु पुराणों के मिथ्या उपाख्यानों को एकदम त्याग देने के साहस के अभाव में वे इसे पुरुष और प्रकृति का रूपक मानते हैं। बंकिम ने राधा-कृष्ण-मिलन की घटना का आरम्भिक भाग तो 'कृष्ण जन्म खण्ड' से उद्धृत कर दिया, परन्तु 'ब्रह्मवैवर्त'-वर्णित राधा-कृष्ण के स्थूल विलास का वर्णन करने का साहस उन्हें भी नहीं हुआ। उन्होंने इतना लिखकर ही अपनी लेखनी को विराम दिया—"राधा-कृष्ण के ब्याह के बाद किसी वर्णन को यह कहना व्यर्थ है कि 'ब्रह्मवैवर्त' की रासलीला वस यथैव है।"[2]

पं० सातवलेकर जी के उपर्युक्त विचार के सम्बन्ध में तो इतना ही लिखना पर्याप्त होगा कि "नैष स्थाणोरपराधः यदेन यं न पश्यति"। "यदि 'ब्रह्मवैवर्त' के श्रृंगारी प्रसंगों की नग्नता को देखकर भी कोई उसे दृष्टि से ओझल करना चाहे तो इसका क्या उपाय है?" पुराणों ने तो कृष्ण-चरित को कलंकित करने में कोई कसर नहीं उठा रक्खी। कृष्ण की शान में इसी 'ब्रह्मवैवर्तपुराण' में लिखे गये निम्न श्लोकों की बानगी भी देखिये—

साक्षाज्जारश्च गोपीनां दुष्टः परमलम्पटः।
आगत्य मथुरां कुब्जां जघान मैथुनेन च॥

(कृष्ण जन्म खण्ड, उ० ११५।६१,६२)

'कृष्ण गोपियों के साक्षात् जार, दुष्ट तथा अत्यन्त लम्पट थे। उन्होंने मथुरा में जाकर कुब्जा को मैथुन से मार डाला।'

'ब्रह्मवैवर्त पुराण' का ही दूषित प्रभाव जयदेव, विद्यापति तथा चंडीदास पर पड़ा। चैतन्य की कीर्तन-मण्डली भी उससे अप्रभावित नहीं रही। हिन्दी के सूरदास आदि कवियों ने भी 'ब्रह्मवैवर्त'

---

१. कृष्ण का चरित्र, श्रीपाद दामोदर सातवलेकर, 'आर्यमित्र' २६ जून १९५२
२. कृष्ण चरित्र, पृ० १७८

के आधार पर ही राधा को परकीया नायिका के रूप में उपस्थित कर निम्न पद की रचना की जो सामाजिक मर्यादा तथा शिष्ट रुचि के सर्वथा विपरीत है—

नीवी ललित गही जदुराई ।

जबहिं सरोज धर्‌यो श्रीफल पर तब जसुमति तँह आई ।।

गोपी-प्रसंग का विवेचन करते हुए हम यह भी संकेत दे चुके हैं कि पुराण-वर्णित कृष्ण-गोपी तथा कृष्ण-राधा के इन शृंगारी प्रसंगों ने कालान्तर में रामोपासक-सम्प्रदाय को भी प्रभावित किया। जहाँ गोस्वामी तुलसीदास ने राम और सीता के मर्यादित आदर्श पति-पत्नी-प्रेम का पूर्ण संयम के साथ चित्रण किया है, वहाँ परवर्ती रामावत-सम्प्रदाय में परकीया-प्रेमभाव ने प्रवेश किया जिससे मर्यादा पुरुषोत्तम राम भी अपने एकपत्नी-व्रत को त्यागकर सीता की सौतों के प्रति प्रेम की पैंगें बढ़ाते हुए चित्रित किये गये हैं। रामोपासक सखी-सम्प्रदाय की कलुषित कहानी भी उतनी ही विकृत है जितनी कृष्ण-भक्त कवियों का वह काव्य, जिसमें राधा-कृष्ण के नाम से उद्दाम शृंगार की पंकिल धारायें बहाई गई हैं।[1]

अब हम उन लोगों के तर्कों पर विचार करें (बंकिम भी इसमें सम्मिलित हैं) जो राधा और कृष्ण को प्रकृति और पुरुष का प्रतीक मानकर पुराण-वर्णित इन प्रेम-प्रसंगों को रूपक सिद्ध करना चाहते हैं। इनके कथनानुसार वैष्णवों की राधा वही है जो सांख्यकार की मूल प्रकृति है तथा प्रकृति-रूपी राधा का पुरुष-रूपी कृष्ण के साथ विवाह विधि-सम्पादित है। जिस प्रकार पुरुष के साहाय्य अथवा उसके नैकट्य से ही प्रकृति सृष्टि-रचना में समर्थ होती है, उसी प्रकार कृष्ण और राधा सम्मिलित रूप से ही सृष्टि-प्रपंच की रचना में समर्थ होते हैं। बंकिम ने अपनी बात को सिद्ध करने के लिए 'सांख्य दर्शन' के सिद्धान्त को विस्तारपूर्वक उद्धृत किया है। 'ब्रह्मवैवर्त' तथा 'विष्णु पुराण' के लम्बे-लम्बे उद्धरण भी इसी बात को सिद्ध करने के लिए दिये हैं, परन्तु हमारी आपत्तियाँ स्पष्ट हैं—

१. राधा-कृष्ण को पुरुष और प्रकृति का वाचक मानने में पूर्व-पक्षी के पास कौन-से शास्त्रीय प्रमाण हैं? क्या 'सांख्यदर्शन' के किसी

१. द्रष्टव्य—रामचन्द्र शुक्ल रचित 'हिन्दी साहित्य का इतिहास' तथा 'वर्तमान श्री अयोध्या माहात्म्य' नामक पुस्तक।

मूल या व्याख्या-ग्रन्थ में भी कोई ऐसा संकेत मिलता है जिसके आधार पर पुराण-वर्णित इस प्रसंग को दर्शन का जामा पहनाया जा सके ? यदि नहीं तो सांख्य-शास्त्र से राधा-तत्त्व को पुष्ट करना बालू में से तेल निकालने के तुल्य है।

२. यदि पुराणों में कहीं राधा को मूल प्रकृति और कृष्ण को पुरुष कहा गया, वहाँ तक तो ठीक, परन्तु यह अन्वेषणीय है कि इनके सम्बन्ध-विवेचन में पुराणकार को ऐसी क्या आवश्यकता पड़ी कि वह स्थूल संभोगात्मक ब्यौरे देकर ही पुरुष-प्रकृति के दर्शन-प्रतिपादित स्वरूप एवं सम्बन्ध की विवेचना करे ? पुराणों के इन घोर शृंगारी प्रसंगों से सांख्य-वर्णित दार्शनिक सिद्धान्त की संगति कैसे लगेगी ? राधा और कृष्ण के जिन शारीरिक सम्बन्धों का खुलकर पुराणकार ने वर्णन किया है उन्हें 'सांख्यदर्शन' के सन्दर्भ में कैसे व्याख्यात किया जायगा ?

निश्चय ही इन आपत्तियों का उत्तर रूपक माननेवाले महानुभावों द्वारा दिया जाना सम्भव नहीं है। अतः, राधा-कृष्ण के प्रेम को आध्यात्मिक रूपक माननेवालों की धारणा ताश के पत्तों के महत्त्व की भाँति धराशायी हो जाती है। वस्तुतः पुराण-वर्णित राधा-कृष्ण तो वासना-लोक के तुच्छातितुच्छ कृमियों के तुल्य ही हैं। उनकी तुलना आर्ष-दर्शनों में प्रतिपादित सिद्धान्तों से करना सर्वथा अनुचित एवं अन्याय-पूर्ण है।

राधा-कृष्ण-प्रेम की इस निराधार कल्पना ने देश के चरित्र को कितना विकृत कर दिया है, इसका कोई लेखा-जोखा नहीं है। हमारे देशवासियों का आचार और चरित्र, उनका ओज और तेज, बल और पराक्रम ऐसी ही दूषित शृंगारी कथाओं तथा वासनोत्तेजक आख्यानों से नष्ट हुआ है। गोकुलिए गुसाइयों की लीलाओं तथा 'गोविन्द भवन' जैसे व्यभिचार के अड्डों को प्रोत्साहन देने में राधा-कृष्ण-प्रेम के ये विकृत प्रसंग ही उत्तरदायी हैं। प्रसिद्ध पुरातत्त्वज्ञ डॉ० रामकृष्ण-गोपाल भंडारकर ने इस सम्बन्ध में ठीक ही लिखा है—"कृष्ण की अपेक्षा राधा को प्रमुखता देनेवाली उपासना-प्रणाली ने एक ऐसे सम्प्रदाय को जन्म दिया जिसके सदस्य स्त्रियोचित व्यवहारों को धारण करते हैं, यहाँ तक कि मासिक धर्म का भी अभिनय करते हैं। उनके आचार-व्यवहार और कार्य इतने घृणाजनक होते हैं कि वे स्वयं भी

जनता के समक्ष नहीं आते। उनका उद्देश्य राधा की सखियाँ या सेविका बनने का होता है और सम्भवतः इसीलिये यह 'सखीभाव' की उपासना कहलाती है। यहाँ इसका उल्लेख करने की आवश्यकता इसलिये पड़ी कि जब दाम्पत्य-भाव को स्थूल रूप प्रदान किया जाता है तो इस प्रकार के घृणोत्पादक भ्रष्टाचार का उत्पन्न हो जाना अवश्यम्भावी ही है।"[१]

१. "The worship of Radha more prominently even than that of Krishna, has given rise to a sect, the members or which assume the garb of women with all their ordinary manners and affect to be subject even to their monthly sickness. Their appearance and acts are so disgusting that they do not show themselves very much in public. Their goal is the realisation of the position of female companions and attendents of Radha, and hence probably they assume the name of Sakhi Bhavas (Literally, the condition of companions). They deserve notice here only to show that, when the female element is idolised and made the objects of special worship, such disgusting corruptions must ensue." —Vaishnavism, Shaivism and Minor Religious Systems, p. 86.

अध्याय १२

वृन्दावन की अवशिष्ट लीलायें

'भागवत' में कुछ ऐसी घटनायें मिलती हैं जिनका उल्लेख 'महाभारत', 'हरिवंश' और 'विष्णुपुराण' में भी नहीं है। ये घटनायें निम्नलिखित हैं—

(१) नन्द जी एक दिन यमुना में स्नान कर रहे थे कि वरुण के दूत उन्हें पकड़कर अपने स्वामी के पास ले गये। कृष्ण उन्हें छुड़ाकर ले आये।[1] सम्भवत: नंद को कृष्ण ने नदी में से डूबते बचाया होगा। इसी घटना को पुराण-लेखक ने अतिरंजित रूप दे दिया है।

(२) एक दिन एक साँप ने नंद को पकड़ लिया। कृष्ण ने साँप को मारकर उन्हें छुड़ा लिया। 'भागवत' के अनुसार वह सुदर्शन नामक विद्याधर था। कृष्ण के हाथ से मारा जाकर वह स्व-स्थान को चला गया।[2] कथा का तात्पर्य केवल इतना ही है कि कृष्ण ने एक बार नंद को साँप से बचाया।

(३) शंखचूड़ नामक एक यक्ष एक दिन गोपियों को पकड़कर ले गया। कृष्ण और बलराम उसके पीछे दौड़े और उसे मारकर गोपियों की रक्षा की।[3]

'भागवत' के अतिरिक्त अन्य ग्रन्थों में इन घटनाओं का उल्लेख न होने के कारण ये सभी संदिग्ध ठहरती हैं।

अरिष्टासुर और केशी नामक असुर, बैल और घोड़े का रूप धारण कर आये तथा उन्होंने कृष्ण को मारने का विचार किया, परन्तु ये दोनों कृष्ण के हाथों मारे गये।[4] शिशुपाल ने इन घटनाओं का वर्णन इस प्रकार किया है—"यदि इन्होंने बचपन में एक गिद्ध को मार डाला

१. भागवत, १०।२८
२. वही, १०।३४
३. वही
४. भागवत, १०।३६,३७; विष्णुपुराण, ५।१४–१६

तो इसमें आश्चर्य की क्या बात है ? युद्ध न जाननेवाले अश्व और बैल को भी मार डाला हो तो इसमें कोई विचित्रता नहीं।"[१] इसी के आधार पर अगले श्लोक में वह कृष्ण को 'गोघ्न' भी कहता है।[२] इन उद्दण्ड पशुओं को मारने में कृष्ण का अभिप्राय यही था कि मनुष्य-समाज का अहित करनेवाले पशुओं को दण्ड देना भी धर्म है।

इन घटनाओं की चर्चा करते समय बंकिम को 'अथर्ववेद' और 'ऋग्वेद' के उन प्रकरणों का स्मरण हो आता है जिनमें उनके अनुसार केशी-वध की चर्चा है। वे लिखते हैं—"केशी-वध का वृत्तान्त अथर्व-संहिता में है...ऋग्वेद-संहिता में एक केशी-सूक्त है।[3] यह केशी कौन है, इसका पता नहीं।"[४] हम इस सम्बन्ध में अपना मन्तव्य पहले ही प्रकट कर चुके हैं कि कृष्ण-चरित का विवेचन करते समय वेद के संदर्भ को देखने की कोई आवश्यकता नहीं है। वेदों का काल कृष्ण के काल से बहुत पहले का है। उसमें किसी लौकिक इतिहास का वर्णन भी नहीं है, अतः कृष्ण के जीवन-प्रसंगों की वेदों में तलाश व्यर्थ है।

कृष्ण के बाल्य और कैशोर काल की जिन घटनाओं का विवेचन ऊपर हुआ है, उनके आधार पुराण-ग्रन्थ हैं। ये सब घटनायें अलौकिक और अप्राकृतिक तत्त्वों से भरपूर हैं तथा कृष्ण के जीवन-चरित के मुख्य आधार-ग्रन्थ 'महाभारत' में इनका कहीं विस्तारपूर्वक उल्लेख नहीं मिलता, यत्र-तत्र छुटपुट संकेतों का मिलना भिन्न बात है। यदि इनमें सत्यता है तो इतनी ही कि अत्याचारी कंस के भय से बलराम और कृष्ण का पालन-पोषण नंद के घर पर हुआ। वहाँ उनका बाल्य-काल बड़े आनन्द से व्यतीत हुआ। कृष्ण अपने भुवन-मोहन-रूप और आर्य-जनोचित गुणों के कारण जन-साधारण में बड़े लोकप्रिय हुए। उन्होंने कैशोर वय में ही वृन्दावन के अनेक अनिष्टकारी पशुओं को मारकर अपनी वीरता का परिचय दिया तथा जिस गोप-समाज में वे रहते थे, उसे निर्भीक बनाया। उनके जीवन के प्रारम्भिक भाग की यही झाँकी है।

---

१. यद्यनेन हतो बाल्ये शकुनिश्चित्रमत्र किम्।
तौ वाश्ववृषभौ भीष्म यौ न युद्धविशारदौ॥ (सभापर्व, ४१।७)

२. सभापर्व, ४१।१६

३. ऋग्वेद, मण्डल १०, सूक्त १३६

४. कृष्ण-चरित्र, पृ० १९४

अध्याय १३

कंस-वध

वृन्दावन की लीलायें समाप्त हुईं। इसके पश्चात् कृष्ण मथुरा गये और वहाँ उन्होंने अत्याचारी कंस को मारकर उसके पिता उग्रसेन को राजगद्दी पर अभिषिक्त किया। धर्मराज्य-संस्थापन के जिस उद्देश्य को कृष्ण ने अपने भावी जीवन में पूर्ण किया, उसका प्रारम्भ कंस-वध से ही होता है। 'भागवत' में कंस-वध की कथा विस्तारपूर्वक वर्णित है। कृष्ण के बल और पराक्रम के समाचार जब कंस को मिले तो वह चिन्तित हो उठा। देवर्षि नारद ने भी यह सूचना दे दी थी कि बलराम और कृष्ण वसुदेव के ही पुत्र हैं तथा उसने देवकी की जिस आठवीं संतान को मारा था वह तो नंद की पुत्री थी। अब कृष्ण को मारने के उपाय सोचे जाने लगे। कंस ने एक धनुष-यज्ञ का आयोजन किया और यादव अक्रूर को कृष्ण तथा बलराम को मथुरा लिवा लाने के लिए भेजा। अक्रूर के साथ राम और कृष्ण मथुरा पहुँचे तथा कंस के दरबार में जाने की तैयारी करने लगे।

'भागवत' के अनुसार जब उन्होंने राजसभा में जाने के लिए प्रस्थान किया तो मार्ग में एक उद्दण्ड धोबी की हत्या की तथा एक माली से सत्कार ग्रहण किया।[1] यहाँ तक तो ग़नीमत थी, किन्तु भागवतकार इतने से ही संतुष्ट नहीं हुआ। उसने आगे कुब्जा-प्रसंग उपस्थित कर एक बार पुनः कृष्ण के चरित को शृंगार रस में आप्लावित कर दिया। 'महाभारत' में कुब्जा की कथा का कोई संकेत नहीं है। 'विष्णुपुराण' में यह कथा आई तो है, परन्तु 'भागवत' की भाँति उसका अतिरंजित विस्तार नहीं है। 'भागवत' में लिखा है कि 'राजदरबार के मार्ग में कंस की दासी कुब्जा ने राम तथा कृष्ण को चंदन तथा अंगराग भेंट किया। इस सत्कार के पुरस्कार-रूप में कृष्ण ने कुब्जा के वक्रांग को

१. भागवत, १०।४१; विष्णुपुराण, ५।१९

सीधा कर दिया तथा उसकी कुरूपता दूर कर उसे सुन्दर युवती बना दिया। कुब्जा ने जब उनसे स्वगृह पधारकर उसे कृतकृत्य करने की प्रार्थना की तो कृष्ण ने कहा कि कार्य पूरा कर वे अवश्य उसके घर आयेंगे। यहाँ 'भागवत' में प्रयुक्त वचन हमारे मन में नानाविध शंकाओं को जन्म देते हैं। 'भागवत' में लिखा है—"**जब बलराम जी के सामने** ही कुब्जा ने इस प्रकार प्रार्थना की तो श्रीकृष्ण ने हँसते हुए उससे कहा, "सुन्दरी ! मैं तुम्हारे घर आऊँगा क्योंकि **संसारी लोग तुम्हारे-जैसे के घर जाना अपनी मानसिक व्याधि मिटाने का साधन** समझते हैं किन्तु पहले मुझे अपना काम तो कर लेने दो ! **हमारे-जैसे बटोहियों को तुम्हारा ही आसरा है।**"[1] कृष्णांकित भाग हमारे मन में अनेक शंकायें उत्पन्न करते हैं। कहीं कुब्जा प्रच्छन्न वेश में रहनेवाली कोई वारवनिता तो नहीं थी ? बलराम जी के सामने ही कुब्जा के ऐसी प्रार्थना करने पर कृष्ण पहले तो कुछ संकुचित हुए होंगे, परन्तु पुनः लज्जा त्यागकर उन्होंने उसका प्रस्ताव स्वीकार कर लिया। संसारी लोगों का कुब्जा के घर जाकर मानसिक व्याधि मिटाने का क्या अर्थ है ? कृष्ण का यह कथन तो हमारे संदेह को और भी पुष्ट करता है कि 'हमारे-जैसे बटोहियों को तुम्हारा ही आसरा है।' ऐसा लगता है कि कुब्जा का मकान कोई सार्वजनिक मनोरंजन-गृह होगा जहाँ परदेशी मुसाफ़िर आकर अपना समय विलास-क्रीड़ाओं में व्यतीत करते होंगे। कृष्ण ने अपनी प्रतिज्ञा पूरी की। कंस-वध के कार्य को पूरा कर वे कुब्जा के निवास पर पहुँचे। 'भागवत' में लिखा है कि कुब्जा नवीन मिलन के संकोच से झिझक रही थी। तब कृष्ण ने उसे अपने पास बुला लिया और उसकी कंकण से सुशोभित कलाई पकड़कर अपने पास बैठा लिया तथा उसके साथ क्रीड़ा करने लगे।[2] अधिक लिखने की आवश्यकता नहीं है। जो लोग अब भी कृष्ण को १०-११ वर्ष का बालक समझकर पुराण-वर्णित कथाओं को निर्दोष सिद्ध किया चाहते हैं, उनकी बुद्धि की बलिहारी है।

1. एष्यामि ते गृहे सुभ्रूः पुंसामाधिविकर्शनम्।
साधितार्थोऽगृहाणां नः पान्थानां त्वं परायणम्॥ (भागवत, १०।४२।१२)
2. आहूय कान्तां नवसंगमह्रिया विशंकितां कङ्कणभूषिते करे।
प्रगृह्य शय्यामधिवेश्य रामया रेमेऽनुलेपार्पणपुण्य लेशया॥ (१०।४८।६)

'ब्रह्मवैवर्त' का 'कुब्जा-प्रसंग' तो परिष्कृत रुचि के और भी प्रतिकूल है। अश्लीलता में वह सबसे बाज़ी मार ले गया है। अतः उसका उल्लेख करना भी शिष्ट जनों की रुचि के प्रतिकूल है।[1]

कुब्जा पर कृपा करके कृष्ण धनुष-यज्ञशाला में पहुँचे। यहाँ उन्होंने धनुष को तोड़ा और कंस-प्रेरित कुवलयापीड़ हाथी[2] तथा चाणूर एवं मुष्टिक नामक महामल्लों को परास्त किया।[3] इसपर कंस बहुत बिगड़ा और उसने नंद को कैद करने, वासुदेव को मार डालने तथा राम एवं कृष्ण को नगर से बाहर निकाल देने की आज्ञा दी। कंस के इस दण्ड-विधान को सुनते ही कृष्ण कूदकर कंस के सिंहासन तक पहुँच गये और उसके केश पकड़कर भूमि पर गिरा दिया तथा मार डाला। कंस को मारकर उसके पिता महाराज उग्रसेन का राज्याभिषेक किया।[4]

'महाभारत' में यह वर्णन कुछ भिन्न प्रकार से आया है। सभापर्व के अन्तर्गत जरासंघ-वध की पूर्वपीठिका में कृष्ण ने युधिष्ठिर के सम्मुख अपनी कथा इस प्रकार प्रस्तुत की—"कुछ काल पश्चात् कंस ने यादवों को सताया और बृहद्रथ-पुत्र जरासंध की कन्याओं से उसने अपना विवाह किया। जरासंध से सम्बन्ध स्थापित हो जाने पर कंस ने ससुर के बल से ज्ञातिवालों को हराकर बड़ाई प्राप्त की। उस दुरात्मा के द्वारा भोजवंशी वृद्ध राजाओं को सताये जाने पर मैंने बलराम के साथ मिलकर प्रसिद्ध कंस को मारा, सो हमसे एक प्रकार का ज्ञाति-उद्धार का कार्य हुआ।"[5]

१. द्रष्टव्य—'ब्रह्मवैवर्तपुराण की समीक्षा', ले० डॉ० भवानीलाल भारतीय, सत्य प्रकाशन मथुरा, श्रावणी २०२६ वि०, कुब्जा-प्रसंग, पृ० ३४–३६

२. भागवत, १०, पू०, १४३

३. भागवत, १०, पू०, १४४—'ब्रह्मपुराण' में लिखा है कि मुष्टिक को बलराम ने तथा चाणूर को कृष्ण ने मारा, किन्तु 'भागवत' में इन दोनों का कृष्ण द्वारा मारा जाना ही उल्लिखित है। अब 'भागवत' का कथन ठीक है या 'ब्रह्मपुराण' का, इसका निर्णय कौन करे? पौराणिकों की सम्मति में तो दोनों के लेखक भगवान् व्यास ही हैं। पुनः एक ही लेखक की रचनाओं में परस्पर-विरोध क्यों?

४. भागवत, १०, पू०, अध्याय ४५

५. सभापर्व, अध्याय १४-३०-३४

पूर्वोक्त विवरण में कंस द्वारा राम और कृष्ण को मथुरा बुलाने का कुछ भी संकेत नहीं है। इससे यही विदित होता है कि कंस के अत्याचारों से यादव बड़े दुःखी थे; परन्तु उस समय ऐसा कोई नहीं था जो उसके अन्याय और अत्याचार के विरुद्ध आवाज़ उठाकर उसके स्वेच्छाचार को समाप्त कर देता। वृद्ध पुरुषों ने तो उल्टे राम और कृष्ण को ही मथुरा त्यागकर चले जाने की सम्मति दी। कंस का निग्रह करने में उन्हें बलराम की सहायता मिली, यह तो स्पष्ट ही है। अन्य यादवों ने चाहे कंस के भय एवं आतंक के कारण प्रत्यक्ष रूप में उनकी सहायता न की हो, परन्तु उनकी सहानुभूति तो कृष्ण की ओर ही थी।

इस प्रकार धर्मराज्य-स्थापना की ओर कृष्ण का यह पहला क़दम था। इसमें उन्हें अपूर्व सफलता मिली। यदि वे चाहते तो कंस के बाद स्वयं मथुरा के राजा बन सकते थे, परन्तु उन्होंने ऐसा न कर कंस के पिता को ही, जो राज्य का वास्तविक अधिकारी था, राजा बनाया। यह कार्य उनकी उदारता, न्यायप्रियता और धर्म के प्रति अगाध निष्ठा का सूचक है। कृष्ण के लिए धर्म ही प्रधान वस्तु थी। यह बंकिम का कथन है[१] और दयानन्द के अनुसार उन्होंने जन्म से मरण-पर्यन्त कुछ भी अधर्म का काम नहीं किया।[२] धर्म-संस्थापन की प्रतिज्ञा उन्होंने इसीलिये की थी और उनकी यह हार्दिक अभिलाषा भी थी कि इस प्रयोजन की पूर्ति के लिए वे पुनः-पुनः धरा-धाम पर जन्म धारण करें।[३]

१. कृष्ण-चरित्र

२. सत्यार्थप्रकाश, एकादश समुल्लास

३. गीता का 'यदा यदा हि धर्मस्य' प्रसिद्ध श्लोक तथा इसपर स्वामी दयानन्द का 'सत्यार्थप्रकाश' के सप्तम समुल्लास में उल्लिखित मत।

अध्याय १४

शिक्षा और अध्ययन

'भागवत' में लिखा है कि कंस को मारने के पश्चात् कृष्ण और बलराम का वसुदेव के पुरोहित गर्गाचार्य द्वारा यज्ञोपवीत हुआ और वे नियमपूर्वक गायत्री द्वारा संध्योपासना में प्रवृत्त हुए।[1] विद्याध्ययन के लिए उन्हें उज्जैन-निवासी काश्यप-गोत्रीय सान्दीपनि नामक आचार्य के आश्रम में भेजा गया। यहाँ रहकर उन्होंने विधिपूर्वक शास्त्रों का अध्ययन किया। उनके पाठ्यक्रम में षडंग-सहित वेद, धनुर्वेद आदि उपवेद, मनुस्मृति, मीमांसा, तर्क (न्यायशास्त्र) आदि का उल्लेख मिलता है। इसके अतिरिक्त उन्होंने संधि, विग्रह, यान, आसन, द्वैत तथा आश्रय, इन छः भेदों से युक्त राजनीति का भी अध्ययन किया।[2]

अद्भुत रस को प्रश्रय देनेवाले पुराण-लेखकों को इस सीधे-सादे वर्णन से संतोष नहीं मिला तो उन्होंने लिख दिया कि ये सब विद्यायें कृष्ण ने चौसठ दिनों में ही सीख लीं।[3] यहीं तक ख़ैर रही कि कृष्ण को विद्याध्ययन के लिए पुराण-लेखकों ने ६४ दिनों की अवधि तो प्रदान की, अन्यथा 'कृष्णस्तु भगवान् स्वयं' माननेवालों के लिए तो कृष्ण का क्षण-मात्र में समस्त विद्याओं का निधान बन जाना भी सम्भव था। पुराणों में तो यह भी लिखा है कि गुरु-दक्षिणा के रूप में सान्दीपनि ने अपने मृत पुत्र को यमलोक से ला देने की प्रार्थना कृष्ण से की। कृष्ण तुरन्त यम की नगरी में पहुँचे और मृत गुरु-पुत्र को लेकर आये तथा

---

१. ततश्च लब्ध संस्कारौ द्विजत्वं प्राप्य सुव्रतौ।
गर्गाद्यदुकुलाचार्याद्गायत्रं व्रतमास्थितौ॥
—भागवत, दशम स्कन्ध, पू०, ४५।२९

२. प्रोवाच वेदानखिलान्साङ्गोपनिषदो गुरुः।—१०।४५।३३
स रहस्यं धनुर्वेदं धर्मान्न्यायपथांस्तथा।
तथा चान्वीक्षिकीं विद्यां राजनीतिं च षड्विधम्॥ —१०।४५।३४

३. विष्णुपुराण, ५।२१-२२

गुरु-ऋण से उऋण हुए।[1] इस कथा में ऐतिहासिक तत्त्व कुछ भी नहीं है। केवल कृष्ण का ईश्वरीय गौरव स्थापित करने के लिए ही ऐसी कथाओं की रचना हुई है।

'भागवत' के अतिरिक्त 'महाभारत' में भी कृष्ण की विद्वत्ता तथा योग्यता के प्रमाण मिलते हैं जिनसे ज्ञात होता है कि वे निखिल वेद-वेदाङ्गों के पारदर्शी विद्वान् थे और उन्होंने विभिन्न विद्याओं का तलस्पर्शी अध्ययन किया था।

सभापर्व में जहाँ भीष्म ने कृष्ण की अग्रपूजा का प्रस्ताव रक्खा है, वहाँ वे कृष्ण महाराज के अन्य गुणों की चर्चा करने के साथ-साथ यह भी कहते हैं—

वेद - वेदाङ्ग - विज्ञानं बलं चाप्यधिकं तथा।
नृणां लोके हि कोऽन्योऽस्ति विशिष्टः केशवादृते॥

(३८। १९)

अर्थात् 'वेद, वेदांग, विज्ञान और बल आदि सभी गुण श्री कृष्ण में विद्यमान हैं। मनुष्य-लोक में केशव के अतिरिक्त और कौन अधिक गुण-सम्पन्न है?' कृष्ण की वेदज्ञता के अन्य प्रमाण भी मिलते हैं। छान्दोग्य-उपनिषद् के अनुसार उन्होंने घोर आंगिरस ऋषि से ब्रह्म-विद्या सीखी थी।[2] उनकी तपस्या के भी अनेक प्रमाण 'महाभारत' में मिलते हैं।

१. भागवत, १०।४५
२. छान्दोग्योपनिषद्, ३।१६।६

अध्याय १५

जरासंध और कालयवन

मगध का प्रतापी सम्राट् जरासंध कंस का ससुर था।[1] कंस के मारे जाने पर उसकी दोनों पत्नियाँ अस्ति और प्राप्ति अपने पिता के पास रोती-पीटती गईं। जरासंघ को अपनी विधवा पुत्रियों की यह यह दुर्दशा देखकर कृष्ण पर अत्यन्त क्रोध आया और उसने एक सेना लेकर मथुरा पर चढ़ाई कर दी। यद्यपि जरासंध की सेना का कोई पार नहीं था, फिर भी कृष्ण के सेनापतित्व में यादवों ने उसे मार भगाया। 'भागवत' में लिखा है कि जरासंध को बलराम ने पकड़ लिया और फिर कृष्ण की सम्मति पर मुक्त कर दिया। इस प्रकार जरासंध ने सत्रह बार मथुरा पर आक्रमण किया और प्रत्येक बार उसे पराजय ही मिली। अन्तिम बार[2] जब जरासंध का आक्रमण हुआ तो मथुरावासियों के समक्ष एक नई विपत्ति आई।

कालयवन नामक एक म्लेच्छ राजा ने अपनी सेना लेकर मथुरा को जा घेरा।[3] कृष्ण ने इस अप्रत्याशित विपत्ति का सामना करने के लिए एक अभिनव उपाय ढूंढ निकाला। वे अकेले ही शस्त्रास्त्रों से सुसज्जित होकर नगर से बाहर निकले। कालयवन ने जब देखा कि उसका शत्रु अकेला ही आ रहा है तो वह उनकी ओर लपका। कृष्ण जी भाग निकले। भागते-भागते उन्हें एक पर्वतीय गुफा दिखाई थी। वे उसमें प्रविष्ट होकर एक ओर छिप गये। उस गुफा में मुचकुन्द नामक एक अत्यन्त वीर पुरुष अनेक युद्धों में लड़ने के पश्चात् विश्राम कर रहा था। कृष्ण ने छिपने से पूर्व अपना उत्तरीय मुचकुन्द को

१. जरासन्ध के साम्राज्य-विस्तार के लिए सभापर्व का १४वाँ अध्याय द्रष्टव्य है।

२. संग्रामेऽष्टादशावरे।—सभापर्व, १४।४०

३. विष्णुपुराण, अंश ५, अध्याय २३

ओढ़ा दिया। कालयवन ने गुफा में प्रविष्ट होते ही कौशेय वस्त्र ओढ़े एक पुरुष को सोये हुए देखा तो उसने समझा कि यह कृष्ण ही है जो अपनी जान बचाने के लिए वस्त्र ओढ़कर सोने का बहाना कर रहा है। उसने सोये व्यक्ति को जोर से लात मारकर जगाया। 'भागवत' में लिखा है कि मुचकुन्द की क्रोधाविष्ट दृष्टि के पड़ते ही कालयवन जलकर भस्म हो गया।[1] इस चमत्कारपूर्ण कथांश को यदि हम छोड़ भी दें तो इतना अवश्य हुआ होगा कि कालयवन ने अपने से अधिक दुर्धर्ष और दुर्जेय, अप्रत्याशित शत्रु मुचकुन्द का सामना करने में अपने को असमर्थ पाया हो और वह उसी के हाथों मारा गया।

कालयवन का इस प्रकार अन्त होने के पश्चात् महाराज पुनः मथुरा में आये। इसी समय जरासंध का अठारहवाँ आक्रमण हुआ। इस बार शत्रु-सैन्य को अधिक प्रबल तथा दुःसह समझकर उन्होंने एक नवीन उपाय खोज निकाला। उन्होंने मथुरा से पलायन किया और पश्चिम की ओर चल पड़े। मथुरा त्यागने और नीतिज्ञ होने के कारण जरासंध का इस युद्ध में सामना न करने के कारण भक्तों ने कृष्ण को 'रणछोड़' नाम से पुकारा है। जरासंध ने भागते हुए कृष्ण का पीछा किया। कृष्ण चलते-चलते प्रवर्षण पर्वत पर पहुँचे और वहाँ कुछ दिन निवास कर पश्चिमी समुद्र के किनारे समुद्र से आवेष्टित द्वारिका नगर में पहुँचे। इसी स्थान को उन्होंने अपनी नवीन राजधानी बनाया। 'भागवत' में कृष्ण का प्रवर्षण पर्वत से जरासंध की सेना को लाँघते हुए कूदने का उल्लेख है[2] जो अलौकिक होने के कारण ग्राह्य नहीं है। जरासंध इस बार भी कृष्ण का कुछ भी अनिष्ट नहीं कर सका और निराश होकर लौट गया। जरासंध और कालयवन जैसे धूर्तों और शठतापूर्ण आचरण करनेवालों को नीतिमत्ता से परास्त करना कृष्ण की चातुरी एवं कूटनीति का उत्तम उदाहरण है।

आवश्यकता पड़ने पर रणक्षेत्र से पलायन कर जाने को भी राज-नीति-विशारद अनुचित नहीं समझते। महर्षि दयानन्द ने भी क्षात्रधर्म के कर्त्तव्यों का निर्देश करते हुए लिखा है—"युद्ध में भी दृढ़ निश्शंक रह के उससे कभी न हटना, न भागना अर्थात् इस प्रकार से लड़ना कि

१. भागवत, दशम स्कन्ध, पू०, अध्याय ५१
२. भागवत, दशम स्कन्ध, पू०, अध्याय ५२

जिससे निश्चित विजय होवे आप बचे, जो भागने से वा शत्रुओं को धोखा देने से हो तो ऐसा ही करना।"[1] आगे राजधर्म के प्रकरण में वे पुनः लिखते हैं—"कभी-कभी शत्रु को जीतने के लिए उनके सामने से छिप जाना उचित है क्योंकि जिस प्रकार से शत्रु को जीत सके वैसा काम करे, जैसा सिंह क्रोध से सामने आकर शस्त्राग्नि में शीघ्र ही भस्म हो जाता है, वैसे मूर्खता से नष्ट-भ्रष्ट न हो जावे।"[2] ऋषि के इस कथन तथा कृष्ण के उपर्युक्त आचरण में कितना साम्य है, यह किसी से अविदित नहीं रहेगा। वस्तुतः कृष्ण राजनैतिक कूट-विद्या के विलक्षण जानकार थे और अवसर आने पर उसका प्रयोग भी करते थे।

'महाभारत' में जरासंध-विषयक घटना कुछ भिन्न प्रकार से उल्लिखित है। महाराज युधिष्ठिर के सम्मुख अपने जीवन की अतीत-कालीन घटनाओं का वर्णन करते हुए कृष्ण ने कहा—"जब जरासंध युद्ध के लिए उपस्थित हुआ तो हमने एकत्र होकर परामर्श के पश्चात् निश्चय किया कि यदि हम शत्रुनाशक बड़े-बड़े अस्त्रों से तीन सौ वर्ष तक भी लड़ेंगे, तब भी उसका बलक्षय नहीं होगा, क्योंकि वह असीम बलशाली है। हंस और डिम्भक नामक जो दो पुरुष उसके सहायक हैं वे अस्त्रों से मारे जानेवाले नहीं हैं। जरासंध, हंस और डिम्भक, ये तीनों मिलकर तीनों लोकों को जीत सकते हैं। हुआ यह कि हंस नामक एक अन्य प्रख्यात राजा था। बलराम ने युद्ध में उसे मार डाला। डिम्भक ने किसी से हंस के मारे जाने का समाचार सुनकर यह निश्चय किया कि उसके बिना जीवन व्यर्थ है, अतः वह यमुना में डूबकर मर गया। अपने सहायकों की मृत्यु का समाचार सुनकर राजा जरासंध उदास मन से अपने घर की ओर चला गया। जरासंध के लौट जाने पर हम आनन्दित होकर मथुरा में रहने लगे।"[3]

कुछ समय पश्चात् जब कंस की पत्नी ने पति की मृत्यु का दुःख मानकर अपने पिता जरासंध को यह कहकर उभाड़ना चाहा कि आप मेरे पतिघाती का नाश करें, तब हमने उदास होकर मथुरा से भागना चाहा। जरासंध के इस आसन्न भय से हमने परस्पर परामर्श किया

१. सत्यार्थप्रकाश, चतुर्थ समुल्लास
२. सत्यार्थप्रकाश, षष्ठ समुल्लास
३. महाभारत, सभापर्व, अध्याय १४, श्लोक ३६–४५

और अन्ततः अपने ऐश्वर्य को आपस में बाँटकर हमने पश्चिम दिशा की ओर पलायन किया।"[1] 'महाभारत' का उपर्युक्त विवरण निश्चय ही 'भागवत' के ब्योरे की तुलना में अधिक प्रामाणिक है। इसके अनुसार तो इतना ही ज्ञात होता है कि जब जरासंध ने प्रथम बार मथुरा पर आक्रमण किया तो पराजित होकर भाग गया। दूसरी बार उसके आक्रमण की पुनः सम्भावना देखकर तथा आसन्न आक्रमण से अपने को बचा पाने में असमर्थ पाकर कृष्ण ने मथुरा से अपनी राजधानी को उठाने का ही निश्चय कर लिया और वे द्वारिका को अपनी राजधानी बनाने में सफल हुए जो समुद्र-तट पर बसी होने के कारण बाह्य आक्रमणों से अधिक सुरक्षित थी। पुनः जरासंध को द्वारिका पर आक्रमण करने का कभी साहस नहीं हुआ।

इस प्रकरण से कृष्ण की युद्ध-नीति तथा अद्भुत कूट-चातुर्य का तो ज्ञान होता ही है, साथ ही इससे यह भी ज्ञात होता है कि वे व्यर्थ की मनुष्य-हत्या और रक्तपात के विरोधी थे। द्वारिका का दुर्ग यादवों के लिए सब प्रकार से अनुकूल था। सुरक्षा की दृष्टि से तो वह इतना सुदृढ़ था कि यदि केवल स्त्रियाँ ही उस दुर्ग में रहें तो वे भी शत्रु का मुकाबिला कर सकती थीं।[2] प्राकृतिक सौन्दर्य की दृष्टि से भी यह स्थान परम रमणीय तथा शोभाढ्य था।

---

१. सभापर्व, अध्याय १४, श्लोक ४६–४९

२. स्त्रियोऽपि यस्यां युध्येयुः किमु वृष्णिमहारथाः।। —सभापर्व १४।५१

अध्याय १६

रुक्मिणी-परिणय

पुराण-लेखकों ने श्री कृष्ण पर बहुविवाह के जो मिथ्या आरोप लगाये हैं वे सब कपोल-कल्पित हैं। वस्तुतः रुक्मिणी ही कृष्ण की एकमात्र विवाहिता पत्नी थी। यह विदर्भराज भीष्मक की पुत्री थी। 'भागवत' में लिखा है कि राजा भीष्मक भी अपनी पुत्री का विवाह श्री कृष्ण के ही साथ करना चाहते थे, परन्तु उनके पुत्र रुक्मी की इसमें सम्मति नहीं थी। वह चेदिराज दमघोष के पुत्र शिशुपाल के साथ रुक्मिणी का विवाह करना चाहता था।[1] अन्त में पुत्र की इच्छा की ही विजय हुई और शिशुपाल के साथ रुक्मिणी के विवाह का निश्चय हो गया।

रुक्मिणी स्वयं कृष्ण के अपूर्व रूप एवं गुणों की चर्चा सुन चुकी थी। उसे यह समाचार सुनकर बड़ा खेद हुआ कि उसका विवाह उसकी इच्छा के प्रतिकूल हो रहा है। उसने एक वृद्ध ब्राह्मण द्वारा अपना प्रणय-संदेश श्री कृष्ण के पास द्वारिका भेजा। रुक्मिणी के सन्देश का अभिप्राय यह था कि अमुक दिन शिशुपाल मेरा परिणय करने के लिए आयगा परन्तु मैंने तो अपने को आपके प्रति समर्पित कर दिया है। आप मेरे उद्धारार्थ आयें, मैं नगर के बाहर निश्चित समय पर आपकी प्रतीक्षा करूँगी।

रुक्मिणी का उपर्युक्त संदेश पाकर कृष्ण बड़े प्रसन्न हुए। उन्होंने अपने सारथी को रथ तैयार करने और विदर्भ की राजधानी कुण्डिनपुर चलने का आदेश दिया। नियत समय पर रथारूढ़ होकर उन्होंने विदर्भ की ओर प्रस्थान किया। उधर शिशुपाल को भी यह समाचार मिल गया कि कृष्ण रुक्मिणी-हरण का प्रयत्न अवश्य करेंगे। इसलिये वह भी विवाह के अवसर पर अपने मित्र राजाओं को सेना-सहित लेकर

---

१. भागवत १०, अध्याय ५२

कुण्डिनपुर पहुँचा। नियत समय पर रुक्मिणी नगर के बाहर उद्यान में भ्रमणार्थ आई और वहाँ पहले से ही उपस्थित कृष्ण ने उसके द्वारा दिये संकेत को समझकर उसे अपने रथ पर बिठाया और द्वारिका के लिए प्रस्थान किया। रुक्मिणी को इस प्रकार आसानी से कृष्ण के द्वारा अपहृत होता देखकर शिशुपाल के क्रोध का पार न रहा। उसने कृष्ण पर आक्रमण किया, किन्तु बलराम अपने यादव-दल के साथ कृष्ण की सहायता हेतु वहाँ पर उपस्थित थे। उन्होंने शिशुपाल की सेना को मार भगाया। जब रुक्मिणी के हरण का समाचार रुक्मी को मिला तो उसने श्री कृष्ण का पीछा किया, किन्तु वह कृष्ण के हाथों परास्त हुआ और कृष्ण ने दण्डस्वरूप अपने शस्त्र से उसके सिर का मुण्डन कर उसे विरूप कर दिया। अन्त में रुक्मिणी और बलराम के कहने से वे अपने साले को छोड़ देने पर राजी हुए। इस प्रकार विरोधी को पराजित कर वे सकुशल द्वारिका पहुँचे। वहाँ वैदिक विधि से उन्होंने रुक्मिणी का पाणिग्रहण किया।[1]

'मनुस्मृति' में वर्णित आठ प्रकार के विवाहों में एक प्रकार राक्षस-विवाह का भी है।[2] इसके अनुसार कन्या का बलात् हरण कर उससे विवाह किया जाता है। उक्त स्मृति ने राक्षस-विवाह को क्षत्रियों के लिए प्रशस्त बताया है। इस विवाह के अच्छे-बुरे दोनों पहलू हैं। यदि कन्या की इच्छा के प्रतिकूल उसका अपहरण किया जाता है तब तो यह स्पष्ट ही अधर्म-कृत्य है। परन्तु एक परिस्थिति ऐसी आ सकती है जबकि कन्या तो वर को पसन्द करे किन्तु उसके माता-पिता की सम्मति उसे इच्छुक वर के साथ ब्याह देने की नहीं होती। ऐसी स्थिति में प्राचीन काल में कन्या-हरण के अतिरिक्त और कोई मार्ग नहीं रहता था। अतः, यह कहना कि राक्षस-विवाह निश्चित रूप से अन्यायपूर्ण, अत्याचारयुक्त अथवा बलात्कार का प्रतीक है, अनुचित होगा। यहाँ रुक्मिणी-हरण के प्रसंग में भी जो कुछ घटनायें घटीं, वे रुक्मिणी की इच्छा के अनुकूल ही थीं। कृष्ण के साथ सम्बन्ध होने से रुक्मिणी को प्रसन्नता ही हुई क्योंकि रूप, गुण और योग्यता की दृष्टि से कृष्ण ही उसके अनुकूल पति हो सकते थे। आज चाहे राक्षस-विवाह का विधान विद्यमान सामाजिक मूल्यों की दृष्टि से कितना ही

१. भागवत, दशम स्कन्ध, उत्तरार्द्ध, अध्याय ५२,५३,५४

२. अध्याय ६।२१

अनुचित अथवा आपत्तिजनक क्यों न दीख पड़े, परन्तु कृष्ण के युग में परिस्थितियाँ भिन्न थीं। उस युग में राक्षस-विवाह को अनुचित नहीं माना जाता था, अतः तत्कालीन आचार-शास्त्र के मापदण्डों से ही हमें रुक्मिणी-हरण की घटना की आलोचना करनी चाहिए। जब हम 'महाभारत'-युग की सामाजिक मान्यताओं के आधार पर इस घटना की समीक्षा करते हैं तब हमें उसमें कुछ भी अनौचित्य नहीं दीखता।

महाभारतोक्त शिशुपाल-वध प्रकरण में भी इस घटना की चर्चा हुई है। श्री कृष्ण कहते हैं—

रुक्मिण्यामस्य मूढस्य प्रार्थनासीन्मुमूर्षतः।
न च तां प्राप्तवान् मूढः शूद्रो वेद श्रुतीमिव॥[1]

अर्थात् 'इस मूढ़ (शिशुपाल) ने मृत्यु का अभिलाषी बनकर रुक्मिणी के साथ विवाह के लिए प्रार्थना की थी, परन्तु शूद्र के वेद न सुन सकने की भाँति वह उसे प्राप्त नहीं कर सका।' शिशुपाल ने इस आक्षेप का उत्तर इस प्रकार दिया—

मत्पूर्वां रुक्मिणीं कृष्ण संसत्सु परिकीर्तयन्।
विशेषतः पार्थिवेषु व्रीडां न कुरुषे कथम्॥
मन्यमानो हि कः सत्सु पुरुषः परिकीर्तयेत्।
अन्यपूर्वां स्त्रियां जातु त्वदन्यो मधुसूदन॥[2]

'अजी कृष्ण, पहले से ही मेरे लिए निर्दिष्ट रुक्मिणी की बात इस सभा में, विशेषतः राजाओं के समक्ष कहते तुम्हें लज्जा नहीं आई ? अजी मधुसूदन, तुम्हारे अतिरिक्त दूसरा कौन अपने को पुरुष कहकर अपनी स्त्री को 'अन्यपूर्वा' कह सकता है ?'

'महाभारत' के इस प्रसंग को उद्धृत करने के अनन्तर बंकिम ने तो यहाँ तक सिद्ध करने का प्रयास किया है कि रुक्मिणी का हरण हुआ ही नहीं। शिशुपाल ने उससे विवाह करने की इच्छा अवश्य व्यक्त की थी, किन्तु भीष्मक ने उसे कृष्ण से ब्याह दिया। अपने कथन के प्रमाण में बंकिम इस तथ्य का उल्लेख करते हैं कि कृष्ण के लिए अप-शब्दों और कुवाच्यों का प्रयोग करते समय भी शिशुपाल ने कृष्ण पर रुक्मिणी के हरण का आरोप नहीं लगाया, जबकि भीष्म की निंदा

१. सभापर्व, ४५।१५
२. सभापर्व, ४५।१८-१९

करते समय उसने पितामह पर काशिराज की कन्याओं के हरण का आरोप लगाया था।[1] कुछ भी हो, यह तो निर्विवाद है कि रुक्मिणी ही कृष्ण की एकमात्र पत्नी थी; अन्य स्त्रियों के साथ उनका कभी विवाह हुआ ही नहीं, यह आगे प्रमाण-पुरस्सर सिद्ध किया जायगा।

सन्तान—रुक्मिणी से कृष्ण को प्रद्युम्न-जैसा सौन्दर्य, शील एवं गुणों में पिता के सर्वथा अनुरूप पुत्र हुआ। ऐसी उत्तम सन्तान प्राप्त करने के पूर्व कृष्ण ने स्वपत्नी-सहित १२ वर्ष पर्यन्त प्रखर ब्रह्मचर्य-व्रत का पालन किया था तथा हिमालय पर्वत पर रहकर तपस्या की थी।[2] जो लोग कृष्ण को लम्पट और दुराचारी कहने से बाज़ नहीं आते उन्हें इस कथन को आँखें खोलकर पढ़ना चाहिए। कृष्ण-जैसा संयमी, तपस्वी तथा सदाचारी उन्हें संसार के इतिहास में अन्यत्र नहीं मिलेगा।

१. सभापर्व, ४१।२२

२. ब्रह्मचर्यं महद्घोरं चीर्त्वा द्वादश वार्षिकम्।
हिमवत् पार्श्वमभ्येत्य यो मया तपसार्जितः॥ —सौप्तिक पर्व, १२।३०

अध्याय १७

बहुविवाह का आरोप और उसकी असत्यता

पुराण-लेखकों को कृष्ण के एकपत्नी-व्रत से संतोष नहीं हुआ। वे कृष्ण को बहुपत्नी-गामी के रूप में चित्रित करना चाहते थे, अतः उन्होंने कृष्ण की आठ पटरानियों की कहानी गढ़ी, और जब उन्हें आठ से भी सन्तोष नहीं हुआ तो एक कदम आगे बढ़कर कहने लगे कि कृष्ण के १६ सहस्र रानियाँ थीं।[1] 'भागवत' में रुक्मिणी के अतिरिक्त कृष्ण की निम्न सात रानियों के नाम आये हैं—(१) सत्यभामा, (२) जाम्बवन्ती ('विष्णुपुराण' में रोहिणी), (३) कालिन्दी, (४) सत्या, (५) लक्ष्मणा, (६) मित्रवृन्दा, (७) भद्रा।

इन रानियों से कृष्ण के विवाह होने की कथायें भी पुराण-लेखकों ने भिन्न-भिन्न प्रकार से उद्धृत की हैं, जिनमें से कुछ पर यहाँ विचार किया जायगा। रुक्मिणी को कृष्ण की मुख्य महिषी कहा गया है। उसके अनन्तर सत्यभामा का नाम आता है। सत्यभामा और कृष्ण के विवाह की पृष्ठभूमि के रूप में भागवतकार ने एक कथा निम्न प्रकार कल्पित की है—सत्राजित नामक द्वारिकावासी एक यादव को भगवान् सूर्य से एक मणि प्राप्त हुई। कृष्ण ने उसे परामर्श दिया कि वह इस मणि को यादवपति महाराज उग्रसेन को भेंट-रूप में दे दे। सत्राजित ने कृष्ण के प्रस्ताव को स्वीकार नहीं किया। एक दिन सत्राजित का भाई प्रसेन उक्त मणि को धारण कर जंगल में शिकार खेलने चला गया। वहाँ एक सिंह ने उसे मार डाला और मणि छीन ली। सिंह की इसी बीच त्रेता काल के रीछ जाम्बवान् से मुठभेड़ हो गई और उसने

---

१. बह्वस्ते भविष्यन्ति पुत्राः शत्रुसूदन।
स्त्रीणां षोडश साहस्रं भविष्यन्ति शताधिक॥ (देवीभागवत, ४।२५।५७)
ददर्श कन्यास्तत्रस्था सहस्राणां च षोडशः।
समेक्षणे च तासां च पाणिं जग्राह माधवः॥
ताभिः सार्धं स रेमे क्रमेण च शुभेक्षणे॥
(ब्रह्मवैवर्त पुराण, खण्ड ४, अ० ११२)

सिंह को मारकर मणि अपने पास रख ली। इधर प्रसेन के मारे जाने और मणि के न मिलने पर लोगों ने कृष्ण पर ही संदेह किया कि हो न हो, इन्होंने ही प्रसेन को मारकर उससे मणि छीन ली है। कृष्ण ने अपने पर लगाये गये चोरी या साहस के कलंक से बचने के लिए जब स्वयं जाकर जंगल में खोज की तो उन्हें सिंह के पाँवों के चिह्न मिले, जिनके आधार पर वे रीछ की गुफा तक पहुँच गये। वहाँ उन्होंने देखा कि सूर्य-प्रदत्त मणि जाम्बवान् की पुत्री के पास है। मणि को प्राप्त करने के लिए कृष्ण और जाम्बवान् के बीच घोर युद्ध हुआ। अन्त में जाम्बवान् परास्त हो गया और उसने मणि तो कृष्ण को दी ही, साथ में अपनी कन्या का विवाह भी उनके साथ कर दिया। कृष्ण नव-परिणीता पत्नी तथा मणि के साथ स्वनगर में लौटे तथा मणि सत्राजित को लौटा दी। सत्राजित को कृष्ण के प्रति किये गये अपने आचरण से भय और खेद की प्रतीति हुई और उसने कृष्ण को प्रसन्न करने के लिए स्वकन्या सत्यभामा का विवाह उनके साथ कर दिया तथा यौतुक-रूप में मणि भी उनके अर्पण कर दी।[१]

इस मणि को लेकर आगे क्या-क्या काण्ड घटित हुए, उन्हें न लिख-कर इतना ही कहना पर्याप्त होगा कि ये सब घटनायें भागवतकार की ही कल्पनायें हैं। 'महाभारत' में इन कथाओं का कोई संकेत तक नहीं है। बंकिम ने इसपर टिप्पणी करते हुए लिखा है – "इस स्यमन्तक मणि की कथा में भी कृष्ण की न्यायपरता, सत्यप्रतिज्ञता, और कार्य-दक्षता ही अच्छी तरह से प्रकट होती है, पर यह सत्यमूलक नहीं जान पड़ती।"[२] राम का समकालीन जाम्बवान् कृष्ण के समय में भी विद्य-मान था, इसे कोई भी विचारशील व्यक्ति स्वीकार नहीं करेगा। यदि दुर्जन-तोष-न्याय से यह मान भी लिया जाय कि जाम्बवान् नामक रीछ कृष्ण के समय में भी था, तो निश्चय ही उसकी पुत्री जाम्बवन्ती भी रीछनी ही होगी, मानवी नहीं। फिर रीछनी से कृष्ण का विवाह कैसे हुआ? अतः जाम्बवन्ती से कृष्ण का विवाह और उसी के कारण आगे चलकर सत्यभामा के साथ हुआ कृष्ण का विवाह भी पुराणकार की कल्पना ही है।

१. भागवत, दशम स्कन्ध, उ०, अध्याय ५६
२. कृष्ण-चरित्र, पृ० २२६

कृष्ण के अन्य विवाहों के वर्णन के लिए भागवतकार ने एक पृथक् अध्याय ही लिखा है।[1] इन कथाओं की विस्तृत आलोचना की आवश्यकता नहीं है, क्योंकि वे भी सत्यभामा-जाम्बवन्ती की कथाओं जैसी ही हैं। स्थालीपुलाक-न्याय से उनकी असत्यता का भी ज्ञान हो सकता है।

कृष्ण ने प्राग्ज्योतिषपुर के राजा नरकासुर (अपर नाम भौमासुर) को मारकर जिन १६ हज़ार कन्याओं से विवाह किया, उसका वर्णन 'भागवत' के एक अन्य अध्याय में है।[2] नरकासुर के अत्याचारों की शिकायत लेकर इन्द्र स्वयं कृष्ण की सेवा में द्वारिका आया। कृष्ण ने उसे वचन दिया कि वे स्वयं प्राग्ज्योतिषपुर जायेंगे और नरक का वध करेंगे। इस प्रतिज्ञा को पूरा करने के लिए कृष्ण सत्यभामा सहित वहाँ पहुँचे। सर्वप्रथम उनका युद्ध नरक के 'मुर' नामक सेनापति से हुआ, जिसे मार डालने के कारण वे 'मुरारि' नाम से विख्यात हुए। तत्पश्चात् नरकासुर को मारकर उन्होंने उसके अन्तःपुर में बंदी १६ हज़ार राजकुमारियों को मुक्त किया तथा उन्हें पत्नी-रूप में ग्रहण किया।[3]

बंकिम के अनुसार यह सारी घटना अलौकिक और मिथ्या है। उनकी युक्ति यह है कि कृष्ण का समकालीन प्राग्ज्योतिषपुर का राजा नरकासुर नहीं, बल्कि भगदत्त था जो कुरुक्षेत्र के युद्ध में अर्जुन के हाथों मारा गया। 'महाभारत' से इसकी पुष्टि भी होती है। कृष्ण का १६००० रानियों से विवाह तो सर्वथा चमत्कारपूर्ण मिथ्या कथा है।[4]

पुराणों के नवीन व्याख्याकार कभी-कभी इन कपोल-कल्पित कथाओं का स्व-ऊहा के बल पर विचित्र समाधान तलाश करने का यत्न करते हैं। उदाहरणार्थ स्व० पं० श्रीपाद दामोदर सातवलेकर ने १६००० कन्याओं से विवाह करने के उल्लेख को एक विचित्र आयाम

१. भागवत, दशम स्कन्ध, उ०, अध्याय ५८
२. अध्याय ५६
३. विष्णुपुराण, ५।२१; नरकासुर विष्णु का पृथिवी में उत्पन्न किया पुत्र था। उसकी १६००० स्त्रियों से विष्णु के अवतार कृष्ण का विवाह करना स्व-पुत्र-वधुओं से विवाह के तुल्य ही है। —लेखक
४. कृष्ण-चरित्र, पृ० २२१

दिया है ।[1] उनके अनुसार, नरकासुर ने १६ हज़ार राजकन्याओं का विभिन्न राजकुलों से अपहरण किया था तथा अपनी वासना-पूर्ति के लिए उन्हें अपने अन्तःपुर में लाकर रक्खा था । कृष्ण ने नरकासुर को मारकर उन राजकन्याओं को उस व्यभिचार-लम्पट के कारागार से मुक्त किया तथा एक दुराचारी व्यक्ति के अधिकार में रही इन नारियों को स्व-अन्तःपुर में स्थान देकर अबलाओं के उद्धार तथा संरक्षण का एक नवीन आदर्श उपस्थित किया । हम पूछ सकते हैं कि वह कौन-सा आदर्श था, जिसे कृष्ण ने १६००० कन्याओं को पत्नी-रूप में स्वीकार कर उपस्थित किया ? वादी कह सकता है कि कृष्ण ने अपने उस कृत्य के द्वारा बलात् अपहृत स्त्रियों को समाज में पुनः कैसे स्वीकार किया जा सकता है, इस प्रश्न का उत्तर स्व-उदाहरण देकर प्रस्तुत किया है । जिस समय पं० सातवलेकर जी ने कृष्ण के इस बहु-पत्नी-वाद के औचित्य को सिद्ध करने के लिए क़लम उठाई थी, उस समय देश का विभाजन हुआ ही था और पाकिस्तान में कुछ समय तक मुसलमानों के अधिकार में रहने के पश्चात् पुनः भारत में लाई गई उन हिन्दू स्त्रियों के भविष्य को लेकर विभिन्न अटकलें लगाई जा रही थीं । जो स्त्रियाँ स्वल्पकाल के लिए भी विधर्मियों के घर में रह चुकी थीं उन्हें कट्टर-पंथी हिन्दू स्वपरिवार में ग्रहण करने के लिए तैयार नहीं थे। ऐसी महिलाओं का भविष्य अंधकारपूर्ण ही था । संकीर्ण समाज उन्हें अपना अंग बनाने के लिए तत्पर नहीं था । ऐसी स्थिति में सातवलेकर जी के समक्ष कृष्ण के जीवन से सम्बन्धित नरकासुर द्वारा अपहृत १६ हज़ार राजकन्याओं के उद्धार का कथानक इस समस्या का समाधान करता हुआ-सा प्रतीत हुआ । वे मानो कृष्ण का ही दृष्टान्त देकर कहते हैं कि है कोई माई का लाल, जो सामने आये और विधर्मियों के घरों में रहीं तथा बलात् दूषित की गई इन नारियों से कृष्ण के समान ही विवाह कर ले ? अपहृताओं की समस्या का यह विचित्र समाधान है !

थोड़ी देर के लिए यह मान भी लें कि नरकासुर के अत्याचारों से पीड़ित एवं सन्तप्त इन दुःखी नारियों को पुनः ग्रहण करनेवाला उस समय कोई नहीं था, परन्तु कृष्ण के इस तथाकथित कृत्य के औचित्य को भी कैसे सिद्ध किया जा सकता है कि अबलाओं को शरण देने

१. आर्यमित्र, २६ जून, १९५२ के अंक में प्रकाशित 'कृष्ण का चरित्र' ।

और सुरक्षा प्रदान करने का एकमात्र तरीका यही है कि उन्हें अपनी पत्नी बना लिया जाय? आर्य-जाति में एकपत्नी-व्रत को सदा ही आदर्श माना गया है। बहुपत्नी-प्रथा हमारी संस्कृति में हेय एवं त्याज्य समझी गई है। अतः कृष्ण का १६००० राजकुमारियों से विवाह कोई सुसंस्कृत आदर्श नहीं है। सातवलेकर जी की दृष्टि से ही यदि अपहृता कन्याओं की समस्या की गुरुता को सोचें तो उसका एक व्यावहारिक समाधान यह भी हो सकता है कि अत्याचारियों की कारा से मुक्त की गई ऐसी नारियों को सामूहिक रूप से किसी आश्रम में रक्खा जा सकता है, परन्तु यह तो सर्वथा अव्यावहारिक तथा आचार-शास्त्र की सर्व-स्वीकृत मान्यताओं के विपरीत ही होता कि कोई व्यक्ति पाकिस्तान से लौटाकर लाई गई ३० हज़ार स्त्रियों को अपनी भोग्या बनाकर अपने घर में रखने की बात करे। हम नहीं समझते कि पुराणों की मिथ्या कथाओं की औचित्य-सिद्धि के लिए इस प्रकार की मनमानी कल्पनायें क्यों की जाती हैं। ऐसी व्याख्याओं से न तो व्याख्याकारों का ही गौरव बढ़ता है और न उन ग्रंथों की ही विश्वसनीयता प्रकट होती है, जिनमें ऐसी कथायें लिखी गई हैं।

इसी कथा से सम्बन्धित पारिजात-हरण की कथा है, जिसका उल्लेख 'भागवत' तथा 'विष्णुपुराण' में है।[1] नरकासुर को मारकर जब कृष्ण सत्यभामा के साथ द्वारिका लौट रहे थे तो स्वर्ग के नन्दन-कानन में खिले पारिजात वृक्ष को देखकर सत्यभामा का मन चंचल हो उठा। वह उसे पाने के लिए लालायित हुई। कृष्ण ने भी अपनी प्रियतमा की इच्छा पूरी करने के लिए उसे उखाड़ लिया। कृष्ण की इस धृष्टता को देखकर नंदन-कानन के स्वामी इन्द्र को बड़ा क्रोध आया और वह देवताओं की स्वत्व-रक्षा के निमित्त कृष्ण से भिड़ गया। ख़ैर, युद्ध का तो जो अन्त होना था, वही हुआ। इन्द्र पराजित हुए तथा उन्होंने विवश होकर पारिजात वृक्ष कृष्ण को दे दिया। अब इस वृक्ष से द्वारिका की शोभा बढ़ेगी, यह जानकर कृष्ण उसे अपने नगर में ले आये। कथा में अलौकिक तत्त्वों की ही प्रधानता है, अतः वह हमारे विवेचन-क्षेत्र में नहीं आती।

कृष्ण पर लगाये जानेवाले बहु-विवाहों के आरोपों की समालोचना बंकिमचंद्र ने एक पृथक् अध्याय लिखकर अत्यन्त प्रामाणिक एवं युक्ति-

१. भागवत, दशम स्कन्ध, उ०, अध्याय ५६; विष्णपराण. ५।३०

संगत रूप में की है।[1] 'विष्णुपुराण', 'हरिवंश', 'महाभारत' आदि ग्रंथों में एतद्-विषयक जो-जो उल्लेख मिलते हैं उन सबको एकत्र किया है तथा बताया है कि ये वर्णन परस्पर-विरुद्ध होने के कारण अनैतिहासिक एवं मिथ्या हैं। विभिन्न पुराणों में जिन आठ पट्ट-महिषियों का नामोल्लेख हुआ है उनमें भी कोई संगति तथा समानता नहीं है। कहीं कोई नाम बढ़ गया है, कहीं कोई छूट गया है। नरकासुर के अन्तःपुर से छुड़ाई गई १६००० रानियों को भी बंकिम मनगढ़न्त मानते हैं।[2] 'विष्णुपुराण' (अंश ४, अध्याय १५, श्लोक १६) के अनुसार कृष्ण की सब स्त्रियों से १,८०,००० पुत्र हुए।[3] कृष्ण की आयु इसी पुराण में १२५ वर्ष बताई गई है। बंकिम ने गणित करके दिखाया है कि इस हिसाब से कृष्ण के साल-भर में १४४० तथा एक दिन में ४ लड़के जन्म लेते थे। यहाँ यही समझना होगा कि कृष्ण की इच्छा से ही उनकी पत्नियाँ पुत्र प्रसव करती थीं।[4]

जाम्बवन्ती, सत्यभामा, लक्ष्मणा आदि रानियों की कथाओं को मिथ्या सिद्ध करने के लिए बंकिम बाबू ने अत्यन्त परिश्रमपूर्वक अनेक नवीन तर्कों की उद्भावना की है। इस समग्र विवेचन के पश्चात् उन्होंने जो निष्कर्ष निकाले हैं, वे अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं। वे लिखते हैं—"महाभारत के मौलिक अंश से तो यही प्रमाणित होता है कि रुक्मिणी के सिवा कृष्ण के और कोई स्त्री नहीं थी। रुक्मिणी की ही सन्तान राजगद्दी पर बैठी, और किसी के वंश का पता नहीं। इन कारणों से कृष्ण के एक से अधिक स्त्री होने में पूरा संदेह है।"[5]

इस प्रकार कृष्ण के बहुविवाहों का प्रमाण-पुरस्सर खण्डन करने पर भी बंकिम की स्थिति संदेहास्पद है क्योंकि वे एक-पत्नीव्रत के आदर्श को ईसाई आदर्श मानते हैं; परन्तु बहुविवाह के समर्थन में भी कोई दलील न दे सकना इस बात का पुष्ट प्रमाण है कि वे अपने कथन से पूर्णतया संतुष्ट हैं। हाँ, इस सम्बन्ध में उनकी टिप्पणियाँ

---

१. कृष्ण-चरित्र, पृ० २३०—२४५

२. वही, पृ० २३०

३. ब्रह्मपुराण के अनुसार कृष्ण के इन पुत्रों की संख्या ८८,८०० थी। पुराणों के परस्पर-विरोध का एक उदाहरण यह भी है। —लेखक

४. कृष्ण-चरित्र, पृ० २३१

५. वही, पृ० २४३

महत्त्वपूर्ण हैं, जिन्हें उद्धृत करके ही हम इस प्रसंग को समाप्त करेंगे। "कृष्ण ने एक से अधिक विवाह किये, इसका कोई पुष्ट प्रमाण नहीं मिला। यदि किये ही हों तो क्यों किये, इसका भी विश्वास-योग्य वृत्तांत कहीं नहीं मिला। स्यमन्तक मणि के साथ जैसी स्त्रियाँ उन्हें मिलीं वह नानी की कहानी के उपयुक्त है। और नरकासुर की सोलह हज़ार रानियाँ तो नानी की कहानियों की भी नानी है। ये कहानियाँ सुनकर हम प्रसन्न हो सकते हैं, पर विश्वास नहीं कर सकते।"[१]

यहाँ आते-आते 'भागवत' तथा अन्य पुराणों की कथाओं की आलोचना समाप्त हो जाती है। कुछ कथायें और शेष रहती हैं, यथा, उषा-अनिरुद्ध का विवाह, पौण्ड्रक वासुदेव का दमन और काशीदाह आदि। इन कथाओं में ऐतिहासिक तत्त्व शून्य के बराबर है। पौण्ड्रक-वासुदेव के कथानक की रूपकात्मक व्याख्या बंकिम ने की है, परन्तु 'भागवत' में यह कथा जिस रूप में आई है, उसे देखते यह सर्वथा अविश्वसनीय प्रतीत होती है। जब कृष्ण का ईश्वरत्व ही साध्य कोटि में है तो कोई व्यक्ति भी उनके अनुकरण पर ईश्वर होने का दावा करे तो उसका यह कथन भी इसी कोटि का होगा। यह तो सम्भव है कि पौण्ड्रक नाम का कोई अत्याचारी राजा रहा होगा जिसे मारकर कृष्ण ने अपने धर्मराज्य-संस्थापन के लक्ष्य की पूर्ति में एक निर्णायक क़दम बढ़ाया हो।

१. कृष्ण-चरित्र, पृ० २४५

अध्याय १८

द्रौपदी-स्वयंवर के अवसर पर कृष्ण-पाण्डव-समागम

'महाभारत' में कृष्ण का उल्लेख सर्वप्रथम द्रौपदी-स्वयंवर के प्रसंग में हुआ है। राजा द्रुपद की पुत्री पाञ्चाली द्रौपदी के स्वयंवर में आमंत्रित होकर देश-विदेश के अनेक राजा एकत्र हुए थे। पाण्डव-लोग भी वहाँ ब्राह्मण-वेश में उपस्थित थे। सर्वप्रथम कृष्ण ने ही उन्हें पहचाना। कृष्ण भी अग्रज बलराम तथा अपने अनुयायी वृष्णि, अंधक और यादवों के समुदाय-सहित वहाँ उपस्थित थे। 'महाभारत' में लिखा है—यदु-वीरों में प्रधान कृष्ण कमल की ओर दौड़ते गजराज की भाँति द्रौपदी की ओर मुख किये तथा भस्म से ढँपे अग्नि-सदृश उन उन्मत्त हस्ती के तुल्य पाँचों पाण्डवों को देखकर सोचने लगे कि यह युधिष्ठिर, यह भीम, यह अर्जुन, यह नकुल और यह सहदेव है।

अर्जुन के लक्ष्य-भेद करने पर जब अन्य उपस्थित राजा द्रुपद को मारने के लिए तैयार हुए तो पाण्डवों ने उनकी रक्षा का यत्न किया। इस समय तक कृष्ण को यह दृढ़ निश्चय हो गया था कि ये पाण्डव ही हैं। तब वे बलदेव से बोले, "सिंह की भाँति डोलते हुए चलनेवाले जो पुरुष पाँच हाथ से कुछ कम लम्बे धनुष को खींच रहे हैं, उनका अर्जुन होना इतना ही निश्चित है, जितना मेरा कृष्ण होना। जो वेग से वृक्ष को उखाड़कर एकाएक भूपालों का अन्त करने को प्रवृत्त हुए हैं वे वृकोदर भीम होंगे। हे अच्युत, मुझे ऐसा जान पड़ता है कि इसके पहले कमल की भाँति प्रशस्त नेत्रयुक्त, सिंह के समान चलनेवाले, नम्र, गौर, दीर्घ और उज्ज्वल नाकवाले, आजानुबाहु जो पुरुष पधारे हैं वे ही धर्मराज युधिष्ठिर हैं। उनके साथ कार्तिकेय के सदृश जो दो कुमार खड़े हैं वे नकुल-सहदेव होंगे।"[1] कृष्ण के इन वचनों को सुनकर पाण्डवों के

---

१. आदिपर्व, अ० १८८, श्लोक २०–२३

जतु-गृह से बच जाने पर बलराम ने हार्दिक प्रसन्नता व्यक्त की।

ब्राह्मण-वेशधारी अर्जुन द्वारा स्वयंवर में द्रौपदी को वरण किया जाता देखकर क्षत्रिय राजाओं को अत्यधिक क्रोध आया और वे उनसे लड़ने के लिए तैयार हो गये। पाण्डव तो युद्ध के लिए सन्नद्ध थे ही। सर्वप्रथम कर्ण और अर्जुन का युद्ध हुआ जिसमें कर्ण परास्त हो गया। तदनन्तर भीम और शल्य का सामना हुआ। जब भीम के समक्ष शल्य की भी दाल नहीं गली तो राजाओं के मन में अनेक शंकायें उत्पन्न होने लगीं। इस समय कृष्ण ने दोनों पक्षों को शान्त किया। उन्होंने कहा कि इस ब्राह्मण ने धर्म के अनुसार ही द्रौपदी को प्राप्त किया है अतः इससे द्वेष करना उचित नहीं।[1] कृष्ण के इस कथन को सुनकर सभी राजा युद्ध से विमुख होकर अपने-अपने घरों को लौट गये।[2]

इस प्रकार कृष्ण ने उस व्यर्थ के रक्तपात-रूपी अनर्थ को रोका जो राजा लोग पाण्डवों को ब्राह्मण समझकर तथा स्वयंवर में उनकी विजय को देखकर करने जा रहे थे। कृष्ण के सम्पूर्ण जीवन का लक्ष्य ही धर्म-संस्थापन था, अतः यहाँ भी यदि उन्होंने धर्म की दुहाई देकर उसकी महत्ता स्थापित की तो आश्चर्य ही क्या! कृष्ण के विचारानुसार व्यर्थ का रक्तपात अधर्म है, परन्तु शरीर-रक्षा-हेतु किया जानेवाला युद्ध धर्म है। इसीलिये पाण्डवों ने वहाँ जो कुछ किया उसे कृष्ण का समर्थन प्राप्त हुआ। तत्कालीन राजाओं के हृदय में भी यादव-शिरोमणि कृष्ण के प्रति बड़ा सम्मान-भाव था। तभी तो उन्होंने कृष्ण के कहने-मात्र से युद्ध बंद कर दिया तथा अपने घरों की ओर प्रस्थान किया।

इस प्रकार महाभारतकार ने प्रारम्भ में ही कृष्ण के जिस रूप की छाप हमारे हृदय पर बिठाई है, वह अत्यन्त उदात्त तथा प्रभावोत्पादक है। पुराण-वर्णित कृष्ण से 'महाभारत' के इस प्रसंग में अवतरित होनेवाले कृष्ण मूलतः भिन्न हैं। इस प्रथम साक्षात्कार में ही हमें कृष्ण के चरित्र में जैसा गाम्भीर्य, सौजन्य, धर्म के प्रति निष्ठा तथा महनीयता के दर्शन होते हैं, वैसे ही लोकोत्तर गुणों का उल्लेख 'महाभारत' के आगे के प्रकरणों में भी सर्वत्र हुआ है।

१. आदिपर्व, १८६।३८

२. वही, ,,

कृष्ण-युधिष्ठिर-सम्वाद

स्वयंवर-समाप्ति के अनन्तर पाण्डव लोग द्रौपदी के सहित, स्व-निवास पर गये। कुछ समय बाद कृष्ण और बलदेव भी उनसे भेंट करने पहुँच गये। 'महाभारत' में लिखा है—"वासुदेव कृष्ण अजमीढ़ वंशी, धार्मिक वर, कुन्तीकुमार युधिष्ठिर के सामने जाकर उनके चरण-स्पर्शपूर्वक बोले, 'मैं कृष्ण हूँ'।"[1] इसी प्रकार बलदेव ने भी अपना परिचय दिया। पाण्डव-गण राम-कृष्ण को देखकर अत्यन्त प्रसन्न हुए। तदनन्तर यदुवीर बलराम और कृष्ण फूफी पृथा (कुन्ती) के पाँव लगे। अजातशत्रु युधिष्ठिर ने कृष्ण को देखकर और कुशल-क्षेम पूछकर कहा, "हे वासुदेव ! तुमने यह कैसे जाना कि हम यहाँ रह रहे हैं ?" कृष्ण ने हँसते हुए उत्तर दिया, "अग्नि छिपे रहने पर भी सर्वथा अज्ञात नहीं रहती। इसी प्रकार इस भूमण्डल के मानवों में पाण्डवों के बिना और कौन ऐसा पराक्रम दिखला सकता है ?"[2] इस प्रकार मधुर वचनों का आदान-प्रदान करने के पश्चात् कृष्ण ने पाण्डवों से विदा ली। इससे पूर्व यद्यपि कृष्ण और पाण्डवों का साक्षात् परिचय नहीं था, परन्तु कृष्ण ने अपना यह कर्त्तव्य समझा कि वे स्वयं जाकर आपत्ति-ग्रस्त पाण्डवों से मिलें और उनकी सहायता करें। इसीलिये वे द्रौपदी के विवाह हो जाने तक वहाँ रहे और उन्होंने पाण्डवों को नाना प्रकार के वस्त्राभूषण तथा गृहस्थ की अन्य आवश्यक वस्तुएँ भेजीं जिनकी पाण्डवों को ऐसे कठिन समय में अत्यन्त आवश्यकता थी।

इससे कृष्ण का अपने सम्बन्धियों के प्रति प्रेम तथा सौजन्य-भाव प्रकट होता है। दुःख में पड़े पाण्डवों की सेवा और सहायता करना उनका धर्म था। यद्यपि उनका पाण्डवों से अब तक साक्षात् परिचय नहीं हुआ था किन्तु फिर भी अपने दुर्दशाग्रस्त सम्बन्धियों की खोज करके उनकी सहायता करना कृष्ण-जैसे आदर्श पुरुष अपना कर्त्तव्य मानते थे। वे सुजनता तथा शिष्टाचार के मूर्तिमान आदर्श ही थे, अतः उनका ऐसा आचरण स्वाभाविक ही था।

१. ततोऽब्रवीद् वासुदेवोऽभिगम्य कुन्तीसुतं धर्मभृतां वरिष्ठम्।
कृष्णोऽहमस्मीति निपीड्य पादौ युधिष्ठिरस्याजमीढस्य राज्ञः॥
—(आदिपर्व, १९०।२०)

२. तमब्रवीद् वासुदेवः प्रहस्य गूढोऽप्यग्निर्ज्ञायत एव राजन्।
तं विक्रमं पाण्डवेयानतीत्य कोऽन्यः कर्ता विद्यते मानुषेषु॥
—(आदिपर्व, १९०।२३)

अध्याय १९

सुभद्रा-हरण

'महाभारत' में द्रौपदी-स्वयंवर के पश्चात् सुभद्रा-हरण के प्रसंग में कृष्ण का उल्लेख मिलता है, अतः इसका विवेचन आवश्यक है।

एक बार अर्जुन भ्रमण करते-करते द्वारिका पहुँच गया। कृष्ण आदि यदुवंशियों ने उसका बड़ा सत्कार किया। उन दिनों रैवतक पर्वत पर बहुत बड़ा मेला लग रहा था, जिसमें समस्त यादव अपने-अपने परिवारों सहित सम्मिलित हुए थे। इसी अवसर पर अर्जुन ने कृष्ण की भगिनी सुभद्रा को सर्वप्रथम देखा। उसके अपूर्व सौन्दर्य से चमत्कृत होकर उसने श्री कृष्ण से स्व-अभिप्राय को व्यक्त करते हुए सुभद्रा से विवाह करने की इच्छा प्रकट की। इसपर कृष्ण बोले—"क्षत्रियों का नियम स्वयंवर विवाह का है, परन्तु उसके सिद्ध होने में शंका हो सकती है, क्योंकि नारियों का स्वभाव और हृदय केवल शूरता, पाण्डित्य आदि गुणों पर ही नहीं चलता। वे पहले प्रियदर्शी व्यक्ति पर मुग्ध होती हैं। अतः शूरवीर क्षत्रियों के लिए बलपूर्वक हरण कर विवाह करने के जिस नियम की धर्मज्ञगण प्रशंसा करते हैं, तुम उसी विधान के अनुसार बलपूर्वक मेरी इस शुभलक्षणान्विता बहिन का हरण करो। क्योंकि कौन जानता है सुभद्रा का आन्तरिक अभिप्राय क्या है?"[1]

कृष्ण की इस सम्मति से अर्जुन का कार्य और भी सरल हो गया और वह सुभद्रा को अपने रथ पर बिठाकर हस्तिनापुर की ओर चला। अर्जुन के इस कृत्य का समाचार जब यादवों को मिला, तो वे अत्यन्त क्रुद्ध हुए। वे अर्जुन से बदला लेने तथा उसकी इस उद्दण्डता का मज़ा चखाने के लिए युद्ध की तैयारी करने लगे।[2] ऐसे समय में जब

---

१. महाभारत, आदि पर्व, अध्याय २१८, श्लोक २१–२३

२. आदिपर्व, अध्याय २१९

कि यादवों का समस्त समाज अर्जुन द्वारा किये गये जातीय अपमान से अत्यन्त क्षुब्ध हो रहा था, कृष्ण के मुख-मण्डल पर अशान्ति एवं उद्विग्नता का लेशमात्र भी नहीं था। उनका चेहरा पूर्णतया शान्त तथा गम्भीर था। कृष्ण की इस स्थितप्रज्ञ वृत्ति को देखकर बलराम के मन में आशंका उत्पन्न हुई कि कुछ-न-कुछ रहस्यपूर्ण अवश्य है। उन्होंने यादवों की अनावश्यक उत्तेजना को शान्त किया और कृष्ण से उनका मत पूछा। कृष्ण ने सुभद्रा-हरण का औचित्य जिस प्रकार सिद्ध किया, उससे सबको संतोष हो गया। कृष्ण ने कहा, "अर्जुन ने जो कार्य किया है उससे हमारे कुल का अपमान नहीं हुआ है। वास्तव में उन्होंने ऐसा कर हमारा सम्मान ही बढ़ाया है। वे जानते हैं कि हम धन के लोभी नहीं हैं, इसलिए उन्होंने धन देकर 'आसुर-विवाह' करने की चेष्टा नहीं की। स्वयंवर में शंका रहती है, इसलिए उन्होंने इसका भी प्रयत्न नहीं किया। पशु की भाँति कन्यादान किसी क्षत्रिय का प्रिय नहीं हो सकता और कन्या-विक्रय भी कदापि उचित नहीं है। इसलिए मुझे ऐसा जान पड़ता है कि इन सब दोषों का भली-भाँति विचार करने के पश्चात् ही अर्जुन ने सुभद्रा का हरण किया है। सुभद्रा जैसी यशस्विनी है, पार्थ भी वैसे ही गुणवान् हैं। फिर ऐसा कौन है जो उस यशस्वी अर्जुन को अपना मित्र बनाना न चाहे! त्रिलोकी में ऐसा भी कोई नहीं है जो उन्हें परास्त कर सके, अतः मेरा विचार है कि हम लोग उन्हें तुरन्त प्रसन्न करें।"[1]

यादवों ने कृष्ण के इस प्रस्ताव को सहर्ष स्वीकार किया और उन्होंने आदरपूर्वक अर्जुन के साथ सुभद्रा का विवाह कर दिया। सुभद्रा-हरण की कथा यही है।

सुभद्रा-हरण का औचित्य

तत्कालीन समाज-व्यवस्था और परिस्थितियों का ध्यान रखते हुए यदि इस घटना पर हम विचार करें तो हमें कोई विशेष आपत्तिजनक बात प्रतीत नहीं होती। आपत्ति की बात तो तब होती, यदि या तो हरण की गई लड़की पर अत्याचार हुआ होता, या उसके माता-पिता की इच्छाओं के साथ कोई ज़्यादती होती, अथवा किसी सामाजिक

---

१. आदिपर्व, अध्याय २२०, श्लोक २–७

नियम की ही अवहेलना हुई होती। यहाँ इन तीनों में से एक भी बात नहीं हुई। सुभद्रा-जैसी सुयोग्य रमणी के लिए अर्जुन-जैसा सर्वगुण-सम्पन्न पति पाना प्रारब्ध की ही बात थी। कृष्ण का भी यह कर्त्तव्य था कि वे अपनी बहिन को किसी सत्पात्र को ही सौंपते और अर्जुन से बढ़कर योग्य पात्र मिलना कठिन था। सुभद्रा की भी इसमें मौन सम्मति दिखाई पड़ती हैं, क्योंकि यदि उसे इसमें कोई आपत्ति दिखाई देती तो वह कदापि अर्जुन के साथ जाने के लिए तैयार नहीं होती। वह स्वयं भी अर्जुन के प्रति आकृष्ट थी। कन्या के माता-पिता पर भी कोई अत्याचार नहीं हुआ क्योंकि न तो कन्या ही किसी अवांछनीय पात्र के हाथ में गई और न अर्जुन-जैसा जामाता पाने से उन्हें कोई ग्लानि या दुःख हुआ।

अब रहती है सामाजिक नियमों की अवहेलना की बात। यहाँ भी मामला साफ़ है क्योंकि उस समय क्षत्रियों में राक्षस-विवाह को ही अधिक प्रशस्त माना जाता था। मनु ने क्षत्रियों के लिए राक्षस एवं गांधर्व-विवाह को ही उचित बताया है—

पृथक् पृथग्वा मिश्रौ वा विवाहौ पूर्व चोदितौ।
गांधर्वो राक्षसश्चैव धर्म्यौ क्षत्रस्य तो स्मृतौ॥ (३।२६)

सुभद्रा और अर्जुन के गंधर्व-विवाह के लिए रैवतक पर्वत पर कोई अनुकूल परिस्थिति नहीं थी, अतः उसके अभाव में राक्षस-विवाह ही एकमात्र उपाय था, जिसे अर्जुन प्रयोग कर सकता था। कृष्ण ने अपने कथन में इस बात को भी स्पष्ट कर दिया कि धन लेकर आसुर-विवाह करना उस समय के क्षत्रिय अपने लिए अपमानजनक मानते थे। स्वयंवर की भी कोई संभावना नहीं थी। कन्या के माता-पिता से कन्या को दान के समान ग्रहण करना उस समय के क्षत्रिय अपने लिए अपमान जनक समझते थे। इसलिये राक्षस-विवाह ही विहित प्रणाली थी। राक्षस-विवाह निंदित अवश्य है और स्मृतिकारों ने भी इसे अधम ही ठहराया है, परन्तु तत्कालीन क्षत्रिय-समाज में यह अच्छा समझा जाता था। इस प्रकार प्रत्येक दृष्टिकोण से देखने पर सुभद्रा-हरण में हमें कृष्ण की कोई अधार्मिक प्रवृत्ति दिखाई नहीं देती। बंकिम ने भी इस प्रसंग की मीमांसा अत्यन्त विस्तारपूर्वक की है, जिससे कृष्ण की दूरदर्शिता और कार्य-दक्षता आदि गुण प्रकट होते हैं।

अध्याय २०

खाण्डव-दाह

खाण्डव-दाह की कथा 'महाभारत' के आदि पर्व के अन्तिम १३ अध्यायों में विस्तारपूर्वक वर्णित है।[1] प्राचीनकाल में किसी श्वेत नामक राजा ने अनेक यज्ञ किये। लगातार अनेक वर्षों तक घृत का हव्य ग्रहण करते-करते अग्निदेव को मन्दाग्नि का रोग हो गया। उनकी पाचन-शक्ति शिथिल हो गई। रोग से दुःखी होकर वे पितामह ब्रह्मा के पास गये। ब्रह्मा ने रोग-निवारण का उपाय बताया कि यदि तुम खाण्डव वन का ही भक्षण कर जाओ तो नीरोग हो जाओगे। यह सुनकर अग्निदेव खाण्डव वन पहुँचे और उसे जलाने लगे। अग्निदाह से व्याकुल होकर वन के जीव-जन्तुओं ने पानी ला-लाकर अग्नि को शान्त कर दिया। इस प्रकार बहुत प्रयत्न करने पर भी अग्निदेव जब अपने कार्य में सफल नहीं हुए और वन को नहीं जला सके, तब उन्होंने ब्राह्मण का वेश धारण किया और कृष्ण तथा अर्जुन के निकट जाकर अपनी विपत्ति का वर्णन किया। कृष्ण और अर्जुन ने उन्हें आश्वासन दिया और वे दोनों खाण्डव वन को जलाने के लिए उपस्थित हो गये। अर्जुन और कृष्ण के इस कार्य में जब इन्द्र ने बाधा डाली तो अर्जुन ने अपने बाणों से धारासार-वृष्टि को बंद कर दिया। इन्द्र को अपनी इस अवमानना से बड़ा क्रोध आया और वह अर्जुन से युद्ध करने के लिए सन्नद्ध हो गया। अर्जुन ने भी सब देवताओं सहित इन्द्र को पराजित कर दिया। अन्त में आकाशवाणी से इन्द्र को यह ज्ञात हुआ कि कृष्ण और अर्जुन नर तथा नारायण के अवतार हैं। यह जानने पर देवता लोग चले गये। खाण्डव वन पूर्णतया जलकर भस्म हो गया और मृत पशु-पक्षियों के मांस-मज्जादि को खाकर अग्निदेव की मंदाग्नि दूर हो गई।

---

१. आदिपर्व, अध्याय २२१ से २३३ पर्यन्त।

यह तो कथा का संक्षिप्त कंकाल-मात्र है। 'महाभारत' में इसे अत्यन्त अतिशयोक्तिपूर्वक वर्णित किया गया है। बुद्धिपूर्वक विचार करने से पता चलता है कि इस कथा में कुछ भी तथ्य नहीं है। सारी कथा अलौकिक और अप्राकृतिक तत्त्वों से पूर्ण है, अतः यह अप्रामाणिक एवं अविश्वसनीय प्रतीत होती है। यदि इसमें कुछ सत्यांश हो सकता है तो इतना ही कि कृष्ण और अर्जुन ने राजधानी के निकटवर्ती एक जंगल को साफ़ कर दिया। उसमें जो आरण्यक हिंस्र पशु रहते थे, उन्हें मार डाला और इस वन को मानव-निवास-योग्य बना दिया। यही खाण्डव-दाह का रहस्य है।

खाण्डव-दाह की घटना में ही सभापर्व की कथा के बीज निहित हैं। इसी वन में मय नामक एक चतुर शिल्पी निवास करता था। वह अनार्य-कुलोत्पन्न दानव वंश का था। अर्जुन ने खाण्डव-दाह के समय अग्नि में जलने से उसे बचाया, इसलिए वह उसका कृतज्ञ बन गया। उसने अर्जुन से कहा कि 'आपने मुझे जीवनदान दिया है इसलिए मैं आपका प्रत्युपकार कर आपके ऋण से उऋण होना चाहता हूँ। बताइये, मैं आपकी क्या सेवा करूँ?' अर्जुन ने कहा कि 'तुम्हारा यह कृतज्ञता-प्रकाशन ही पर्याप्त है, मुझे कुछ नहीं चाहिए। भविष्य में भी हमारा सम्बन्ध ऐसा ही प्रेमपूर्ण बना रहे, यही कामना है।' मय को इससे संतोष नहीं हुआ और वह अर्जुन से इस बात का आग्रह करने लगा कि वे उससे कोई-न-कोई सेवा-कार्य अवश्य लें। इसपर अर्जुन ने कहा कि यदि तुम्हें इससे ही कुछ संतोष होता हो तो कृष्ण महाराज का कोई कार्य कर दो, मुझे इसी से संतोष हो जायगा।[1] कृष्ण ने उसे महाराज युधिष्ठिर के लिए एक सभा-भवन बनाने के लिए कहा।[2] मय ने उनकी आज्ञानुसार ऐसा ही किया और एक ऐसा विचित्र सभा-भवन बनाया जिससे आगे चलकर दुर्योधन को जल में थल और थल में जल का भ्रम हुआ। भीम ने दुर्योधन की इस मूढ़ता को देखकर व्यंग-वाण चलाया—'अंधे के अंधे ही पैदा होते हैं।' यही कटाक्ष-वाण कौरवों और

१. न चापि तव संकल्पं मोघमिच्छामि दानव।
कृष्णस्य क्रियतां किंचित् तथा प्रतिकृतं मयि ॥—(सभापर्व, १।८)

२. यदि त्वं कर्तुकामोऽसि प्रियं शिल्पवतां नर।
धर्मराजस्य दैतेय यादृशीमिह मन्यसे ॥—(सभापर्व, १।११)

पाण्डवों के बीच परस्पर-विरोध को अधिक बढ़ाने में कारण बना, जिसका परिणाम हुआ भारत-युद्ध ।

इस कथा से अर्जुन और कृष्ण की उदारता प्रदर्शित होती है। अर्जुन को इस बात का संतोष है कि मय यदि कृष्ण के लिए कुछ उपकार कर देगा तो यही उसके संतोष का कारण बनेगा। वह स्वयं अपने लिए कुछ नहीं चाहता। इसी प्रकार कृष्ण ने भी अपने लिए कुछ न करवाकर युधिष्ठिर के लिए सभा-भवन बनाने के लिए कहा। यह कृष्ण की निःस्वार्थ-वृत्ति तथा बंधुत्व-भाव का ज्वलन्त प्रमाण है।

अध्याय २१

द्वारिका-गमन

पाण्डवों के संसर्ग में कुछ दिन व्यतीत कर श्री कृष्ण ने अपने पिता के समीप द्वारिका जाने की इच्छा प्रकट की। महर्षि व्यास ने उनके द्वारिका-प्रयाण का वर्णन अत्यन्त स्वाभाविक, मनोज्ञ तथा हृदयग्राही ढंग से किया है। उससे ज्ञात होता है कि कृष्ण में आदर्श मानव की श्रेष्ठतम प्रवृत्तियों का विकास हो चुका था। उनका सौम्य एवं प्रेम-पूर्ण व्यवहार, परिवार और सुहृज्जनों के प्रति उनकी शिष्टता तथा सौजन्य, स्वधर्म और स्वकर्त्तव्य के प्रति उनकी निष्ठा आदि गुणों के कारण वे सबके पूज्य तथा प्रिय बन गये थे।

सभापर्व के द्वितीय अध्याय में कृष्ण के मानवीय गुणों को जिस सुन्दर तथा चित्ताकर्षक ढंग से वर्णित किया गया, उसे देखकर कृष्ण को ईश्वर माननेवाले बंकिमचन्द्र को भी यह लिखने के लिए विवश होना पड़ा है—"श्री कृष्ण ने अपने को ईश्वर कहीं नहीं कहा है और न यही कहा है कि मुझमें अमानुषी शक्ति है। किसी के ईश्वर कहने पर उन्होंने उसका अनुमोदन नहीं किया और न ऐसा आचरण ही किया जिससे उनके ईश्वर होने का दृढ़ विश्वास हो सके। एक जगह तो उन्होंने साफ़ कह दिया है, मैं यथाशक्य पुरुषाकार प्रयत्न कर सकता हूँ, पर दैव के कामों में मेरा कुछ वश नहीं है।"[१]

जब कृष्ण द्वारिका के लिए प्रस्थान करने लगे तो उन्होंने धर्मराज युधिष्ठिर का सम्मान किया और अपनी बुआ कुंती के चरणों का स्पर्श किया। पृथा ने उनका सिर सूँघकर उन्हें गले लगाया। तदनन्तर वे अपनी बहन सुभद्रा के पास गये और उससे प्रिय-मधुर संभाषण किया। सुभद्रा को भी स्वजनों के लिए जो कुछ संदेश भेजना था, वह कृष्ण से निवेदन किया। इस प्रकार बहन का उचित आदर कर कृष्ण ने द्रौपदी

---

१. कृष्ण-चरित्र, पृ० २८७

और पुरोहित धौम्य से भेंट की। इस कार्य को पूरा कर वे अर्जुन के साथ युधिष्ठिर आदि भाइयों के समीप गये। जिस प्रकार इन्द्र अमरों से घिरकर शोभा पाता है, उसी प्रकार पाण्डवों से घिरे हुए यदुकुल-श्रेष्ठ कृष्ण शोभायमान हुए। स्नानादि से निवृत्त होकर उन्होंने अलंकार धारण किये और यात्रा की तैयारी करने से पूर्व अग्निहोत्र किया। तत्पश्चात् माला, सुगंधित द्रव्य तथा मंत्रोच्चारण और नमस्कारपूर्वक विद्वानों एवं द्विजों की पूजा की। इन सब कार्यों से निवृत्त होकर वे बाहर के कक्ष में आये जहाँ स्वस्ति-वाचन करनेवाले ब्राह्मण दधिपात्र, पुष्प एवं अक्षत लिये खड़े थे। कृष्ण ने उन पूजनीय ब्राह्मणों की प्रदक्षिणा कर उनका यथायोग्य सत्कार किया तथा दान-दक्षिणा से उन्हें सम्मानित किया।

इन सब कार्यों से निवृत्त होकर उन्होंने गदा, असि, धनुष और चक्र आदि आयुध धारण किये तथा शैव्य, सुग्रीव आदि घोड़ोंवाले रथ पर चढ़कर द्वारिका के लिए प्रस्थान किया। कृष्ण के प्रेम से वशीभूत होकर कुरुनाथ युधिष्ठिर भी रथ पर चढ़ गए और सारथी दारुक को अलग बिठाकर स्वयं रथ हाँकने लगे। दीर्घबाहु अर्जुन भी रथ पर चढ़कर चँवर डुलाने लगे। प्रिय शिष्यों के पीछे जाने से जिस प्रकार गुरु सुशोभित होता है, उसी प्रकार शत्रुसूदन वासुदेव सुशोभित हुए। इसके अनन्तर कृष्ण ने बड़े प्रेम से अर्जुन को गले लगाया, युधिष्ठिर और भीमसेन को प्रणाम किया और माद्री-पुत्रों का आलिंगन किया। युधिष्ठिर आदि ने भी गले लगकर उनसे भेंट की तथा नकुल एवं सहदेव ने उन्हें प्रणाम किया। इस प्रकार आधा योजन जाने पर कृष्ण ने युधिष्ठिर को लौट जाने की प्रार्थना की। धर्मराज ने सिर सूँघकर यादव-श्रेष्ठ केशव को द्वारिका जाने की आज्ञा दी। कृष्ण ने भी 'फिर आऊँगा' कहकर पाण्डवों को सान्त्वना दी और द्वारिका के प्रति उसी प्रकार गमन किया, जैसे देवराज इन्द्र अमरावती की ओर जाता है। जबतक रथ दृष्टि से ओझल नहीं हो गया, तबतक पाण्डव टकटकी लगाकर उसकी ओर देखते रहे और रथ के अगोचर होने पर उदास होकर घर लौटे।

उधर देवकीनंदन कृष्ण भी अपने अनुगामी सात्यकि और सारथी दारुक के साथ तीव्रगामी रथ पर चढ़कर द्वारिका में प्रविष्ट हुए।

नगर में प्रवेश करने के उपरान्त उन्होंने यदुश्रेष्ठ उग्रसेन, पिता वसुदेव, माता देवकी और भाई बलराम को प्रणाम किया। पुत्र-पौत्रों से गले मिले, वृद्धों से आज्ञा लेकर वे रुक्मिणी के भवन में गये।[1] 'महाभारत' में सर्वत्र कृष्ण के ऐसे ही मानवीय चरित्र का कीर्तन किया गया है।

१. सभापर्व, अध्याय २

अध्याय २२

जरासंध-वध

धर्मराज युधिष्ठिर के मन में जब राजसूय यज्ञ करने की इच्छा उत्पन्न हुई तो उन्होंने अपने शुभचिन्तकों तथा मित्रों से इस विषय में परामर्श किया। सबने एकमत होकर अपनी सहमति प्रकट की और युधिष्ठिर को राजसूय यज्ञ का उपयुक्त अधिकारी घोषित किया, परन्तु युधिष्ठिर को तबतक संतोष नहीं हुआ जबतक उन्होंने कृष्ण से एतद्-विषयक परामर्श नहीं कर लिया। युधिष्ठिर का आदेश पाकर वे द्वारिका से चल पड़े और इन्द्रप्रस्थ आकर उन्होंने उनसे भेंट की।

युधिष्ठिर बोले, "मैंने राजसूय यज्ञ करने की इच्छा प्रकट की है, किन्तु केवल इच्छा करने-मात्र से ही यह कार्य पूरा नहीं हो सकता, यह तुम जानते हो। मेरे मित्र-वर्ग ने भी एकमत होकर राजसूय के सम्बन्ध में अपनी सम्मति दी है, परन्तु हे कृष्ण, उसकी कर्त्तव्यता के विषय में तुम्हारी बात ही प्रमाण है, क्योंकि कोई-कोई जन मित्रतावश किसी कार्य का दोष कह नहीं सकते, कोई-कोई स्वार्थवश केवल स्वामी का प्रिय विषय ही कहते हैं, और कोई-कोई अपने लिए जो प्रिय होता है उसी को कर्त्तव्य मान लेते हैं। परन्तु तुम काम-क्रोध के वश में नहीं हो, अतः लोक में जो हितकारी है, वही सत्य कहो।"[१]

युधिष्ठिर के इस कथन से जाना जाता है कि वह कृष्ण को आप्त-पुरुष मानते थे और उनके कथन को यथार्थ, हितकर तथा प्रामाणिक समझते थे। इससे पूर्व उसने मंत्रिपरिषद्, अपने भ्रातृवर्ग और धौम्य, द्वैपायन आदि ऋषियों से राजसूय-विषयक परामर्श कर लिया था, परन्तु उसने अन्तिम रूप में कृष्ण की सम्मति को ही महत्त्व देना उचित समझा। युधिष्ठिर के इस कथन से कृष्ण के चरित्र की महानता पर भी अच्छा प्रकाश पड़ता है। वह उन्हें काम और क्रोध से रहित

१. सभापर्व, १३।४६–५१

पुरुषोत्तम समझते हैं ।[1] बंकिम ने इस प्रसंग में ठीक ही लिखा है—"नित्य का चाल-चलन देखनेवाले कृष्ण के फुफेरे भाई कृष्ण को क्या समझते थे और हम उन्हें क्या समझते हैं ? वे लोग कृष्ण को काम-क्रोध से विवर्जित, सबसे सत्यवादी, सब दोषों से रहित, सर्वलोकोत्तम, सर्वज्ञ और सर्वकृत समझते थे, और हम उन्हें लम्पट, माखन-चोर, कुचक्री, मिथ्यावादी, कापुरुष और सब दोषों की खान समझते हैं । प्राचीन ग्रंथों में जिसे धर्म का आदर्श माना है उसे जाति ने इतना नीचे गिरा दिया, उस जाति का धर्म लोप हो जाय तो आश्चर्य ही क्या ?"[2]

'विदुरनीति' का श्लोक है—

पुरुषा बहवो राजन् सततं प्रियवादिनः ।
अप्रियस्य तु पथ्यस्य वक्ता श्रोता च दुर्लभः ।। (५।१५)

युधिष्ठिर को राजसूय यज्ञ करने के लिए सम्मति देनेवाले तो बहुत-से मिल गये, परन्तु किसी ने यह अप्रिय सत्य कहने का साहस नहीं किया कि जबतक मगधराज जरासंध जैसा प्रभावशाली राजा मौजूद है तबतक युधिष्ठिर को राजसूय यज्ञ में क्या सफलता मिलेगी ! कृष्ण ही वह व्यक्ति थे, जिन्होंने स्पष्ट कह दिया, "महान् पराक्रमी जरासंध के जीते-जी आप कदापि राजसूय यज्ञ पूरा नहीं कर सकते । उसको परास्त करने के पश्चात् ही यह महान् कार्य सफल हो सकेगा ।"[3]

यहाँ जरासंध के अत्याचारों का थोड़ा दिग्दर्शन करा देना अनुचित न होगा । कृष्ण जी की यह दृढ़ धारणा हो गई थी कि भारतवर्ष के सम्पूर्ण रोगों की एकमात्र ओषधि 'केन्द्रीय सुदृढ़ राज्य की स्थापना' ही है । यह साम्राज्य धर्म के मौलिक आदर्शों पर आधारित होना चाहिए क्योंकि धर्म से ही मनुष्यों की इहलौकिक और पारलौकिक उन्नति सम्भव है । कृष्ण के समय में प्रतापी राजाओं का अभाव नहीं था, परन्तु धर्म का सहायक, निर्बलों का पोषक और विश्वकल्याण का जयघोष करनेवाले एक ऐसे सम्राट् का अभाव सबको खल रहा था जिसके ध्वज के नीचे आकर लोग अपने-आपको अत्याचारों

१. त्वं तु हेतूनतीत्यैतान् कामक्रोधौ व्युदस्य च ।
परमं यत् क्षमं लोके यथावद् वक्तुमर्हसि ।।—(सभापर्व, १३।५१)

२. कृष्णचरित्र, पृ० २९३

३. यदि त्वेनं महाराज यज्ञं प्राप्तुमभीप्ससि ।
यतस्व तेषां मोक्षाय जरासंध वधाय च ।।—सभापर्व, १४।६८

से मुक्त समझें और उन्नति की ओर अग्रसर हों। जरासंध यद्यपि बल और प्रताप का भंडार था, किन्तु उसकी शक्तियाँ भी कुमार्ग-गामिनी हो गई थीं। उसने अधर्मी और अत्याचारी राजाओं का पक्ष लिया। कंस-शिशुपाल जैसे नराधम उससे सहायता प्राप्त करते थे और जैसा कि आगे प्रसंग आने पर बताया जायगा, उसने अनेक राजाओं को कैद कर रक्खा था और रुद्र के समक्ष उन्हें बलि देने जैसे पैशाची कृत्य करने का उसने दृढ़ निश्चय कर रक्खा था। अत्याचार और अन्याय के मूल केन्द्र जरासंध का वध जबतक नहीं हो जाता तबतक युधिष्ठिर का महद् अनुष्ठान कैसे सफल होगा, इसकी चिन्ता कृष्ण को बराबर सता रही थी। इसलिये धर्मराज के सम्मति माँगने पर उन्होंने सर्वप्रथम जरासंध का अन्त करने का विचार उसके सम्मुख प्रस्तुत किया।

कृष्ण महाराज के ऐसे स्पष्ट और हितकर वचनों को सुनकर युधिष्ठिर अत्यन्त प्रसन्न हुए और उन्होंने कहा कि मेरे सब कामों में तुम्हीं प्रमाण हो।[1] तुम जो कहोगे, मैं उसके विरुद्ध कभी नहीं जा सकूँगा। भीम ने भी कृष्ण की बात का समर्थन किया और जरासंध को मारने के लिए अपने को कृतसंकल्प बताते हुए कहा कि "कृष्ण नीति में निपुण हैं, मेरा बल विलक्षण है और धनंजय भी सबको जीत सकते हैं। अतः जैसे तीन प्रकार की अग्नियों से यज्ञ पूर्ण होता है, उसी प्रकार हम भी जरासंध का वध अवश्य करेंगे।"[2]

यहाँ यह शंका हो सकती है कि कृष्ण और जरासंध में वैयक्तिक शत्रुता थी, अतः उन्होंने युधिष्ठिर को उसके वध का परामर्श देकर अपनी प्रतिहिंसा की भावना को पूरा करने का प्रयत्न किया, परन्तु यह कथन निर्दोष नहीं है। जरासंध के अमानुषिक अत्याचारों से कृष्ण भली-भाँति परिचित थे। वे जानते थे कि जरासंध ने ८६ राजाओं को अपने कारागार में डाल रक्खा है और उसकी इच्छा है कि इनकी संख्या १०० हो जाने पर वह इनका बलिदान कर दे। ऐसी भयंकर नर-बलि को तभी रोका जा सकता था, जब युधिष्ठिर जरासंध-वध के लिए तैयार होता। ऐसे अत्याचारी और दानवी प्रवृत्तियोंवाले

---

१. त्वं मे प्रमाणभूतोऽसि सर्व कार्येषु केशव।—सभापर्व, १५।१०

२. कृष्णे नयो मयि बलं जयः पार्थे धनंजये।
मागधं साधयिष्यामि इष्टिं त्रय इवाग्नयः॥—१५।१३

नरपशु के वधार्थ कृष्ण का सत्परामर्श उनके लोकहितकारी चरित्र का ज्वलन्त उदाहरण हमारे समक्ष प्रस्तुत करता है। ऐसी दशा में वैयक्तिक शत्रुता का बदला लेने का आक्षेप कृष्ण पर लगाना समीचीन नहीं जान पड़ता। स्पष्टतया लोकहित के लिए ही कृष्ण का यह प्रस्ताव था, परन्तु फिर भी यदि उनपर स्वार्थ का दोष ही लगाया जाता, तो इस मिथ्या दोषारोपण से भयभीत होनेवाले भी वे नहीं थे। लोकनिंदा के भय से कर्त्तव्यच्युत होना उन्होंने नहीं सीखा था। लोक-कल्याण के कार्य को इसीलिए छोड़ देना कि इससे लोग उनकी निंदा करेंगे और यह समझेंगे कि वे जरासंध से अपनी पुरानी शत्रुता का बदला ले रहे हैं, कृष्ण को कदापि स्वीकार नहीं था। वास्तव में ऐसा सोचनेवालों का दृष्टिकोण ही संकीर्ण है, क्योंकि वे लोकमंगल की अपेक्षा अपनी व्यक्तिगत मान-मर्यादा का ही अधिक विचार करते हैं।[१]

जरासंध के बल और पौरुष का ठीक-ठीक अनुमान कर युधिष्ठिर को घोर निराशा हुई, परन्तु अन्त में कृष्ण और अर्जुन के उत्साह प्रदर्शित करने और धैर्य बँधाने पर वह इसके लिए राज़ी हुआ कि येन-केन-प्रकारण मगध-नरेश का पराभव करना ही है। परामर्श के पश्चात् निश्चय हुआ कि भीम, अर्जुन और कृष्ण जरासंध को मारने के लिए मगध जायेंगे। यह भी तय पाया गया कि अकेले जरासंध को ही बाहु-युद्ध में परास्त किया जाय। कृष्ण व्यर्थ की मार-काट और रक्तपात के विरुद्ध थे। उनकी दृष्टि में केवल जरासंध अपराधी था, न कि उसके सैनिक। अतः जरासंध से ही द्वन्द्व युद्ध कर उसे समाप्त करा देने का उनका पक्का निश्चय था।

मगध पहुँचकर गिरिशृंग तोड़कर नगर में प्रवेश करने का उल्लेख 'महाभारत' में हुआ है। यहाँ उन्होंने स्नातक ब्राह्मणों का वेश धारण किया और जरासंध से मिले। जरासंध का सामना होने पर भीम और अर्जुन ने मौन व्रत धारण कर लिया। अतः कृष्ण ने ही आगे होकर कहा कि इनका मौन व्रत है, अतः अर्द्धरात्रि व्यतीत होने पर ही ये बोलेंगे। इसपर जरासंध ने उन्हें यज्ञशाला में टिका दिया तथा अर्द्ध-रात्रि को ही मिलने का वादा कर उनसे विदा ली।

१. कृष्णचरित्र, पृ० २६५

अर्द्धरात्रि व्यतीत होने पर जरासंध ने स्नातक-शधारी पाण्डव-द्वय और कृष्ण का सत्कार किया। चतुर जरासंध ताड़ गया कि विप्र-वेश धारण करनेवाले ये आगन्तुक व्यक्ति ब्राह्मण नहीं हैं। हथेलियों पर धनुष की ज्या चढ़ाने के कारण पड़े हुए घट्टों को देखकर तो उसका संदेह निश्चय में ही बदल गया कि ये अवश्य ही क्षत्रिय हैं। उसने अपनी शंका प्रकट करते हुए उनका वास्तविक परिचय और आगमन का प्रयोजन जानना चाहा।

श्री कृष्ण ने कोमल और गम्भीर स्वर में उत्तर दिया, 'महाराज! आप हमें स्नातक ब्राह्मण ही जानें। ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य तीनों वर्ण स्नातकों के लिए निश्चित नियमों का पालन कर सकते हैं।'[१] अन्त में कृष्ण जी को यह स्वीकार करना पड़ा कि वे क्षत्रिय हैं और यदि वह उनका बल देखना चाहता है तो उसका समय भी शीघ्र ही लाया जा सकता है। उन्होंने यह भी कहा कि 'बुद्धिमान् जन शत्रु के घर में कुद्वार से और बंधु के घर में मुख्य द्वार से जा घुसते हैं।' साथ ही यह कह दिया कि 'कार्य-सिद्धि की चाह में शत्रु के घर में घुसकर हम उसकी दी हुई पूजा को ग्रहण नहीं करते, यह हमारा नियम है।'[२]

जरासंध ने उत्तर दिया, 'ब्राह्मण-श्रेष्ठ! मुझे स्मरण नहीं होता कि मैंने तुमसे कब शत्रुता की। बिना दोष तुम मुझे क्यों अपना शत्रु समझते हो?'[३] इसपर कृष्ण ने अपने असली मन्तव्य को प्रकट किया। उन्होंने कहा, "महाराज! तुम जन-समाज के सब क्षत्रियों को बलपूर्वक पकड़ लाये हो, ऐसा अति कुटिल दोष करके क्यों अपने को निर्दोषी समझते हो? हे नृपश्रेष्ठ! राजा कहलाकर क्यों अन्य साधु-मना राजाओं की हिंसा करते हो और रुद्र के नाम पर उनकी बलि क्यों चढ़ाना चाहते हो? हे जरासंध! तुम्हारा किया हुआ वह पाप हमें भी स्पर्श करता है क्योंकि हम धर्माचरण करनेवाले हैं और धर्म

१. ब्राह्मणान् राजन् विध्यस्मांस्त्वं नराधिप।
स्नातक व्रतिनो राजन् ब्राह्मणाः क्षत्रिया विशः॥—सभापर्व, २१।४९

२. अद्वारेण रिपोर्गेहं द्वारेण सुहृदो गृहान्।
प्रविश्यन्ति नरा धीरा द्वाराण्येतानि धर्मतः॥
कार्यवन्तो गृहानेत्य शत्रुतो नार्हणा वयम्।
प्रतिगृह्णीम तद् विद्धि एतन्न शाश्वतं व्रतम्॥—सभापर्व, २१।५३।५४

३. सभापर्व, २२।१

की रक्षा में समर्थ भी हैं। बलि चढ़ाने के लिए नरहत्या कभी नहीं देखी गई, फिर तुम क्यों नरबलि के द्वारा यह यज्ञ करना चाहते हो ?"[1]

इस प्रकार जरासंध के समक्ष कृष्ण ने अपने उद्देश्य को स्पष्ट रूप से प्रकट कर दिया और अपना परिचय तथा आगमन का उद्देश्य बताते हुए कहा, "मैं कृष्ण हूँ और ये दोनों पाण्डुपुत्र हैं। हे मगधनाथ ! हम तुम्हें ललकारते हैं, स्थिर होकर लड़ो, अथवा सब राजाओं को छोड़ दो, नहीं तो यमलोक के पथिक बनो।"[2] कृष्ण के इस कथन से उनका मन्तव्य स्पष्ट हो जाता है। कृष्ण ने जरासंध से अपने किसी व्यक्तिगत झगड़े की चर्चा नहीं की, क्योंकि वास्तव में उनका जीवन तो समष्टि-हित के लिए ही समर्पित था। जो मानवता का शत्रु है, वही कृष्ण का भी शत्रु है। वे धर्म के मित्र और अधर्म के शत्रु हैं। उन्होंने जरासंध के आगे यह भी प्रकट कर दिया कि यदि वे उसके अत्याचारों और पापाचारों को सहन करेंगे तो उन्हें भी पाप का भागी बनना होगा। कृष्ण का यह कथन अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। वे स्वयं धर्माचरण के लिए कटिबद्ध हैं और अधर्म का आचरण करनेवालों को दण्ड देने की भी सामर्थ्य रखते हैं। कृष्ण का सारा जीवन ही इसी आदर्श को सिद्ध करता है। कंस, शिशुपाल, जरासंध, कौरव आदि अत्याचारियों को मिटाने का उन्होंने आजीवन प्रयत्न किया और इसमें उन्हें सफलता भी मिली।

यहाँ बंकिम ने एक शंका प्रस्तुत की है।[3] पापियों को मारकर ही भू-भार उतारा जा सकता है अथवा उन्हें सन्मार्ग पर लाने का और भी कोई शान्तिपूर्ण उपाय है ? क्या उपदेश और हृदय-परिवर्तन से उनका सन्मार्ग पर आ जाना सम्भव नहीं है ? बंकिम हृदय-परिवर्तन को सर्वथा अस्वीकार नहीं करते, किन्तु महात्मा गांधी की भाँति अतिवादी बनकर दुष्टों को ठीक मार्ग पर लाने का इसे एकमात्र उपाय भी नहीं मानते। जरासंध के समक्ष महाराज ने समझौते की शर्त रक्खी कि यदि वह बंदी राजाओं को मुक्त कर दे तो ठीक है, अन्यथा उसे मृत्यु का सामना करने के लिए तत्पर रहना चाहिए। भारत-युद्ध को

१. सभापर्व, २२।७–११

२. सभापर्व, २२।२५,२६

३. कृष्णचरित्र, पृ० ३०८

रोकने के लिए उन्होंने जो महान् प्रयत्न किये उनका उल्लेख तो हम आगे करेंगे जहाँ हम उन्हें शान्ति का संदेश लेकर कौरव-सभा में जाते देखते हैं।

कृष्ण की नीति में युद्ध को सदा ही गौण स्थान दिया जाता था। परन्तु उनका सिद्धान्त बुद्ध, ईसा या गांधी की भाँति युद्ध का सर्वथा बहिष्कार करने का नहीं था। उनके चरित्र में हमें वह तेजस्विता और पराक्रम दिखाई देता है जो आर्य-आदर्श के विशेष अंग हैं। बुद्ध और गांधी की शिक्षायें निवृत्तिमार्गी श्रमणमार्ग के अनुकूल हैं। परन्तु आर्य-धर्म प्रवृत्ति और निवृत्ति, श्रेय और प्रेय, अभ्युदय तथा निःश्रेयस का समन्वय प्रस्तुत करता है। कृष्ण भी इसी आदर्श को मानते थे तथा तदनुकूल आचरण भी करते थे। अतीतकाल में आर्यों ने भी सदा इसी आदर्श का अनुकरण किया था। वे न तो युद्ध-लिप्सु ही थे और न अकारण युद्ध से भयभीत होनेवाले। आर्य-इतिहास इस बात का साक्षी है कि यदि राम के समझाने पर भी रावण अनार्योचित आचरण को नहीं छोड़ता तो राम के पास भी उसके गर्व को नष्ट करने का उपाय है। यदि दुर्योधन गर्वोन्मत्त होकर कृष्ण के शान्ति-प्रस्ताव का उपहास करता है तो उसके समक्ष अपने गौरवपूर्ण व्यक्तित्व का प्रदर्शन कर उसके अहंकार को चूर्ण कर देने की शक्ति भी कृष्ण में है। विश्व-विजय का स्वप्न देखनेवाले महावीर सिकंदर की भारत-विजय की आकांक्षा को ध्वस्त कर देनेवाले चन्द्रगुप्त जैसे क्षमताशील पुरुष भी इसी आर्य-संस्कृति ने उत्पन्न किये हैं। परन्तु यह शिक्षा वसिष्ठ और व्यास, चाणक्य और दयानन्द की है; बुद्ध, गांधी या ईसा की नहीं। श्रमण-आदर्श आर्य-आदर्श का विरोधी है, क्योंकि वह अधूरा है जबकि आर्य-आदर्श समग्र एवं सम्पूर्ण है। आर्य-आदर्श की प्राप्ति के लिए मनुष्य को अपनी सम्पूर्ण वृत्तियों में सामंजस्य स्थापित करना पड़ता है। श्रमण-आदर्श केवल वैराग्य और त्याग का उपदेश देने के कारण एकांगी है, जबकि आर्य-आदर्श त्याग और भोग, संन्यास और गृहस्थ, लोक और परलोक में सामंजस्य एवं सन्तुलन की शिक्षा देने से सर्वांगीण है। इसीलिए बंकिम को लिखना पड़ा—"कृष्ण का झुकाव लड़ाई की ओर नहीं था, पर धर्मार्थ युद्ध के लिए वे सदा तैयार रहते थे। युद्ध में वे सदा जयी होते थे। ईसा अशिक्षित थे, पर कृष्ण सब शास्त्रों के ज्ञाता थे। इसीलिये कृष्ण ही वास्तविक आदर्श मनुष्य थे। ईसाई-

आदर्श से हिन्दू-(आर्य)-आदर्श श्रेष्ठ है।" "परन्तु दुःख है कि हिन्दू इस आदर्श को भूल गये। जयदेव के कृष्ण की नकल करने में सब लग गये, 'महाभारत' के कृष्ण की कोई याद भी नहीं करता।"[1]

इस प्रसंगान्तर को यहीं समाप्त कर हम प्रकृत विषय पर आते हैं। कृष्ण ने जरासंध से पूछा कि वह तीनों में से किससे द्वन्द्व युद्ध का अभिलाषी है? उत्तर में जरासंध ने भीम से लड़ने की इच्छा प्रकट की।[2] उसने ब्राह्मणों से स्वस्तिवाक्य कराया और क्षात्रधर्म के अनुसार अपने कवच-किरीट आदि उतारकर भीम से भिड़ गया।[2] दोनों वीरों का यह द्वन्द्व युद्ध निरन्तर चौदह दिन तक चला। चौदहवें दिन जरासंध को थका जानकर वासुदेव ने भीम से कहा कि "युद्ध में थके शत्रु को पीड़ा पहुँचाना उचित नहीं है। पूर्णरूप से पीड़ित होने से वह अपना जीवन छोड़ सकता है, इसलिये तुम तुल्य-भाव से लड़ो।"[3] कृष्ण की धार्मिक वृत्ति की यह पराकाष्ठा है। वे थके हुए शत्रु को भी त्रास देना नहीं चाहते।

अन्ततः जरासंध भीमसेन के हाथों मारा गया। कृष्ण और अर्जुन ने बंदी राजाओं को मुक्त किया। जरासंध-वध में कृष्ण का उद्देश्य भी यही था। राजाओं ने अपने मुक्तिदाता कृष्ण की अत्यन्त विनयपूर्वक स्तुति की और स्व-स्थान को चले गये। कृष्ण ने जरासंध के पुत्र सहदेव को राजसिंहासन पर बिठाया और पिता की मृत्यु पर सान्त्वना प्रकट की। कृष्ण का उद्देश्य पूर्ण हुआ। वे जरासंध जैसे अत्याचारी राजा के भार से धरित्री को मुक्त करना चाहते थे। उन्हें स्वयं तो राज्य, ऐश्वर्य या धन-सम्पत्ति की आकांक्षा तिलमात्र भी नहीं थी, इसलिये उन्होंने जरासंध का उत्तराधिकारी उसके पुत्र को ही बनाया तो इसमें आश्चर्य ही क्या! मुक्त हुए राजाओं से भी उन्होंने युधिष्ठिर के राजसूय यज्ञ में सहायता करने को कहा। युधिष्ठिर के नेतृत्व में धर्म-राज्य की संस्थापना कृष्ण के जीवन का प्रमुख लक्ष्य था और जरासंध-वध इस लक्ष्य की पूर्ति में एक निर्णायक क़दम।

१. कृष्ण-चरित्र, पृ० ३१४-१५
२. सभापर्व, २३।२
३. सभापर्व, २३।१०
४. सभापर्व, २३।३२,३३

अध्याय २३

राजसूय यज्ञ और शिशुपाल-वध

जरासंध का पराभव हो जाने के पश्चात् समस्त देशों के नरेशों ने युधिष्ठिर को चक्रवर्ती सम्राट् स्वीकार कर लिया। अब राजसूय यज्ञ की तैयारी होने लगी। सब व्यक्तियों को पृथक्-पृथक् कार्य बाँट दिये गये। 'महाभारत' में लिखा है कि भोजन-व्यवस्था का भार दुःशासन को दिया गया, राजाओं के सत्कार का कार्य संजय ने लिया, समस्त कार्यों की देखरेख के लिए भीष्म और द्रोणाचार्य नियुक्त किये गये। स्वर्ण-रत्नों आदि की रक्षा और दक्षिणा देने का कार्य कृपाचार्य को दिया गया। व्यय का भार विदुर को सौंपा गया। परन्तु, कृष्ण ने ब्राह्मणों के पाँव धोने का कार्य अपने हाथों में लिया।[१] आर्यावर्त के श्रेष्ठतम पुरुष के लिए यह कार्य उसकी विनम्रता, शालीनता तथा महानता का सूचक है। कृष्ण के हृदय में ज्ञान, तपस्या तथा वैराग्य के भंडार विप्रगण के लिए कितना आदर था, यह इस तथ्य से भली-भाँति प्रकट है।

शिशुपाल-वध

कृष्ण के जीवन-चरित की आलोचना के प्रसंग में शिशुपाल-वध का प्रकरण अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। श्री कृष्ण की अग्रपूजा का विरोध करते समय शिशुपाल ने उनके शैशव तथा बाल्यकाल की अनेक घटनाओं का वर्णन किया है, जिनका ऐतिहासिक दृष्टि से विशेष महत्त्व है। इसी प्रसंग में भीष्म के मुँह से उनपर ईश्वरत्व का आरोप भी किया गया है, अतः इस प्रसंग पर अत्यन्त सावधानी और गम्भीरता-पूर्वक विचार करना आवश्यक है।

१. चरणक्षालने कृष्णो ब्राह्मणानां स्वयं ह्यभूत्।
सर्वलोक समावृत्तः पिप्रीषुः फलमुत्तमम ॥—सभापर्व. ३५।१०

बंकिमचन्द्र ने शिशुपाल-वध पर्वाध्याय को मौलिक 'महाभारत' का अंश माना है, परन्तु उन्होंने यह भी स्वीकार किया है कि इसमें दो तरह की लिखावट है। इसका स्थूल भाग मौलिक है, पर दूसरी तह के कवियों ने इसमें नवीन भाग भी पर्याप्त मात्रा में मिला दिया है। कृष्ण पर ईश्वरत्व का आरोप इन्हीं कवियों का कर्म है।[1]

शिशुपाल-वध की कथा संक्षेप में इस प्रकार है—राजसूय यज्ञ प्रारम्भ होने पर भीष्म ने युधिष्ठिर से कहा कि उपस्थित राजाओं में जो सबसे श्रेष्ठ है उसे ही सर्वप्रथम अर्घ्य देना चाहिए। युधिष्ठिर ने जब भीष्म से ही पूछा कि ऐसा कौन व्यक्ति है जो प्रथम अर्घ्य पाने का पात्र है? इसपर भीष्म ने कहा, "जैसे सब ज्योति-मालाओं में आदित्य सबसे प्रकाशमान है, वैसे ही इन राजाओं में श्रीकृष्ण तेज, बल, पराक्रम से अति प्रकाशित दीख पड़ते हैं। अतः वे ही अर्घ्य के उपयुक्त पात्र हैं।"[2] भीष्म की सम्मति के अनुसार ही आज्ञा पाकर सहदेव ने कृष्ण को अर्घ्य प्रदान किया।[3]

कृष्ण का यह सम्मान चेदिराज शिशुपाल से नहीं देखा गया। वह प्रारम्भ से ही कृष्ण का विरोधी था। कृष्ण का धर्म-संस्थापन का महत्त्वपूर्ण कार्य उसे फूटी आँख नहीं सुहाता था। रुक्मिणी-हरण की घटना से तो वह और भी खिन्न था और किसी-न-किसी प्रकार कृष्ण से बदला लेना चाहता था। उसने पाण्डवों, भीष्म पितामह तथा कृष्ण को बहुत बुरा-भला कहा और विशेष रूप से कृष्ण की निंदा करते हुए उन्हें अग्रपूजा का अनधिकारी ठहराया।

शिशुपाल ने कहा, "कृष्ण अग्रपूजा का पात्र कदापि नहीं है। कृष्ण को यदि वृद्ध जानकर उसकी पूजा की है, तो उसके पिता वसुदेव के विद्यमान रहते उनका पुत्र पूजनीय कैसे हुआ?[4] यदि उसे अपना प्रिय

---

१. कृष्णचरित्र, पृ० ३२६

२. एष ह्येषां समस्तानां तेजो बल पराक्रमैः।
मध्ये तपन्निवा भाति ज्योतिषामिव भास्करः॥
असूर्यमिव सूर्येण निर्वातमिव वायुना।
भासितं ह्लादितं चैव कृष्णेनेदं सदो हि नः॥—सभापर्व, ३६।२८,२९

३. सभापर्व ३६।३०

४. अथवा मन्यसे कृष्णं स्वविरे कुरुपुंगव।
वसुदेवे स्थिते वृद्धे कथमर्हति तत्सुतः॥—३७।६

और शुभेच्छु समझकर पूजा गया तो द्रुपद के रहते उसकी पूजा क्यों हुई ?[1] यदि कृष्ण को आचार्य समझकर पूजा है तो द्रोणाचार्य के रहते उसको पूजना उचित नहीं।[2] अथवा उसे ऋत्विक् मानकर पूजा हो तो कृष्ण द्वैपायन के रहते तुमने उसकी पूजा क्यों की ?[3] इसी प्रकार शिशुपाल ने भीष्म[4], अश्वत्थामा[5], दुर्योधन[6], कृपाचार्य[7], कर्ण[8] आदि उपस्थित पुरुषों को कृष्ण से कहीं अधिक श्रेष्ठ बताया और उनकी विद्यमानता में कृष्ण को पूजना—जो उसकी दृष्टि में न ऋत्विक् है, न न आचार्य है और न राजा, अनुचित बताया। उसके कथनानुसार युधिष्ठिर ने कृष्ण को अर्घ्य देकर तमाम उपस्थित राजाओं का अपमान किया है।[9]

शिशुपाल ने युधिष्ठिर से यह भी कहा कि हमने भय, लोभ अथवा आश्वासन के लिए तुम्हें कर दिया हो, ऐसा नहीं है, परन्तु तुम धर्म में प्रवृत्त होकर साम्राज्य की कामना कर रहे हो इसलिए हमने तुम्हें कर दिया है और अपना सम्राट् स्वीकार किया है; परन्तु तुमने हमारा अपमान किया है।[10] कृष्ण से उसने कहा कि युधिष्ठिर चाहे भीत और कृपण बने, किन्तु तुम्हें तो अपने अर्घ्य लेने की योग्यता पर विचार करना चाहिये। बंकिम ने शिशुपाल की इस वक्तृता का बड़ा मनोरंजक वर्णन किया है। वे लिखते हैं "यह व्याख्यान यदि विलायत की पार्लियामेण्ट

---

१. अथवा वासुदेवोऽपि प्रियकामोऽनुवृत्तवान्।
द्रुपदे तिष्ठति कथं माधवोऽर्हति पूजनम्॥—३७।७

२. आचार्यं मन्यसे कृष्णमथवा कुरुनन्दन।
द्रोणे तिष्ठति वार्ष्णेय कस्मादर्चितवानसि॥—३७।८

३. ऋत्विजं मन्यसे कृष्णमथवा कुरुनन्दन।
द्वैपायने स्थिते वृद्धे कथं कृष्णोऽर्चितस्त्वया॥—३७।९
आचार्य तथा ऋत्विज के रूप में कृष्ण को अर्घ्य का प्रथम अधिकारी मानने की युक्ति से यह सिद्ध होता है कि वे उच्चकोटि के शास्त्रज्ञ तथा वेदज्ञ थे।

४. सभापर्व, अध्याय ३७।१०

५. वही, ३७।११

६. वही, ३७।१२

७. वही, ३७।१२

८. वही, ३७।१५,१६

९. वही, ३७।१७,१८

१०. वही, ३७।१९,२०

में होता तो उसकी जैसी चाहिये वैसी कदर होती ... शिशुपाल बोलते-बोलते वक्ताओं की तरह जोश में आ गया, फिर तर्क छोड़कर अलंकार में आ गया, विचार छोड़कर गालियाँ देने लगा।"[1] उसने कृष्ण को एकान्त में घृत की धार चाटनेवाला कुत्ता और विवाहित नपुंसक[2] कहा, और अन्त में यह कहकर अपने मित्र राजाओं के साथ सभा-भवन को त्यागकर चला गया कि आज राजा युधिष्ठिर, भीष्म एवं कृष्ण के सभी के गुणों-अवगुणों का पता चल गया।[3]

क्षमा के मूर्तिमान् अवतार, परम स्थितप्रज्ञ, योगिवर्य श्री कृष्ण शिशुपाल की इन कटूक्तियों को सुनकर भी कुछ नहीं बोले। उनमें अपार बल था और यदि वे चाहते तो उसकी उद्दण्डता के लिए उसे उसी समय दण्डित कर सकते थे, परन्तु वे अत्यन्त धैर्यपूर्वक उसकी बातें सुनते रहे। युधिष्ठिर ने, जैसाकि उसका कर्त्तव्य था, शिशुपाल को समझा-बुझाकर शान्त करना चाहा। भीष्म को राजा के ये खुशामद-भरे वाक्य अच्छे नहीं लगे; वे कहने लगे, "श्री कृष्ण की पूजा जिसे प्रिय नहीं लगी, ऐसे जन की विनय करना या उसे समझाना उचित नहीं।"[4] इसके पश्चात् भीष्म ने कृष्ण की पूजा के यथार्थ पात्र होने की पुष्टि में प्रमाण देने आरम्भ किये। उनके वाक्यों में दो प्रकार के भाव मिलते हैं—कुछ से तो यह प्रकट होता है कि कृष्ण के मानवोचित गुणों की पराकाष्ठा के कारण ही वे अग्रपूजा के अधिकारी ठहराये गये हैं; कुछ वाक्य ऐसे भी मिलते हैं जिनसे कृष्ण के ईश्वर होने का संकेत मिलता है। यहाँ नमूने के लिए दोनों प्रकार के वाक्य लिखे जाते हैं—"इस राज-समाज में एक भी राजा ऐसा दिखायी नहीं देता जो यदुनन्दन के तेज से परास्त न हुआ हो।"[5] यह वाक्य कृष्ण को मनुष्य मानकर

१. कृष्ण-चरित्र, पृ० ३२८, ३२९

२. सभापर्व, ३७।२७, ३७।२९
शिशुपाल द्वारा कृष्ण के लिए प्रयुक्त इन अपशब्दों पर बंकिम की टिप्पणी द्रष्टव्य है—कृष्ण निस्सन्तान नहीं थे, पर लम्पट, जितेन्द्रियों को यही कह-कर गालियाँ देते हैं।

३. दृष्टो युधिष्ठिरो राजा दृष्टो भीष्मश्च यादृशः।
वासुदेवोऽप्ययं दृष्टः सर्वमेतद् यथातथम्॥—(३७।२०)

४. सभापर्व, ३८।६

५. अस्यां हि समितौ राज्ञामेकमप्यजितं युधि।
न पश्यामि महीपालं सात्वतीपुत्र तेजसा॥ (सभापर्व, ३८।८)

कहा गया है। अब अवतारी दृष्टिकोण सुनिए—"यह महाभुज अच्युत हमारे ही पूजनीय नहीं हैं, यह त्रिलोक-भर के पूजनीय हैं।"[1]

भीष्म ने पुनः कहा, "मैंने बहुतेरे ज्ञान-वृद्धों की उपासना की है, उनसे मैं श्री कृष्ण के साधुसम्मत अनन्त गुण-वृत्तान्त सुन चुका हूँ।[2] इन श्रीमान् महापुरुष ने जन्म से जो-जो कर्म किये हैं, उन सबकी कथा भी हमने सुनी है। यह मत समझना कि हम केवल स्वेच्छा से या सम्बन्ध से ही कृष्ण को पूजते हैं, अपितु इनका यज्ञ, शूरता और जय का वृत्तान्त जानकर ही हम इनकी पूजा करते हैं। कृष्ण के पूज्य होने में दो कारण हैं—वेद-वेदांगों का उन्हें सम्पूर्ण रीति से ज्ञान है और बल में भी वे अधिक हैं। मनुष्य-लोक में केशव से अधिक गुणी और कौन होगा ? दान, दाक्षिण्य, शास्त्रज्ञान, शूरता, लज्जा, कीर्त्ति, अच्छी बुद्धि, विनय, श्री, धृति, तुष्टि, ये सब गुण कृष्ण में प्रतिष्ठित हैं, अतः आचार्य, पिता, गुरु, ऋत्विक्, स्नातक और प्रियमित्र होने से कृष्ण सदा हमारे पूज्य हैं।"[3]

आगे दैवत्ववाद ने ज़ोर मारा और भीष्म कहने लगे, "कृष्ण ही सब लोकों के पैदा करने और लय करने में कारण हैं। ये ही अव्यक्त-प्रवृत्ति, सनातनकर्त्ता और सर्वभूतों से अतीत हैं।"[4] इस प्रकार भीष्म के कथन में मानववाद और दैववाद का एक विचित्र मिश्रण-सा है। हम पूर्व-प्रतिपादित नियम के अनुसार कृष्ण के मानवोचित, स्वाभाविक रूप को स्वीकार करने और उनके अलौकिक रूप को छोड़ने के लिए प्रति-बद्ध हैं। भीष्म के कथन का मुख्य अभिप्राय यही था कि पराक्रम और पांडित्य में सर्वोपरि होने के कारण ही कृष्ण पूजनीय तथा अर्घ्य के

---

१. न हि केवलमस्माकमयमर्च्यतमोऽच्युतः।
त्रयाणामपि लोकानामर्चनीयो महाभुजः॥ (सभापर्व, ३८।९)

२. ज्ञानवृद्धा मया राजन् बहवः पर्युपासिता।
तेषां कथयतां शौरेरहं गुणवतो गुणान्॥ (सभापर्व, ३८।१२)

३. वेदवेदाङ्ग विज्ञानं बलं चाभ्यधिकं तथा।
नृणां लोके हि कोऽन्योस्ति विशिष्टः केशवादृते॥
दानं दाक्ष्यं श्रुतं शौर्य ह्रीः कीर्तिर्बुद्धिरुत्तमां।
सन्नति श्रीर्धृतिस्तुष्टिः पुष्टिश्च नियताच्युते॥
ऋत्विग् गुरुस्तथाऽऽचार्यः स्नातको नृपतिः प्रियः।
सर्वमेदहृ षीकेशस्तस्मादभ्यर्चितोऽच्युत॥ (सभापर्व, ३८।१९,२०,२२)

४. सभापर्व, ३८।२३,२४ तथा आगे के श्लोक।

अधिकारी हैं। अन्त में उन्होंने शिशुपाल से यहाँ तक कह दिया कि यदि तुम्हें कृष्ण की पूजा अनुचित लगती हो तो तुम्हारी जो इच्छा हो सो करो।[१]

भीष्म के शान्त होने पर सहदेव ने जिस प्रकार कृष्ण को अर्घ्य दिया उसे देखकर शिशुपाल के क्रोध की सीमा न रही। उसने कृष्ण और पाण्डवों से युद्ध करने के लिए उपस्थित राजाओं को भी उत्तेजित किया और उन्हें यज्ञ में बाधा डालने के लिए उत्साहित किया। उसके इस अभिप्राय को कृष्ण ने जान लिया और वे समझ गये कि ये उपद्रवी राजा इस समय युद्ध के लिए तैयार हैं। युधिष्ठिर को इससे बड़ी चिन्ता हुई कि कहीं शिशुपाल राजसूय यज्ञ में कोई विघ्न न डाल दे। भीष्म ने उसकी घबराहट को दूर करते हुए उसे साहस बँधाया और कहा कि शिशुपाल स्वयं ही थोड़ी देर में अपने दुष्कर्मों के कारण कृष्ण के हाथों मारा जायेगा।[२]

अब शिशुपाल ने कृष्ण और भीष्म को गालियाँ देना आरम्भ किया। इस बार की गालियाँ अधिक तीखी थीं। इसी प्रसंग में शिशुपाल ने कृष्ण के बाल्यकाल की उन घटनाओं की ओर भी संकेत किया जिनका पुराणों में अतिशयोक्तिपूर्ण वर्णन मिलता है और कृष्ण के प्रारम्भिक जीवन की आलोचना करते समय हम जिनकी समीक्षा कर चुके हैं। परन्तु एक बात यहाँ स्पष्ट नहीं है। शिशुपाल कहता है, "कृष्ण का पूतना-वध आदि कर्म विशेष रूप से कहकर तुमने हमें बड़ी व्यथा पहुँचायी है।"[३] अथवा "तुम्हारी इस बात पर कि पहाड़ की चोटी पर खेलते हुए इसने बहुत अन्न खाया था, सबने बहुत आश्चर्य माना है।"[४] इत्यादि वाक्यों द्वारा कृष्ण के बचपन के चमत्कारपूर्ण कृत्यों की तुच्छता बताते हुए शिशुपाल का यह कथन है कि ये घटनाएँ भीष्म द्वारा वर्णित की गयी हैं। परन्तु सभापर्व के राजसूय-प्रकरण में

१. अथैनां दुष्कृतां पूजां शिशुपालो व्यवस्यति।
दुष्कृतायां यथान्यायं तथायं कर्तुमर्हसि॥ (३८।३३)

२. सभापर्व, अध्याय ३९

३. पूतनाघातपूर्वाणि कर्माण्यस्य विशेषतः।
त्वया कीर्तयतास्माकं भूयः प्रव्यथितं मनः॥ (सभापर्व, ४१।४)

४. युक्तमेतेन बह्वन्नं क्रीडता नगमूर्धनि।
इति ते भीष्म कृण्वानाः परे विस्मयमागताः॥ (४१।१०)

ऐसा कोई उल्लेख नहीं मिलता जिससे यह सिद्ध होता हो कि कृष्ण के बाल्यकाल की ये तथाकथित घटनाएँ भीष्म द्वारा वर्णित हुई हों। यदि भीष्म कृष्ण के बाल्यकाल के वीरतापूर्ण कृत्यों का वर्णन कर कृष्ण के अलौकिक बल-पराक्रम से सभासदों को प्रभावित करने का प्रयत्न करते तो शिशुपाल का कथन अवश्य उचित होता। निश्चय ही ये श्लोक प्रक्षिप्त हैं। हमारे इस कथन का समर्थन डॉ० भंडारकर के निम्न लेख से होता है—"सभापर्व के इकतालीसवें अध्याय में शिशुपाल कृष्ण के पूतना-वध आदि वीरतापूर्ण कृत्यों का बखान करता हुआ कहता है कि भीष्म ने इन कृत्यों का वर्णन किया है, परन्तु अड़तीसवें अध्याय में जहाँ भीष्म ने कृष्ण की प्रशंसा की है, वहाँ उनका कोई उल्लेख नहीं है। अतः यह प्रसंग प्रक्षिप्त है।'[१] अथवा, यह भी हो सकता है कि शिशुपाल कृष्ण की लोक-प्रसिद्ध घटनाओं का ही उल्लेख कर उनकी कदर्यता और अपदार्थता प्रमाणित करना चाहता था। जो भी हो, इसमें सन्देह नहीं कि शिशुपाल की कटूक्तियों को सुनकर अत्यन्त धैर्यशाली पुरुष का धैर्य भी नष्ट हो जाता। परन्तु शान्तमूर्ति, अद्भुत क्षमाशील कृष्ण की ऐसे प्रसंग में निर्लेपता और तटस्थता दर्शनीय है। उन्होंने अपना घोर अपमान होने पर भी भ्रू-संकोच नहीं किया, बल्कि उस अवसर की प्रतीक्षा करते रहे जबकि वे शिशुपाल को मारकर उसकी धृष्टता तथा उद्दण्डता का पूरा मज़ा चखा सकें।

शिशुपाल ने भीष्म को बुरा-भला कहने में भी कोई कसर नहीं रक्खी। उनके ब्रह्मचर्य पर विशेषरूप से कटाक्ष किया और कहा कि तुम्हारा ब्रह्मचर्य व्यर्थ है; या तो यह भ्रम है, नहीं तो नपुंसक होने के कारण ही तुमने इसे धारण किया है। पुत्र के अभाव में सारी देव-पूजा, दान, पठन, यज्ञादि शुभ कर्म अधूरे हैं और तुम पुत्र के अभाव में वृद्ध

---

१. In the Sabha Parva (Chapter 41) Shishupal introducing Krishna alludes to his valorous deeds, suchas the killing of Putana and others, which were done in the cow-settlement, and speaks of Bhishma's having praised them. But the praise bestowed on Krishna by Bhishma (Chapter 34) does not contain a mention of these deeds. This passage therefore is interpolated."

Vaishnavism, Shaivism and Minor Religious Systems, p. 36.

हो गये, अतः तुम्हारा धर्म-धर्म चिल्लाना झूठा है।[1] कृष्ण ने जरासंध से मिलने के समय जो ब्राह्मणों का वेश धारण किया था, उसका भी उल्लेख कर शिशुपाल ने कृष्ण को कपटी बताया क्योंकि शिशुपाल और जरासंध एक ही गुट के थे। इस प्रकार शिशुपाल की अनीति और अशिष्टता अपनी चरम सीमा पर पहुँच गयी।

शिशुपाल की इन निर्लज्जतापूर्ण और मिथ्या बातों से क्षुब्ध होकर भीमसेन उसे मारने के लिए झपटा, परन्तु भीष्म ने उसे रोका और शिशुपाल के जन्म की एक अलौकिक कथा सुनाने लगे। उस कथा का अनपेक्षित वर्णन करने की आवश्यकता नहीं है। सभा-पर्व के ४३वें अध्याय में यह कथा वर्णित है। इसका भाव यह है कि जिस समय शिशुपाल का जन्म हुआ था, उस समय उसके तीन नेत्र और चार भुजाएँ थीं। इस विकृतांग बालक को जब उसके माता-पिता त्यागने के लिए तैयार हुए तो भविष्यवाणी हुई कि जिसकी गोद में जाने पर इसकी फ़ालतू आँख व भुजाएँ गिर पड़ेंगी वही इसका मारनेवाला होगा। सौभाग्य कहिए या दुर्भाग्य, कृष्ण के गोद में लेते ही शिशुपाल के दो हाथ व एक नेत्र अदृश्य हो गये। अब कृष्ण की मौसी, जो शिशुपाल की माता थी, ने कृष्ण से अपने पुत्र के प्राणों की याचना की क्योंकि भविष्यवाणी के अनुसार कृष्ण के द्वारा ही शिशुपाल का वध होता। इसपर कृष्ण ने अपनी मौसी से कहा कि मैं उसके वध-योग्य सौ अपराध तक तो क्षमा कर दूँगा[2], परन्तु इसके उपरान्त भी अपराध करने पर इसका वध अवश्यम्भावी हो जायगा। यह कथा सुनाकर भीष्म ने वृकोदर को निश्चय कराया कि कृष्ण के हाथों शिशुपाल का मारा जाना दैव द्वारा सुनिश्चित है।

स्पष्ट ही यह कथा ऐतिहासिक सत्य से शून्य है। जो व्यक्ति कृष्ण के अद्भुत क्षमाशीलता के गुण से अपरिचित हैं, उनको चमत्कृत करने

१. को हि धर्मोऽसि ते भीष्म ब्रह्मचर्यमिदं वृथा।
यद् धारयसि मोहाद् वा क्लीवत्वाद् वा न संशय॥ (४१।२५)
इष्टं दत्तमधीते च यज्ञांश्च बहुदक्षिणाः।
सर्वमेतदपत्यस्य कलां नार्हन्ति षोडशीम्॥ (४१।२७)

२. अपराधशतं क्षाम्यं मया ह्यस्य पितृष्वसः।
पुत्रस्य ते वधार्हस्य मा त्वं शोके मनः वृथाः॥ (४३।२४)

के लिए ही यह किस्सा गढ़ा गया है। परन्तु कृष्ण का जन्म तो आर्य-आदर्शों की स्थापना के लिए ही हुआ था। उनके समस्त कार्य निष्काम-भाव से, व्यक्तिगत हिताहित से रहित लोकोपकार की भावना से होते थे। यों शिशुपाल ने कृष्ण के अनेक व्यक्तिगत अनिष्ट किये थे। उदाहरणार्थ उनकी अनुपस्थिति में द्वारिका नगरी को जला डालना, राजा भोज के अनुचरों को मार डालना तथा उनके पिता वसुदेव के अश्वमेध के घोड़े को छिपा लेना, आदि।[1] परन्तु कृष्ण ने व्यक्तिगत अहित के इन कामों का विचार नहीं किया। किन्तु अब, जबकि शिशुपाल कृष्ण के जीवन के प्रमुख लक्ष्य धर्म-राज्य की संस्थापना में ही बाधक बनकर युधिष्ठिर के राजसूय यज्ञ में विघ्न पहुँचाने के लिए उद्यत हुआ, तब कृष्ण के लिए यह असह्य हो गया।

शिशुपाल और भीष्म में फिर झगड़ा हो गया। शिशुपाल ने तो यहाँ तक कह दिया कि यह भीष्म तो इन राजाओं की दया पर ही जीता है, अन्यथा कभी का मारा जाता।[2] भीष्म यह सुनकर आग-बबूला हो गए और उन्होंने राजाओं के तिरस्कार में कुछ शब्द कहे जिनका यह अभिप्राय था कि मैं इन राजाओं को तिनका-मात्र भी नहीं गिनता।[3] इसपर उपस्थित राजा अत्यन्त क्रुद्ध हो गये और भीष्म को मारने के लिए तत्पर हो गये। भीष्म ने अपने ऊपर आयी बला को कृष्ण के ऊपर टाल दिया और यह कहकर दूर हो गये कि हमने महान् बलशाली श्री कृष्ण की पूजा की है, अतः जिसे लड़ने की इच्छा हो वह कृष्ण से लड़कर पूरी कर ले।[4]

अब शिशुपाल से नहीं रहा गया। उसने चिल्लाकर कृष्ण से अपने समक्ष आने के लिए कहा।[5] कृष्ण के लिए अब कोई रास्ता शेष न था।

१. सभापर्व, अध्याय ४५।७,८,९

२. इच्छतां भूमिपालानां भीष्मजीवस्य संशयम्।
लोकविद्विष्टकर्मा हि नान्योऽस्ति भवता समः॥ (सभापर्व, ४४।३२)

३. इच्छतां किल नामाहं जीवाम्येषां महीक्षिताम्।
सोऽहं न गणनाम्येतांस्तृणेनापि नराधिपान्॥ (४४।३४)

४. एष तिष्ठति गोविन्दः पूजितोऽस्माभिरच्युतः।
यस्य वस्त्वरते बुद्धिर्मरणाय स माधवम्॥ (४४।४१)

५. आह्वये त्वां रणः गच्छ मया सार्धं जनार्दन।
यावदद्य निहन्मि त्वां सहिते सर्वं पाण्डवैः॥ (४५।२)

उन्होंने जरासंध की भाँति शिशुपाल को भी मृत्यु-मुख़ से बचाने के लिए भरसक प्रयत्न किया, परन्तु युद्ध के लिए उसकी ललकार को सुनकर उनका क्षत्रियत्व चुप नहीं रह सका। उन्होंने सम्पूर्ण राज-सभा के समक्ष शिशुपाल के कुकृत्यों का वर्णन किया और यह भी कह दिया कि अबतक तो मैं इसके अपराधों की अवज्ञा करता रहा, परन्तु आगे उसकी नीचता को सहन करना असम्भव है।[1]

इसके पश्चात् 'महाभारत' में एक अलौकिक घटना का वर्णन आता है और वह है कृष्ण द्वारा सुदर्शन चक्र का स्मरण, चक्र के द्वारा शिशुपाल का शिरच्छेद और उसके तेज का कृष्ण के मुख में विलीन हो जाना।[2] इस घटना को अस्वाभाविक समझकर छोड़ने के लिए हम बाध्य हैं। बंकिम भी इस घटना को सत्य नहीं मानते। उन्होंने उद्योग-पर्व में उल्लिखित धृतराष्ट्र के वचनों से यह प्रमाणित कर दिया है कि शिशुपाल-वध की इस कथा में सत्यता नहीं है। वास्तव में कृष्ण ने युद्ध में शिशुपाल को मारा, क्योंकि जब वह यज्ञ में विघ्न डालने के लिए कृतसंकल्प हो गया तो उसका वध भी कृष्ण के लिए अनिवार्य था। यज्ञ की रक्षा का कार्य कृष्ण के ही सुपुर्द था। यदि यज्ञ में विघ्न पड़ता तो उनकी निन्दा होती, अतः यथाशक्य युद्ध से बचे रहने पर भी उनको यह अप्रिय कार्य करना पड़ा। कर्त्तव्य-पालन का अवसर आ जाने पर कृष्ण बड़े निर्मम हो जाया करते थे। तब वे न किसी का लिहाज़ करते थे और न किसी को क्षमा। अपराध करने पर अपने मामा कंस को भी उन्होंने क्षमा नहीं किया और अब वही गति मौसेरे भाई शिशुपाल की भी हुई। जैसे-तैसे राजसूय यज्ञ समाप्त हुआ। उसके पश्चात् कृष्ण द्वारिका चले गये। इसके अनन्तर सभापर्व में उनका कहीं उल्लेख नहीं है। परन्तु इसी पर्व में द्रौपदी के वस्त्रापकर्षण-प्रसंग में उनका उल्लेख हुआ है। इस प्रसंग का 'महाभारत' का मूल वाक्य हम गोपी-प्रसंग में उद्धृत कर आये हैं। जिस समय हस्तिनापुर में यह घटना घटी, उस समय कृष्ण द्वारिका में निवास करते थे। अतः द्रौपदी की सहायता के लिए आना किसी भी प्रकार सम्भव नहीं था। वे युधिष्ठिर के द्यूत के

---

१. इयं त्वस्य न शक्ष्यामि क्षन्तुमद्य व्यतिक्रमम्।
अवलेपाद् वधार्हस्य समग्रे राजमण्डले॥ (४५।१४)

२. सभापर्व, ४५।२७

लिए उद्यत होने और उसमें सर्वस्व गँवा बैठने की घटना से भी अनभिज्ञ थे। यदि वे उपस्थित होते तो युधिष्ठिर को ऐसे अधर्मपूर्ण कृत्य में कभी प्रवृत्त न होने देते। जब उन्हें पाण्डवों के द्यूत में पराजित होने और वनवासी होने के समाचार मिले तो उन्हें आश्चर्य और खेद दोनों ही हुए, क्योंकि वे घटनास्थल पर उपस्थित नहीं थे और उनके अनजाने में यह दुःखद घटना हो गयी थी। ऐसी स्थिति में उनके द्वारा द्रौपदी की साड़ी बढ़ाने के विषय में जो कल्पना लोगों में प्रचलित है, उसे हम अलीक और मिथ्या ही समझते हैं। भक्तों ने भगवान् के महत्त्व और उनकी भक्तवत्सलता का दृष्टान्त उपस्थित करने के लिए ही ऐसी घटनाओं की रचना की है। वास्तव में उनमें ऐतिहासिक तत्त्व कुछ भी नहीं है। भयंकर विपत्ति पड़ने पर मनुष्य का मस्तिष्क ठिकाने पर नहीं रहता और ऐसी दशा में यदि द्रौपदी ने कृष्ण को सहायता के लिए पुकारा हो तो कोई आश्चर्य नहीं। परन्तु वे उस समय द्वारिका में ही थे, इसलिए वस्त्र-वृद्धि भक्तों की कल्पना का ही चमत्कार है।

वन-पर्व में जहाँ कृष्ण का उल्लेख हुआ है, वहाँ उनके साथ किसी महत्त्वपूर्ण घटना का सम्बन्ध नहीं है। हाँ, शाल्व-वध का एक प्रसंग आता है। शाल्व के पास एक ऐसा विमान था जिसमें जीवन की सब सुख-सुविधाएँ तो थीं ही, साथ ही जिसके द्वारा युद्ध भी किया जा सकता था। 'महाभारत' में इसे आकाशचारी सौभनगर कहा है। शाल्व ने कृष्ण की अनुपस्थिति में द्वारिका पर आक्रमण किया। जब कृष्ण को यह समाचार मिला तो वे तुरन्त नगर की रक्षा के लिए उपस्थित हो गये। घोर युद्ध के पश्चात् शाल्व मारा गया और द्वारिका-विजय की उसकी कामना अपूर्ण ही रह गयी। इस कथन में अद्भुत रस का बाहुल्य है, अतः यह घटना 'महाभारत' की मौलिक तह के अन्तर्गत नहीं आती। पंडित चमूपति ने इसे प्रामाणिक माना है और एक पृथक् अध्याय में इसकी विवेचना की है। विराट-पर्व में भी कृष्ण का उल्लेख नहीं है। अतः अब उद्योग-पर्व के आधार पर कृष्ण-चरित्र का विश्लेषण प्रारम्भ किया जाता है।

◈

अध्याय २४

संधि का उद्योग

शकुनि और दुर्योधन के कपटपूर्ण द्यूत से छले जाने के कारण पाण्डव वनवासी हुए और उन्होंने बारह वर्ष का वनवास तथा १ वर्ष का अज्ञातवास राजा विराट के यहाँ व्यतीत किया। जब यह वर्ष भी समाप्त हो गया तो पुनः राज्यप्राप्ति के लिए मंत्रणा होने लगी। राजा विराट के सभा-भवन में पाण्डवों तथा उनके हित-चिन्तकों की एक सभा प्रातःकाल के समय हुई। उसमें विराट, द्रुपद, श्री कृष्ण, कृतवर्मा, बलराम, सात्यकि, युधिष्ठिर सहित सभी भाई तथा अर्जुन-पुत्र अभिमन्यु आदि उपस्थित थे। सभा के विचार को आरम्भ करते हुए कृष्ण ने अपनी प्रारम्भिक वक्तृता प्रस्तुत की। उन्होंने विगत परिस्थितियों का सिंहावलोकन करते हुए बताया कि पाण्डव लोग शकुनि द्वारा प्रपञ्चित जुए में हार गये हैं और उन्होंने द्वादश वार्षिक वनवास तथा एक वर्ष का अज्ञातवास अपनी प्रतिज्ञा के अनुसार पूरा कर लिया है। अब नियमानुसार वे पुनः अपने राज्य को प्राप्त करने के अधिकारी हैं परन्तु दुर्योधन द्वारा राज्य लौटाने की सम्भावना बहुत कम है। अतः कोई ऐसा भाग निकालना चाहिए जिससे दुर्योधन की भी हानि न हो और पाण्डवों का भी धर्म एवं यश बढ़े। कृष्ण ने राज्य-प्राप्ति के लिए छल, कपट या युद्ध का सहारा लेने का परामर्श नहीं दिया। इसके विपरीत उन्होंने तो स्पष्ट कहा कि धर्मराज अधर्म से इन्द्र के राज्य की भी इच्छा नहीं करते और धर्मानुसार एक गाँव का स्वामी होना भी अच्छा समझते हैं।

कृष्ण के कथन का यह तात्पर्य नहीं था कि पाण्डव अपने अधिकार को छोड़ दें तथा सर्व-सर्ग-परित्यागी परिव्राजक की तरह भिक्षाटन करें। उनका उद्देश्य धर्ममूलक प्रवृत्ति-मार्ग से लोगों को हटाना नहीं था। वे तो प्रवृत्ति एवं निवृत्ति के समुचित सामंजस्य तथा समन्वय के

पक्षपाती थे। अन्त में सबकी सम्मति माँगते हुए कृष्ण ने अपनी सम्मति के अनुसार एक पवित्र, धर्मात्मा, कुलीन और विद्वान् को दूत के रूप में दुर्योधन के समीप भेजने का प्रस्ताव रक्खा जो युधिष्ठिर के दृष्टिकोण को राजा के समक्ष रख सके।[1]

कृष्ण की वक्तृता के समाप्त होने पर बलराम ने भी उनके कथन का समर्थन किया और दूत भेजने के सम्बन्ध में अपने रचनात्मक सुझाव प्रस्तुत किये।[2] यादव-वीर सात्यकि को यह संधि-प्रस्ताव नहीं भाया। यह ध्यान देने की बात है कि सात्यकि को कृष्ण के प्रस्ताव का विरोध करने का तो साहस नहीं हुआ, किन्तु बलराम के समर्थन से उसका पारा चढ़ गया। उसने बलराम को कायर तक कह दिया तथा बलपूर्वक कौरवों को परास्त करने और पाण्डवों को राज्य प्राप्त कराने का प्रस्ताव उपस्थित किया।[3] द्रुपद ने सात्यकि का अनुमोदन किया और मित्र-राजाओं को सहायता के लिए दूत भेजने का विचार रक्खा।[4]

अब कृष्ण पुनः बोले, "महाराज द्रुपद ने जो कुछ कहा है वह उचित ही है और ऐसा करने से ही महातेजस्वी महाराज युधिष्ठिर का कार्य सिद्ध होगा; परन्तु हम लोगों का (अर्थात् यादवों का) पाण्डवों और कौरवों से समान सम्बन्ध है, अतः हम एक पक्ष का अवलम्बन कर कोई काम करना नहीं चाहते। दूसरी बात यह है कि इस समय हम अभिमन्यु के विवाह में आमंत्रित होकर आये हैं। अब विवाह समाप्त हो गया है, अतः हम अपने घर की ओर प्रस्थान करते हैं। आप सब लोग वृद्ध और नीति-कुशल हैं, इसलिए आप ही इस कार्य को हाथ में लीजिये और पाण्डवों की ओर से एक दूत भेजिये।"[5] यह कह और महाराज विराट से भेंट कर कृष्ण चले गये।

कृष्ण के इस कथन से यह स्पष्ट रूप से ज्ञात होता है कि वे युद्ध के पक्ष में नहीं थे। समस्या को हल करने का यह अन्तिम उपाय अवश्य हो सकता है, यह उनकी धारणा थी। युधिष्ठिर को आधा राज्य स्वीकार करने के लिए प्रेरित करके भी वे युद्ध को रोकना चाहते थे। ऐसी

---

१. उद्योगपर्व, अध्याय १
२. वही, अध्याय २
३. वही, अध्याय ३
४. वही, अध्याय ४
५. वही, अध्याय ५

परिस्थिति में उन्हें युद्ध-लोलुप और पाण्डवों की ओर से कुचक्र रचनेवाला कहना उनके प्रति सरासर अन्याय है।

कृष्ण के द्वारिका चले जाने के पश्चात् दोनों पक्ष युद्ध की तैयारियाँ करने लगे। कृष्ण को निमंत्रित करने के लिए पाण्डवों की ओर से अर्जुन और कौरवों की ओर से दुर्योधन एक ही समय पहुँचे। उस समय कृष्ण शय्या पर पौढ़े थे। अर्जुन उनके पैताने बैठा। दुर्योधन तो अर्जुन के आने से पहले ही पहुँच गया था तथा महाराज के सिरहाने की ओर उसने अपना आसन जमा लिया था। नींद खुलते ही महाराज की दृष्टि अर्जुन पर पड़ी और उन्होंने उससे इस समय आने का कारण पूछा। इधर दुर्योधन ने भी सिरहाने से प्रणाम निवेदन किया। दोनों ने स्व-आगमन का प्रयोजन बताया तथा उनसे अपने पक्ष में सम्मिलित होकर आसन्न युद्ध में भाग लेने की प्रार्थना की। दुर्योधन का आग्रह था कि कृष्ण उसी का पक्ष ग्रहण करें क्योंकि उनकी सेवा में वही पहले आया था। अर्जुन का आग्रह उन्हें अपनी ओर करने का था। महाराज बड़े धर्म-संकट में पड़े। परन्तु उन्हें एक मार्ग दिखाई दिया जिससे वे इस समस्या को सुलझा सकें। उन्होंने कहा कि मेरी दृष्टि सबसे पहले अर्जुन पर पड़ी है और दुर्योधन पहले आये हैं, अतः मैं दोनों को तुल्य महत्त्व देता हूँ और दोनों की समान रूप से ही सहायता करूँगा।[1] एक ओर मैं अकेला निश्शस्त्र रहूँगा और दूसरी ओर मेरी यादव-सेना होगी।[2] जिसे जो पसन्द हो वह ले ले। अर्जुन ने यह सुनकर भी कि कृष्ण अकेले और वह भी निश्शस्त्र होकर रहेंगे, उनको ही स्वीकार किया। यह देखकर दुर्योधन के हर्ष की कोई सीमा नहीं रही, जब उसने देखा कि पाण्डवों की ओर अकेले निहत्थे कृष्ण रहेंगे, उसने यादव सेना को स्वीकार करने में किंचिन्मात्र विलम्ब नहीं किया।

यह कथा उद्योग-पर्व में आती है, परन्तु यह निरी खिलवाड़-सी प्रतीत होती है। युद्ध-जैसे गम्भीर कार्य में किसी पक्ष को ग्रहण करने

---

१. भवानभिगतः पूर्वमत्र मे नास्ति संशयः।
दृष्टस्तु प्रथमं राजन् मया पार्थो धनञ्जयः॥
तव पूर्वाभिगमनात् पूर्वं चाप्यस्य दर्शनात्।
साहाय्यमुभयोरेव करिष्यामि सुयोधन॥ (उद्योगपर्व, ७।१५,१६)

२. ते वा युधि दुराधर्षा भवन्त्वेकस्य सैनिकाः।
अयुध्यमानः संग्रामे न्यस्तशस्त्रोऽहमेकतः॥ (उद्योगपर्व, ७।१९)

का निश्चय करना इतना सरल नहीं होता जैसाकि इस कथा में दर्शाया गया है। वस्तुतः कृष्ण युद्ध से तटस्थ ही रहना चाहते थे, इसलिये उन्होंने कौरव और पाण्डव दोनों के आगे अपनी स्थिति स्पष्ट कर दी। लड़ना तो दूर रहा, उन्होंने तो हथियार तक ग्रहण करना अस्वीकार कर दिया। हाँ, अर्जुन के सारथि वे अवश्य बने। कृष्ण का युद्ध के प्रति आग्रह नहीं था, यह इसी बात से प्रकट होता है कि युद्ध छिड़ने की सम्भावना होने पर भी वे उससे पृथक् रहने का यत्न करते हैं। उन्होंने युद्ध को रोकने की भरसक कोशिश की, परन्तु जब देखा कि यह अवश्यम्भावी है तो उन्होंने उसमें सक्रिय भाग न लेने का निश्चय किया और अपनी प्रतिज्ञा पर अटल रहे। शान्ति और सौहार्द के साक्षात् दूत कृष्ण को यदि लोग 'महाभारत' के युद्ध का मूल तथा पाण्डव-पक्ष का प्रधान कुचक्री एवं षड्यंत्रकारी कहें तो इससे बढ़कर आश्चर्य की बात और क्या हो सकती है !

कृष्ण ने शस्त्र न छूने की प्रतिज्ञा तो कर ली, परन्तु अर्जुन की इस प्रार्थना को वे न टाल सके कि उसके सारथि का काम वे स्वयं करें। क्षत्रियों में सारथि का कार्य निम्न कोटि का समझा जाता है, किन्तु कृष्ण-जैसे अहंकारशून्य, निःस्पृह व्यक्ति के लिए इसमें निंदा-जैसी कोई बात नहीं थी। उन्होंने अपने मित्र, शिष्य और सम्बन्धी अर्जुन की प्रार्थना को स्वीकार किया।

द्रुपद के परामर्शानुसार महाराज युधिष्ठिर ने अपने पुरोहित को दूत बनाकर हस्तिनापुर भेजा। उसने धृतराष्ट्र के सम्मुख पाण्डवों के पक्ष को भली-भाँति प्रस्तुत किया।[1] भीष्म ने दूत की बातों को स्वीकार करने का आग्रह भी किया, किन्तु कर्ण की कटूक्तियों से पितामह का संधिविषयक सुझाव दुर्योधन को पसन्द नहीं आया। भीष्म ने भी कर्ण के सम्मुख अर्जुन के बल और पराक्रम का वर्णन किया, जिससे वातावरण में और भी तनाव आ गया। अन्त में धृतराष्ट्र ने भीष्म को शान्त किया और संजय को दूत बनाकर पाण्डवों के निकट भेजने का निश्चय किया।[2]

◈

१. उद्योगपर्व, अध्याय २०

२. उद्योगपर्व, अध्याय २१

अध्याय २५

सञ्जय का दौत्य कर्म

धृतराष्ट्र की आज्ञा पाकर संजय पाण्डवों के पास गये। परस्पर कुशल-प्रश्न पूछने के अनन्तर कृष्ण, सात्यकि, विराट आदि महाजनों की उपस्थिति में संजय ने धृतराष्ट्र का संदेश युधिष्ठिर को सुनाया।[1] इस संदेश का भाव यह था कि जो कुछ हुआ सो हुआ, अब युद्ध नहीं होना चाहिए क्योंकि इससे दोनों पक्षों की हानि होगी और सर्वनाश निकट आ जायगा। संजय के कथन का तात्पर्य यह था कि युद्ध घोर अधर्म का काम है और उसमें धर्मराज-जैसे महात्मा को कदापि लिप्त नहीं होना चाहिए।

संजय के चुप होने पर युधिष्ठिर ने उत्तर में कहा कि हम युद्ध की अपेक्षा शान्ति को सदा महत्त्व देते हैं और युद्ध की अनर्थकारिणी विभीषिका से भी परिचित हैं, परन्तु संसार में ऐसा कोई व्यक्ति नहीं है जो सुख की इच्छा न करता हो। उन्होंने दुर्योधन के दोषों और धृतराष्ट्र के उसके प्रति अंध-प्रेम का भी वर्णन किया और कहा कि यदि वास्तव में राजा धृतराष्ट्र संधि के लिए उत्सुक हैं तो वे इन्द्रप्रस्थ का राज्य हमें प्रदान करें और कौरवों का राज्य हस्तिनापुर में रहे।[2]

इसपर संजय पुनः उन्हें युद्ध से विरत करने के लिए समझाने लगा[3], परन्तु युधिष्ठिर ने अन्त में कह दिया कि मैं "अधर्म से पृथिवी का और सब देवताओं का भी धन, प्रजापति का स्थान और ब्रह्मा का लोक भी लेना नहीं चाहता।" उन्होंने सब बातें कृष्ण पर छोड़ते हुए कहा कि "ये कृष्ण महाविद्वान् और कर्मों के निश्चय को जाननेवाले हैं। ये जैसा कहेंगे वैसा ही हमें स्वीकार होगा।"[4]

---

१. उद्योगपर्व, अध्याय २५
२. उद्योगपर्व, अध्याय २६
३. उद्योगपर्व, अध्याय २७
४. ईदृशोऽयं केशवस्तात विद्वान् विद्धि ह्येनं कर्मणा निश्चयज्ञम्।
प्रियश्च नः सावुतमश्च कृष्णो नातिक्रामे वचनं केशवस्य॥
(उद्योगपर्व, २८।१४)

जब युधिष्ठिर ने श्री कृष्ण को ही अपना अन्तिम भाग्य-निर्णायक नियुक्त कर दिया तो अब उन्हें बोलना ही पड़ा। उन्होंने इस प्रसंग में संजय से जो कुछ कहा उसमें उनके सम्पूर्ण आदर्शों एवं कृत्यों की बड़ी सुन्दर अभिव्यक्ति हुई है।[1] उन्होंने पहले तो कहा कि हम पाण्डव और कौरव दोनों की ही अभिवृद्धि और कल्याण चाहते हैं। मेरी हार्दिक इच्छा यही है कि दोनों में संधि हो जाय। मेरा पाण्डवों को भी यही परामर्श है कि संधि कर लो, परन्तु दुर्योधनादि का हठ और दुराग्रह देखते हुए ऐसा होना बहुत कठिन है। उन्होंने आगे कहा कि हम लोग और महाराज युधिष्ठिर धर्म पर स्थित हैं, फिर तुमने इन्हें अधर्मी क्यों कहा?

तत्पश्चात् महाराज कृष्ण कर्म का महत्त्व निरूपित करते हुए उसकी व्याख्या में प्रवृत्त हुए। उन्होंने कहा कि संसार में कर्म ही प्रधान है। ज्ञान और कर्म का समन्वय ही प्राणियों को इष्ट है। कर्म के बिना विद्या फलवती नहीं होती। कर्म से ही सिद्धि प्राप्त होती है। तदनन्तर उन्होंने कहा कि संसार के समस्त देवता कर्म के आधार पर ही बलवान् और प्रभुत्वशाली हुए हैं। उन्होंने चारों वर्णों के कर्मों को भी पृथकशः गिनाया और अन्त में कहा कि महाराज युधिष्ठिर तो सावधान होकर अपना धर्मपालन कर रहे हैं, परन्तु दुर्योधन ने ही उनका राज्य छीनकर धर्म का नाश किया है। दुर्योधन के इस कार्य की चोरों से तुलना करते हुए कृष्ण महाराज ने कहा कि हे संजय! चाहे चोर बिना देखे धन चुरा ले या कोई दुष्ट जान-बूझकर छल से धन छीन ले, ये दोनों ही चोर कहलाते हैं। इसी नियम के अनुसार दुर्योधन का काम चोरों-जैसा है। उन्होंने धृतराष्ट्र को यह संदेश दिया कि पाण्डवों को राज्य दे देना ही उत्तम है।

संजय युद्ध का निषेध बार-बार धर्म के नाम पर कर रहा था। उसके इस पाखण्डपूर्ण कथन का भंडाफोड़ करने के लिए उन्होंने कौरवों के अधर्माचरण को प्रकट किया और कहा कि क्या कौरवों की सभा में रजस्वला पतिव्रता द्रौपदी को लाना ही धर्म था? यदि धृतराष्ट्र अपने पुत्र और दुःशासन को इस निंदनीय कर्म से रोकते तो अवश्य उनके इस कर्म की प्रशंसा होती, परन्तु उन्होंने ऐसा नहीं किया। द्रौपदी

१. उद्योगपर्व, अध्याय २६

पर किये गये इस घोर अत्याचार को हम कदापि क्षमा नहीं कर सकते। संजय, तुम्हें युधिष्ठिर को धर्मोपदेश देते लज्जा नहीं आती? कृष्ण ने कर्ण, दुःशासन, शकुनि, दुर्योधन आदि कौरव-पक्ष के सभी लोगों के दुष्कृत्यों का नग्न चित्र संजय के समक्ष रख दिया और अन्त में कहा कि इन सब प्रश्नों के समाधान के लिए हम स्वयं हस्तिनापुर आने का विचार रखते हैं। यदि मेरी बातों को मानकर दुर्योधन आदि कौरव संधि कर लेंगे तो उनका कल्याण निश्चित है, अन्यथा उन्हें पाण्डवों द्वारा मरा हुआ समझो। पाण्डव लोग संधि करने के लिए भी उपस्थित हैं और युद्ध करने के लिए भी तैयार हैं। आगे दुर्योधन की जो इच्छा हो, वह करे।[1] यह कहकर श्री कृष्ण चुप हो गए।

हमने 'महाभारत' के प्रासंगिक अध्याय को पूरा उद्धृत नहीं किया है परन्तु कृष्ण के ये वचन बड़े महत्त्वपूर्ण हैं। धर्म के विषय में जो उनके विचार थे, उनका सारांश इसमें आ गया है। 'गीता' में कृष्ण ने जिस धर्म का प्रतिपादन किया है और जो संसार में 'निष्काम कर्म-योग' के नाम से विख्यात है, उसका बीज-रूप से वर्णन इसी अध्याय में हुआ है। धर्म में उनकी दृढ़ निष्ठा, कर्त्तव्य के प्रति उनका निर्मम आग्रह, लोक-मंगल तथा जनहित के लिए उनका सर्वस्व त्याग आदि गुण उनके प्रत्येक शब्द से प्रकट होते हैं। यद्यपि कौरवों और पाण्डवों के पारस्परिक संधि या विग्रह जैसे मामलों में उनका किंचिन्मात्र भी वैयक्तिक लाभ या स्वार्थ नहीं था, परन्तु फिर भी वे संधि का प्रस्ताव लेकर हस्तिनापुर जाने के लिए तैयार हो गये। वे जानते थे कि यदि संधि हो गई तो असंख्य लोगों की प्राण-रक्षा होगी और विश्व का हित होगा। वे पाण्डवों का पक्ष स्वीकार कर चुके थे, इसलिए इसमें संदेह था कि उनका संधि-प्रस्ताव कौरव लोग सहानुभूतिपूर्वक सुन भी लेंगे या नहीं, परन्तु लोकहित को ध्यान में रखते हुए श्री कृष्ण ने इस दुष्कर कार्य को हाथ में ले ही लिया।

कृष्ण की यथार्थ बातें सुनकर संजय चुप हो गया। उसने प्रस्थान की आज्ञा माँगी। युधिष्ठिर ने यह कहकर उसे विदा किया, "हम लोग कभी वह काम नहीं करेंगे जिससे दुर्योधन की हानि हो। अतः यदि

---

१. स्थिताः शमे महात्मानः पाण्डवा धर्मचारिणः।
योधा समर्थास्तद् विद्वन्नाचक्षीथा यथातथम्॥ (२९।५८)

भला चाहते हो तो इन्द्रप्रस्थ का राज्य हमें दे दो, अथवा युद्ध के लिए तैयार हो जाओ।"[1] संजय को कृष्ण ने स्वयं कह दिया था कि एक बार और संधि का प्रयत्न करने के लिए हम हस्तिनापुर जायेंगे। उनके हस्तिनापुर-प्रयाण और इस कथन के बीच में विदुर-प्रजागर, सनत्-सुजातीय तथा यानसंधि-प्रकरण है।

संजय के दौत्य कर्म का उपसंहार वहाँ होता है जहाँ वह हस्तिनापुर लौटकर अपनी यात्रा का विस्तृत वर्णन धृतराष्ट्र आदि कौरवों के समक्ष रखता है और उसपर धृतराष्ट्र, दुर्योधन, भीष्म और कर्ण की लम्बी-लम्बी वक्तृतायें होती हैं। इन अध्यायों में विशेष काम की बात कुछ नहीं है। केवल एक स्थान पर कृष्ण और अर्जुन को वारुणी-सेवी और विलासी बताया है।[2] यह प्रकरण पूर्वोक्त प्रसंग से सर्वथा असम्बद्ध होने के कारण प्रक्षिप्त है। ऐसा प्रतीत होता है कि किसी सुरा-भक्त लेखक ने शराब की प्रशस्ति में यह प्रकरण 'महाभारत' में मिला दिया है। वास्तव में कृष्ण के विषय में यह सोचना भी अकल्पनीय है कि वे सुरा-सेवी अथवा पर-स्त्रीगामी थे। उनके-जैसा संयमी और महात्मा पुरुष उस युग में दुर्लभ था।

१. ददस्व वा शक्रपुरीं ममैव,
युध्यस्व वा भारत मुख्य वीर॥ (उद्योगपर्व, ३०।४९)

२. उभौ मध्वासवक्षीबावुभौ चन्दनरूषितौ।
स्रग्विणौ वरवस्त्रौ तौ दिव्याभरणभूषितौ॥ (उद्योगपपर्व, ५९।५)

अध्याय २६

हस्तिनापुर-गमन की भूमिका

अपनी पूर्व-कृत प्रतिज्ञा के अनुसार श्री कृष्ण ने हस्तिनापुर जाकर कौरवों के समक्ष संधि-चर्चा करने का निश्चय किया। उन्होंने युधिष्ठिर के समक्ष अपना अभिमत प्रकट करते हुए कहा, "मैं आपके प्रयोजन की सिद्धि के लिए कौरवों की सभा में जाऊँगा। वहाँ पर आपके अभिलषित विषय को स्थिर रखकर यदि शान्ति स्थापित कर सकूँगा तो मेरा महाफल से युक्त, बहुत बड़े पुण्यकर्म का अनुष्ठान सफल हो जायगा। संधि करने से कौरव, संजय, पाण्डवों तथा धृतराष्ट्र के पुत्रों और समस्त पृथिवी के राजाओं और मनुष्यों को मृत्यु के मुँह से मुक्त करूँगा।"[1] इससे अधिक स्पष्ट कथन और क्या हो सकता है? कृष्ण संधि कराकर मनुष्य-जाति को मृत्यु के मुख से बचाना चाहते थे। इससे अधिक विडम्बना और क्या हो सकती है कि संधि के लिए महत्तम प्रयत्न करनेवाले व्यक्ति को ही युद्ध का मूल कारण और सूत्रधार समझ लिया जाय!

युधिष्ठिर को कृष्ण का हस्तिनापुर जाना उचित प्रतीत नहीं हुआ, क्योंकि उन्हें भय था कि कहीं कौरव उनके प्रति कोई अशिष्टाचरण न कर बैठें! परन्तु कृष्ण को इस बात का किंचिन्मात्र भी भय या संकोच नहीं था। वे तो दुर्योधन की दुष्ट बुद्धि से परिचित ही थे। फिर किसी कौरव में इतनी शक्ति भी नहीं थी कि वह कृष्ण का कुछ अनिष्ट कर सकता। इस अन्तिम संधि-चर्चा को चलाकर कृष्ण संसार को यह बता देना चाहते थे कि यदि युद्ध हुआ भी, तो उसके उत्तरदाता कौरव ही समझे जायेंगे; उन्होंने तो युद्ध को रोकने के लिए सभी सम्भव उपाय कर लिये थे तथा च अब उन्हें कोई दोष न दे। कृष्ण का यह दृढ़ आत्मविश्वास और आशावाद देखकर युधिष्ठिर ने उन्हें हस्तिनापुर

१. उद्योगपर्व, अध्याय ७२

जाने की सम्मति दे दी क्योंकि उन्हें उस बात का भरोसा था कि वे जो कुछ करेंगे वह पाण्डवों के लिए निश्चय ही हितकारक होगा।[१]

कृष्ण के प्रयत्नों की ईमानदारी पर सभी पाण्डवों को दृढ़ विश्वास था, इसलिए भीम-जैसा क्रोधी एवं उद्दण्ड प्रकृति का व्यक्ति भी कृष्ण के इन शान्ति-प्रयासों की सराहना करने लगा। उसने भी यही कहा कि जिस प्रकार से कौरवों और पाण्डवों के बीच शान्ति स्थापित हो, तुम उसी प्रकार के प्रस्ताव रखना।[२] भीम की यह बात सुनकर कृष्ण को एक बार तो बड़ा आश्चर्य हुआ और उन्हें इस बात पर शंका भी हुई कि जिस भीम ने कौरवों का नाश करने की प्रतिज्ञा की है, वह आज शान्ति के लिए इतना उत्सुक क्यों है ? भीम ने कृष्ण की इस शंका का समाधान करते हुए स्पष्ट कर दिया कि 'मेरे कथन का यह अभिप्राय नहीं है कि मैं युद्ध से विमुख हो गया हूँ। मेरे इस कृपापूर्ण कथन का आशय इतना-मात्र बतलाना ही है कि हम भी समय आने पर सहृदयतापूर्ण आचरण करने में विश्वास रखते हैं क्योंकि ऐसा होने से वंश-नाश की सम्भावना टल जायगी।[3]

कृष्ण ने पुनः क्रमशः अर्जुन[४], नकुल[५], सहदेव[६] और सात्यकि[७] से भी परामर्श किया और उनके संधि-विषयक विचारों से अवगत हुए। द्रौपदी ने कृष्ण का ध्यान आकृष्ट कर कौरवकृत अपमान याद दिलाया और यह भी कहा कि यदि मेरे ऊपर तुम्हारी कृपा हो तो धृतराष्ट्र-पुत्रों के साथ तुम सम्पूर्णरूप से युद्ध का ही विधान करना।[८]

---

१. अस्मान् वेत्थ परस् वेत्थ वेत्थार्थान् वेत्थ भाषितुम्।
यद् मदस्मद्धितं कृष्ण तत्-तद् वाच्यः सुयोधनः॥

२. यद् यद् धर्मेण संयुक्तमुपपद्येद्धितं वचः।
तत् तत् भाषेथाः कृष्ण सान्त्वं वा यदि वेतरम्॥ (उद्योगपर्व ७२।६२,६३)

३. यथा यथैव शान्तिः स्यात् कुरुणां मधुसूदन।
तथा तथैव भाषेथा मा स्म युद्धेन भीषये॥ (उद्योगपर्व, ७४।१)

४. उद्योगपर्व, अध्याय ७६

५. वही, अध्याय ७८

६. वही, अध्याय ८०

७. वही, अध्याय ८१

८. यदि तेऽहमनुग्राह्या यदि तेऽस्ति कृपा मयि।
धार्तराष्ट्रेषु वै कोपः सर्वः कृष्णः विधीयताम्॥ (उद्योगपर्व, ८२।३२)

द्रौपदी की इस बात को सुनकर श्री कृष्ण ने उसे आश्वासन दिया और कहा कि वह दिन सुन्निकट है जब कृष्णा भरत-वंश की सब स्त्रियों को उसी की भाँति रोती हुई देखेगी।[1] कृष्ण ने मानो एक दूरदर्शी राजनीतिज्ञ की भाँति भविष्य को पढ़ते हुए उसे स्पष्ट कर दिया कि काल के वश में हुए धृतराष्ट्र-पुत्र यदि मेरा वचन नहीं मानेंगे तो निस्सन्देह मरकर पृथिवी पर सो जायेंगे और कुत्तों तथा शृगालों के भक्ष्य बनेंगे।[2] यदि हिमालय पर्वत भी अपने स्थान से विचलित हो जाय, तब भी मेरा यह वचन मिथ्या नहीं होगा।[3] कृष्ण के इन वचनों को सुनकर द्रौपदी आश्वस्त हो गई।

कृष्ण के इस कथन में उनकी अपूर्व मेधा तथा दूरदर्शिनी विचार-शक्ति का दर्शन होता है। वे जानते थे कि दुर्योधन संधि के लिए कदापि तैयार नहीं होगा, परन्तु ऐसा जानते हुए भी उन्होंने कर्त्तव्य-बुद्धि से संधि-हितार्थ यात्रा प्रारम्भ की। **'कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन'** के उपदेश का यह व्यावहारिक आचरण सर्वथा उचित ही था।

हस्तिनापुर की यात्रा

कार्तिक मास में रेवती नक्षत्र से युक्त एक दिन, रात्रि व्यतीत होने पर महाराज ने शौच, स्नान, नित्यकर्म आदि से निवृत्त होकर यात्रा का उपक्रम किया। उन्होंने सात्यकि को शंख, चक्र, गदा, तूणीर, शक्ति आदि शस्त्रास्त्रों को रथ में स्थापित करने का आदेश दिया, क्योंकि वे जानते थे कि दुर्योधन, शकुनि तथा कर्ण का त्रिगुट बड़ा दुष्ट है, उससे असावधान रहना उचित नहीं।[4] इस प्रकार यात्रा की सब

१. अचिराद् द्रक्ष्यसे कृष्णे रुदतीर्भरतस्त्रियः॥ (८२।४४)

२. धार्तराष्ट्रा कालपक्वा न चेच्छृण्वन्ति मे वचः।
शेष्यन्ते निहता भूमौ श्वशृगालादनीकृताः॥ (८१।४७)

३. चलेद्धि हिमवाच्छैलो मेदिनी शतधा फलेत्।
द्यौपतेश्च सनक्षत्रा न मे मोघं वचो भवेत्॥ (८२।४८)

४. रथ आरोप्यतां शङ्खचक्रं च गदया सह।
उपासंगाश्च शक्त्यश्च सर्वप्रहणानि च॥
दुर्योधनश्च दुष्टात्मा कर्णश्च सहसौबलः।
न च शत्रुरवज्ञेयो दुर्बलोऽपि बलीयसा॥ (८३।१२,१३)

तैयारियों से सज्जित होकर कृष्ण ने यात्रा प्रारम्भ की। युधिष्ठिर, अर्जुन आदि पाण्डव उन्हें छोड़ने काफ़ी दूर तक गये।[1] रास्ते में कृष्ण को ऋषियों का एक समुदाय मिला जिनसे उन्होंने वार्तालाप किया। ऋषियों ने कृष्ण के इस संधि-विषयक साधु-प्रयत्न की प्रशंसा की और सभा में उनके वक्तव्य को सुनने की इच्छा बताई।

रात होने पर कृष्ण वृकस्थल पहुँचे। वहाँ वे रथ से उतर पड़े और सारथि को घोड़ों को खोलने की आज्ञा देकर शौचादि नित्यकृत्यों से निवृत्त हुए, तत्पश्चात् संध्योपासन किया। दारुक सारथि ने भी शास्त्र-विधि से उनकी परिचर्या की। तदनन्तर उन्होंने रात्रि वहीं व्यतीत करने का अभिप्राय सेवकों से व्यक्त किया। तदनुकूल ही सारी व्यवस्था हो गई। महाराज के लिए सुन्दर भोजन तैयार किया गया। कृष्ण के आगमन का समाचार सुनकर ग्रामवासी ब्राह्मण उनसे मिलने के लिए आए तथा महाराज की पूजा की। उन्होंने महाराज से स्व-स्थान पर चलने की भी प्रार्थना की जिसे उन्होंने स्वीकार किया। वहाँ से लौटकर उन्होंने ब्राह्मणों के साथ ही भोजन किया और रात्रि वहीं व्यतीत की।[2] यात्रा का यह वृत्त लिखने की आवश्यकता इसलिए आवश्यक प्रतीत होती है कि 'महाभारत' में सर्वत्र कृष्ण के उसी लोक-ग्राही तथा सर्व-सामान्य के लिए अनुकरणीय रूप के ही दर्शन होते हैं। उनके लोकोत्तर तथा चमत्कारी कृत्यों की चर्चा तो बाद की वस्तु है।

१. उद्योगपर्व, अध्याय ८३।३०–३२
२. अध्याय ८४।२६

अध्याय २७

हस्तिनापुर की घटनायें

कृष्ण के हस्तिनापुर-आगमन के समाचारों को दूतों के मुख से सुनकर धृतराष्ट्र ने उनके स्वागत की तैयारियाँ करने का आदेश दिया। उसने कहा कि मधुसूदन कृष्ण हम लोगों के सब प्रकार से माननीय एवं पूजार्ह हैं। धृतराष्ट्र के इस वचन का भीष्म आदि सभी ने अनुमोदन किया और कहा कि कृष्ण का सत्कार हमारा प्रमुख कर्त्तव्य है। दुर्योधन ने भी कृष्ण के प्रति लोगों की आदर-भावना को जानकर कृष्ण के स्वागत के लिए मार्ग में स्थान-स्थान पर अनेक तैयारियाँ कराईं। धृतराष्ट्र अत्यन्त प्रेमपूर्वक विदुर से कहने लगा कि श्री कृष्ण के आने पर वह किस-किस प्रकार से उनका स्वागत करेगा। उसने बड़े आडम्बरपूर्ण शब्दों में इसका वर्णन किया। परन्तु, विदुर चतुर थे। वे समझ गये कि यह सब कृष्ण को फुसलाने की चालें हैं, अतः उसने स्पष्ट रूप से धृतराष्ट्र से कह दिया कि कृष्ण तुम्हारी इन बातों में आनेवाले नहीं हैं। उन्हें थोथे आडम्बर और दिखावे के आदर-सत्कार की आवश्यकता नहीं है। यदि सचमुच ही तुम्हारे हृदय में कृष्ण के लिए सम्मान का भाव है तो तुम वही यत्न करो जिससे कृष्ण अपने उद्देश्य में सफल हों। कृष्ण की यही इच्छा है कि कौरवों और पाण्डवों के बीच संधि हो, इसलिये तुम्हें कृष्ण की इस इच्छा को पूरा करना चाहिए।[1]

दुर्योधन धूर्त था। वह समझता था कि युद्ध तो रुकेगा नहीं, इसलिये उसने कहा कि कृष्ण पूजनीय अवश्य हैं परन्तु अभी युद्ध का समय उपस्थित होने के कारण उनको उपहार आदि भेंट में नहीं दिये जा सकते। इस प्रकार धृतराष्ट्र की स्वागत-सम्बन्धी योजनाओं पर उसने पानी फेर दिया, यद्यपि कुछ समय पूर्व वह स्वयं इसके लिए

१. शममिच्छन्ति दाशार्हस्तव दुर्योधनस्य च।
पाण्डवानां च राजेन्द्र तदस्य वचनं कुरु॥ (८७।१६)

तैयार हो गया था। भीष्म पितामह को दुर्योधन की इस क्षुद्र वृत्ति पर बड़ा क्रोध आया और उन्होंने कहा—"तुम चाहे कृष्ण का सत्कार करो या न करो, उनका अपमान तो हर्गिज़ नहीं कर सकोगे। तुम्हारी भलाई इसी में है कि कृष्ण जो कुछ कहें उसे पूरा करने का प्रयत्न करो।"[1] अब दुर्योधन ने अपना वास्तविक रूप दिखलाया। उसने कहा, "मैं कृष्ण को कैद कर लूँगा, ऐसा करने से सम्पूर्ण यादव और पाण्डव मेरे वश में हो जायेंगे क्योंकि कृष्ण के बिना उनका एक क्षण भी काम नहीं चलेगा।"[2] दुर्योधन की इस दुष्टता को देखकर धृतराष्ट्र ने उसे फटकारा और भीष्म तो नाराज़ होकर सभा से उठकर ही चले गये।

प्रातःकाल होते ही श्री कृष्ण ने हस्तिनापुर नगर में प्रवेश किया। दुर्योधन के अतिरिक्त सभी कौरव तथा भीष्म, द्रोण, कृपाचार्य आदि ने नगर की प्राचीर तक आकर उनका स्वागत किया। इसके अतिरिक्त नगर के हज़ारों मनुष्य भी उनका स्वागत करने के लिए नगर के बाहर तक आये। बड़े भावपूर्ण वातावरण में उनका स्वागत हुआ और स्वागत-यात्रा नगर के प्रमुख राजपथों से होती हुई कौरवों की राज-सभा तक आकर समाप्त हुई। सभा में श्री कृष्ण ने धृतराष्ट्र तथा अन्य उपस्थित कौरव-पक्ष के लोगों से भेंट की और प्रारम्भिक कुशल-प्रश्न पूछने के अनन्तर विश्राम के लिए पूर्व-नियोजित निवास-स्थान विदुर के घर को चले गये।[3]

पाण्डवों की माता कुन्ती भी विदुर के घर पर हस्तिनापुर में ही रहती थी, क्योंकि वनवास के लिए प्रस्थान करते समय पाण्डव उसे वहीं छोड़ गये थे। कृष्ण के आने पर उसने दुःखों का वर्णन किया, उनके समाचार जानने चाहे और अन्त में रोती-कलपती हुई बोली कि "तुम्हारे-जैसे सहायकों और भीम तथा अर्जुन-जैसे वीर पुत्रों के होते हुए भी मुझे यह कठोर दुःख सहना पड़ रहा है, यही आश्चर्य है!" इस प्रकार कुन्ती को अत्यन्त कातर तथा दुःखी देखकर महाराज ने उसे समझाया—"तुम्हारे पुत्र निद्रा, आलस्य, क्रोध, हर्ष, भूख, प्यास, सर्दी, गर्मी आदि दुःखदायी द्वन्द्वों को जीतकर वीरों की तरह सुख से निवास

१. सत्कृतोऽसत्कृतो वापि न क्रुध्येत जनार्दनः।
नालमेनमवज्ञातुं नावज्ञेयो हि केशवः॥ (८८।८)

२. उद्योगपर्व, ८८।१३,१४

३. उद्योगपर्व, अध्याय ८९

करते हैं। अत्यन्त उत्साही और महाबल से युक्त पाण्डवों को साधारण मनुष्यों के सुख से कभी संतोष नहीं हो सकता। वीर लोग अल्प सुख से संतुष्ट नहीं होते। धैर्यशाली पण्डित लोग किसी वस्तु की चरम सीमा को ही भोगते हैं। वे लोग या तो मनुष्यों के भोग्य महाक्लेशों को ही भोगते हैं या उत्तम भोग और सुखों के फलों को ही अनुभव करते हैं। साधारण पुरुषों की तरह मध्यम-मार्ग उन्हें रुचिकर नहीं होता। इसी प्रकार पाण्डवों की दृढ़ प्रतिज्ञा है कि एक दिन वे पुनः अपने राज्य को प्राप्त करने में अवश्य सफल होंगे, यह उनका दृढ़ विश्वास है।"[1] कुन्ती को कृष्ण के इन वचनों से पर्याप्त सान्त्वना मिली और उसने पुनः कृष्ण से पाण्डवों की भरसक सहायता करने के लिए कहा। कुन्ती से विदा होकर कृष्ण सभा-भवन की ओर चले।

कृष्ण के राजसभा में आने पर दुर्योधन आदि कौरवों ने उठकर उनका सत्कार किया और उन्हें बैठने के लिए उच्च-आसन प्रदान किया। मधु-पर्क की शास्त्रोक्त विधि से उनकी पूजा की और अपने घर पर भोजन का निमंत्रण दिया। कृष्ण ने इसे स्वीकार नहीं किया। कारण पूछे जाने पर श्री कृष्ण ने कहा कि दूत लोग अपने कार्य को पूरा करने पर ही जिसके निकट जाते हैं, उसकी पूजा ग्रहण करते हैं, अतः जब मैं अपने उद्देश्य में सफल हो जाऊँगा तभी आपका सत्कार ग्रहण करूँगा।[2]

दुर्योधन को उनके इस उत्तर से संतोष नहीं हुआ। उसने पुनः आग्रहपूर्वक कहा कि कार्य सिद्ध हो या न हो, आपको अवश्य ही मेरे यहाँ भोजन करना चाहिए। अब श्री कृष्ण ने स्पष्ट कहा—"भोजन करने में दो हेतु होते हैं। जिसके ऊपर जिसकी प्रीति होती है वह उसका भोजन करता है, अथवा जो विपद्-ग्रस्त होता है वह दूसरे का दिया हुआ भोजन खाता है। परन्तु आपने मेरी प्रीति का कोई कार्य नहीं किया और मैं आपत्तिग्रस्त भी नहीं हूँ, अतः आपका भोजन कैसे ग्रहण करूँ?"[3]

---

१. उद्योगपर्व, अध्याय ९०।९४-९७

२. कृतार्था भुञ्जते दूताः गृह्णन्ति चैव ह।
कृतार्थं मां सहामात्यं समर्चिष्यसि भारत।। (उद्योगपर्व ९१।१८)

३. सम्प्रीति भोज्यान्यन्नानि आपद्भोज्यानि वा पुनः।
न च सम्प्रीयसे राजन् न चैवापद्गता वयम्।। (९१।२५)

यद्यपि भोजन का निमंत्रण एक साधारण-सी बात थी, किन्तु कृष्ण का प्रत्येक व्यवहार धर्म एवं नीति से युक्त होता था। अतः उन्होंने दुर्योधन को सीधा और सच्चा उत्तर दे दिया; स्पष्ट बात कहने में कोई संकोच नहीं किया। निमंत्रणवाली बात को इस प्रकार समाप्त कर वे विदुर के घर आ गये। रात को पुनः कृष्ण और विदुर की बातचीत हुई। विदुर ने महाराज से कहा कि दुर्योधन-जैसे कपटी धूर्त और क्षुद्राशय व्यक्ति से यह आशा रखना कि वह संधि कर लेगा, दुराशा-मात्र है। उसने दुर्योधन की इस आन्तरिक अभिलाषा से भी कृष्ण को अवगत कराया कि वह पाण्डवों को उनका स्वत्व बिलकुल नहीं देना चाहता। अतः आपका सारा परिश्रम अरण्य-रोदन या बधिर के सम्मुख गीत गाने के तुल्य निष्फल जायगा। कृष्ण ने इसका जो उत्तर दिया उससे एक बार और स्पष्ट हो गया कि वे युद्ध के विरोधी एवं शान्ति के इच्छुक थे।

उन्होंने कहा, "मैं दुर्योधन की नीचता को जानता हूँ, परन्तु फिर भी मैं आज कौरव-मण्डली में संधि-प्रस्ताव को लेकर उपस्थित हुआ हूँ। इसका एक विशेष कारण है। जो पुरुष हाथी, घोड़े, रथ आदि से युक्त इस पृथिवी को मृत्यु के मुख से बचा सकेगा, वह अवश्य ही धर्म का कार्य करेगा।[1] मनुष्य अपनी शक्ति के अनुसार कोई धर्म के कार्य का अनुष्ठान कर उसे पूरा न कर सके, तो भी वह उसे उस पुण्य का फल प्राप्त कराता है। मैं यथाशक्ति कपट से रहित होकर शान्ति के लिए प्रयत्न करूँगा। जो मेरे इन प्रयत्नों को निस्स्वार्थ भाव से देखेंगे, वे इनकी प्रशंसा करेंगे। कौरवों की दुर्भावना की तो मुझे रत्तीभर भी चिंता नहीं है। मेरे क्रुद्ध होने पर, जैसे सिंह के समक्ष साधारण पशु खड़ा नहीं रह सकता, उसी प्रकार ये सब कौरव भी मेरे सम्मुख नहीं टिक सकेंगे।"[2]

१. दौरात्म्यं धार्तराष्ट्रस्य क्षत्रियाणां च वैरताम्।
सर्वमेतदहं जानन् क्षत: प्राप्तोऽद्य कौरवान्॥
पर्यस्तां पृथिवीं सर्वां साश्वां सरथकुञ्जराम्।
यो मोचयेन्मृत्युपाशात् प्राप्नुयाद् धर्ममुत्तमम्॥ (९३।४५)

२. उद्योगपर्व, ९३।२०,२१

अध्याय २८

हस्तिनापुर की सभा

दूसरे दिन जब कृष्ण संध्या-बंदन आदि नित्य-कर्मों से निवृत्त हुए तो दुर्योधन और शकुनि उन्हें बुलाने आ गये। महाराज ने यथाविधि ब्राह्मणों को दान दिया और अपने सारथि को रथ तैयार करने का आदेश दिया। रथ पर आरूढ़ होकर महाराज ने सभा-भवन की ओर प्रस्थान किया। सात्यकि, कृतवर्मा आदि वृष्णि-वंशी महारथी भी उनके साथ थे। सभा में पहुँचने पर महाराज के स्वागत के लिए भीष्म, द्रोण आदि सभी कौरव-प्रमुख महापुरुष उठ खड़े हुए और उन्हें एक श्रेष्ठ आसन प्रदान किया। कुशल-प्रश्न पूछने के अनन्तर सब यथा-स्थान बैठे। इसी समय वे ऋषि भी आ गये जो महाराज से रास्ते में मिले थे और जिन्होंने उनकी संधि-विषयक वक्तृता सुनने की इच्छा प्रकट की थी। सबके स्थान ग्रहण करने के अनन्तर सभा में सर्वत्र शान्ति छा गई।[1]

महाराज ने इस सन्नाटे को भंग करते हुए और धृतराष्ट्र को सम्बोधन कर एक लम्बी वक्तृता दी जिसके प्रारम्भ में उन्होंने अपने आगमन का उद्देश्य बताते हुए कहा कि आपका कुरु-वंश क्षत्रियों में सर्वश्रेष्ठ माना जाता है, परन्तु इसमें दुर्योधन-जैसे कुपुत्रों का जन्म हो जाने के कारण भाई-भाई के बीच आज विरोध का प्रसंग उत्पन्न हुआ है। यदि आप चाहें तो इस युद्धाग्नि को शान्त कर सकते हैं। उन्होंने युद्ध की विभीषिका का यथार्थ, किन्तु भयोत्पादक चित्र उपस्थित करते हुए यह भी कहा कि यदि कौरव और पाण्डव मिलकर रहेंगे तो संसार में ऐसा कौन-सा कार्य है जिसे वे सिद्ध नहीं कर सकते! अन्त में उन्होंने कहा कि पाण्डव लोग आपकी सेवा करने के लिए तैयार हैं, परन्तु प्रतिकूल परिस्थिति उत्पन्न होने पर युद्ध के लिए भी सन्नद्ध हैं।

---

१. उद्योगपर्व, ९४।५४

इसमें जो आपको उत्तम तथा हितकारी प्रतीत हो, उसी का अनुष्ठान कीजिये।[1]

कृष्ण के बोलने के पश्चात् ऋषियों ने भी धृतराष्ट्र को अनेक प्रकार से समझाया, परतु उसने यही उत्तर दिया कि संधि करना मेरे बस की बात नहीं है। इसके लिए आपको दुर्योधन को समझाना चाहिए। इसपर कृष्ण, भीष्म, द्रोण और विदुर आदि सभी ने क्रम से दुर्योधन को समझाया, पर वह अपनी ज़िद पर अड़ा रहा। धृतराष्ट्र ने भी अपने पुत्र से स्पष्ट कह दिया कि कृष्ण ने जो धर्म और अर्थ से युक्त वचन कहे हैं, यदि तुम उनपर ध्यान नहीं दोगे तो तुम्हारी पराजय निश्चित है।[2]

अब दुर्योधन के बोलने की बारी आई। उसने कहा "आप सब लोग मुझे ही दोषी बता रहे हैं, परन्तु मेरी समझ में यह नहीं आया कि मैं किस प्रकार दोषी हूँ? यदि पाण्डवों ने जुआ खेला और उसमें वे अपने राज्य को हार गये तो इसमें मेरा क्या दोष है? यदि उन्हें अक्ष-क्रीड़ा (पासे का खेल) में पराजित होने पर वनवास मिला तो इसमें मेरा क्या अपराध है? इतने पर भी यदि वे लड़ने पर ही उतारू हैं तो हम भी उनसे डरनेवाले नहीं हैं। पहले मेरे बाल्यकाल में मेरे पिता ने चाहे उन्हें आधा राज्य दे दिया हो, किन्तु अब इस समय वे मेरे जीते-जी राज्य के पुनः अधिकारी कदापि नहीं हो सकते। अधिक क्या कहूँ, तीक्ष्ण सुई की नोक से जितनी भूमि बींधी जा सकती है, मेरे राज्य से उतनी भूमि भी पाण्डवों को नहीं दी जा सकती।"[3]

दुर्योधन की इस बात का श्री कृष्ण ने मुँहतोड़ उत्तर दिया। उन्होंने विस्तार-पूर्वक बताया कि पाण्डवों को मारने और उनका राज्य हथियाने के लिए कौरवों ने क्या-क्या चालें चली थीं। दुर्योधन की सारी धूर्तता और कुकर्मों का पर्दा फ़ाश हो गया। वह सभा छोड़कर चला गया। अब कृष्ण ने धृतराष्ट्र से कहा कि देश में शान्ति स्थापित

---

१. स्थिताः शुश्रूषितुं पार्थाः स्थिता योद्धुमरिंदमाः।
यत् ते पथ्यतमं राजंस्तस्मिंस्तिष्ठ परंतप॥ (९५।६३)

२. शमं चेद् याचमानं त्वं प्रत्याख्यास्यसि केशवम्।
त्वदर्थमभिजल्पन्तं न तवास्त्यपराभवः॥ (१२५।२७)

३. यावद्धि तीक्ष्णया सूच्या विध्येदग्रेण केशव।
तावदप्यपरित्याज्यं भूमेर्नः पाण्डवान् प्रति॥ (१२७।२५)

करने के लिए और पृथिवी को युद्ध से बचाने के लिए अब एकमात्र उपाय यही है कि आप दुष्ट दुर्योधन, कर्ण, शकुनि आदि को बाँधकर पाण्डवों के हाथों में दे दें। पण्डितों ने कहा है कि यदि एक पुरुष के त्याग से कुल-भर की रक्षा होती हो तो अवश्य उसे त्याग देना चाहिए। सम्पूर्ण ग्राम की रक्षा के लिए कुल को, जनपद की रक्षा के लिए ग्राम को तथा अपनी आत्मा की रक्षा के लिए सम्पूर्ण पृथिवी को भी त्याग देना चाहिए।[1] उन्होंने स्वयं का उदाहरण देते हुए कहा कि मैंने भी अपने मामा कंस को उसके दुराचारी होने के कारण मार डाला था।[2]

कृष्ण के इस प्रभावशाली कथन को सुनकर एक बार पुनः धृतराष्ट्र ने कौरव-माता गांधारी के माध्यम से दुर्योधन को समझाया, किन्तु उसपर कोई प्रभाव नहीं पड़ा, उल्टा वह अपने साथियों के साथ कृष्ण को कैद करने का उपाय सोचने लगा। सात्यकि को दुर्योधन की इस दुरभिसंधि का पता चल गया।[3] उसने कृतवर्मा से कहा कि मैं यह समाचार कृष्ण से कहने जाता हूँ, तबतक तुम सेना का व्यूह बनाकर सतर्कतापूर्वक सभा-द्वार पर उपस्थित रहो। सात्यकि ने सभा में प्रविष्ट होकर सर्वप्रथम कृष्ण, धृतराष्ट्र, विदुर आदि को दुर्योधन, कर्ण, शकुनि आदि का यह कुविचार सुनाया कि वे कृष्ण को बंदी बनाने का सोच रहे हैं। विदुर ने यह सुनकर धृतराष्ट्र को स्पष्ट कह दिया कि तुम्हारे पुत्र अब काल के वश हो गये हैं, तभी कृष्ण को बलपूर्वक पकड़ने का स्वप्न देख रहे हैं; परन्तु कृष्ण के सामर्थ्य से वे अनभिज्ञ हैं। यदि कृष्ण चाहें तो उन सारे षड्यंत्रकारियों को एक-साथ ही यमपुर भेज सकते हैं।[4]

यह समाचार सुनकर कृष्ण को ज़रा भी आश्चर्य नहीं हुआ। उन्होंने तो धृतराष्ट्र से इतना ही कहा कि दुर्योधन आदि कितने ही क्रुद्ध क्यों न हों, मैं अकेला ही उनका निग्रह करने में समर्थ हूँ।

---

१. त्यजेत् कुलार्थे पुरुषं ग्रामस्यार्थे कुलं त्यजेत्।
ग्रामं जनपदस्यार्थे आत्मार्थे पृथिवीं त्यजेत्॥
राजन् दुर्योधनं बद्ध्वा ततः संशाम्य पाण्डवैः।
त्वत्कृते न विनश्येयुः क्षत्रियाः भरतर्षभ॥ (उद्योगपर्व १२८।४९,५०)

२. उद्योगपर्व, १२८।३८

३. वही, १३०।९

४. वही, १३०।२१

यदि ये लोग मुझे पकड़ना भी चाहते हैं तो इस प्रकार राजा युधिष्ठिर की परोक्ष-रूप में भलाई ही कर रहे हैं। मैं आज ही इन लोगों को पकड़कर पाण्डवों के समर्पण कर सकता हूँ। ऐसा करना मेरे लिए कोई कठिन नहीं है। मैं अपनी सहमति प्रकट करता हूँ कि दुर्योधन अपनी इच्छानुसार कार्य करे। कृष्ण की इन बातों को सुनकर धृतराष्ट्र घबराया। उसने पुनः विदुर के द्वारा दुर्योधन को बुलाकर फटकारा। उसने कहा, "तू बड़ा क्रूर, पापी और नीच है। मैंने सुना है कि तू इन पाप-बुद्धि पामरों की सहायता से महाप्रतापी कृष्ण को पकड़ने की इच्छा रखता है। तुझ-समान कुल-कलंक और नीच के अतिरिक्त और कौन ऐसे काम की इच्छा रख सकता है! परन्तु तू यह निश्चित समझ कि कृष्ण को पकड़ना कोई हँसी-खेल नहीं है। बालक जिस प्रकार चन्द्रमा को पकड़ने की इच्छा रखता है, उसी प्रकार यह तेरी इच्छा है।" इसी प्रकार विदुर ने भी दुर्योधन को इस दुष्कर्म के लिए बुरा-भला कहा।[1]

विदुर के चुप हो जाने पर वासुदेव ने ज़ोर से अट्टहास किया और सात्यकि तथा कृतवर्मा का हाथ पकड़कर चल दिए। इस स्थान पर 'महाभारत' में चमत्कारपूर्ण और अलौकिक घटनाओं का मिश्रण कर कृष्ण के स्वाभाविक चरित्र को दैवी रूप देनेवालों ने विराट् रूप-दर्शन का एक नूतन प्रसंग प्रक्षिप्त किया है। अबतक 'महाभारत' में जो कुछ कहा गया था, वह अत्यन्त संगत, स्वाभाविक तथा घटनाक्रम के अनुकूल था, परन्तु बंकिम के शब्दों में, "क्षेपक मिलानेवालों से यह नहीं देखा गया। क्षेपक मिलाने के लिए उनके हाथ खुजलाने लगे। उन्होंने सोचा कि इतनी बड़ी घटना हो गई और उसमें एक भी अस्वाभाविक और अद्भुत बात नहीं, फिर भला कृष्ण की ईश्वरता कैसे बनी रहेगी? कदाचित् यही सोचकर उन्होंने कृष्ण के हँसने और उठकर चल देने के बीच में विराट् रूप घुसेड़ दिया।"[2]

दुर्योधन को डराने के लिए कृष्ण ने विराट् रूप दिखाया। उसे देखकर भीष्म, द्रोण, विदुर, सञ्जय और उपस्थित ऋषियों के अतिरिक्त अन्य सब लोगों ने आँखें मूँद लीं। देवता पुष्प-वृष्टि करने लगे

१. उद्योगपर्व, अ० १३०

१. कृष्णचरित्र, पृ० ३९१

और समस्त राजा अत्यन्त भयभीत हो गये, पृथिवी काँपने लगी। क्षेपककारों द्वारा की गई इस मिलावट को सिद्ध करने के लिए बंकिम बाबू ने निम्न प्रमाण दिये हैं[1]—

१. 'गीता' के ११वें अध्याय में विराट् रूप का जो वर्णन है, वह प्रथम श्रेणी के कवि की रचना है। साहित्य-जगत् में वैसी रचना दुर्लभ है, पर भगवद्‌मान पर्वाध्याय में विराट् रूप का वर्णन जिसने लिखा है, वह काव्य-रचना की विडम्बना है।

२. 'भगवद्‌गीता' के ११वें अध्याय में कृष्ण अर्जुन से कहते हैं—"तुम्हारे सिवा और किसी ने यह रूप नहीं देखा है।"[2] पर यहाँ कौरव-सभा में दुर्योधनादि सभी लोग वह रूप पहले ही देख चुके हैं।

३. उसी अध्याय में कृष्ण कहते हैं—"तुम्हारे सिवा कोई और मनुष्य वेदाध्ययन, यज्ञानुष्ठान, दान-क्रिया और कठोर तपस्या करके भी मेरा यह रूप नहीं देख सकता।"[3] पर कुकवियों की कृपा से कौरव-सभा में उपस्थित ऐरों-ग़ैरों सभी ने विराट् रूप देख लिया।

४. 'गीता' में यह भी लिखा है कि अनन्य भक्ति से ही मेरा यह रूप लोग जान व देख सकते हैं।[4] पर यहाँ दुष्टात्मा, पापी और भक्ति-शून्य शत्रुवर्ग के लोगों ने भी विराट् रूप का दर्शन किया है।

५. इस प्रसंग में विराट् रूप-दर्शन की कोई आवश्यकता नहीं थी। कारण कि प्रथम तो दुर्योधन आदि कृष्ण को पकड़ने का विचार ही रखते थे, इसके लिए उन्होंने कोई चेष्टा नहीं की थी। दुर्योधन भी पिता और चाचा की फटकार सुनकर चुप हो गया। अगर वह कुछ प्रयत्न भी करता तो उसे सफलता नहीं मिलती, क्योंकि कृष्ण स्वयं ही इतने बलवान् थे कि किसी के लिए उनको पकड़ना सम्भव नहीं था। फिर कृष्ण के सहायक सात्यकि, कृतवर्मा आदि यदुवंशी भी कृष्ण की सहायता और रक्षा के लिए उपस्थित थे। अतः प्रत्येक दृष्टि से देखने पर यही विदित होता है कि यहाँ विराट् रूप दिखाने का न तो कोई प्रसंग ही था और न प्रयोजन। यह स्पष्ट ही क्षेपककारों की कृपा है, इसके अतिरिक्त कुछ नहीं।

---

१. कृष्णचरित्र, पृ० ३६१–३६२
२. गीता, ११।४७
३. गीता, ११।४८
४. गीता, ११।५४

कौरव-सभा से निकलकर महाराज कुंती से मिले और पाण्डवों के प्रति उसका संदेश लेकर विराट् नगर की ओर चले जहाँ पाण्डव ठहरे हुए थे। चलते समय उन्होंने कर्ण को अपने साथ रथ पर बिठा लिया; उसका क्या प्रयोजन था, यह जानना चाहिए। कर्ण कुन्ती का कानीन पुत्र[1] था। जन्म की दृष्टि से पाण्डवों में वही ज्येष्ठ था। महाराज का कर्ण से वार्तालाप करने में प्रयोजन यह था कि किसी-न-किसी प्रकार कर्ण को पाण्डवों के पक्ष में मिला लेना चाहिए। इससे पूर्व वे साम और दाम आदि नीतियों का प्रयोग कर चुके थे, दण्डनीति को अन्त के लिए छोड़कर उन्होंने भेद-नीति का प्रयोग किया। उन्होंने कर्ण से कहा कि "कुन्ती के गर्भ से कन्यावस्था में उत्पन्न होने के कारण तुम युधिष्ठिर आदि पाण्डवों से बड़े हो। इसलिये तुम्हारे लिए उचित है कि तुम अपने अनुज पाण्डवों का साथ दो। बड़े होने के कारण राज्य के अधिकारी भी तुम्हीं होगे।"[2]

कर्ण पर महाराज की इस भेद-नीति का कुछ भी प्रभाव नहीं पड़ा। वह दुर्योधन का साथी था और दुर्योधन का उसपर बड़ा ऋण भी था। दुर्योधन भी कर्ण जैसे महारथी के बल पर ही उछल रहा था। अपने मित्र को संकट में छोड़कर पाण्डवों के पक्ष में मिल जाना कर्ण को घोर स्वार्थ तथा कृतघ्नता प्रतीत हुई, अतः उसने महाराज के इस प्रस्ताव को अस्वीकृत कर दिया। कृष्ण को अपनी इस असफलता से दुःख हुआ और उन्होंने यह कहकर उससे विदा ली कि "जब मेरी बात तुम्हारे हृदय में नहीं बैठती तो यह निश्चय समझ लो कि इस सम्पूर्ण पृथिवी की प्रजाओं के नाश का समय उपस्थित हो गया है। इस महानाश को कोई नहीं रोक सकता। हे तात, जब समस्त प्राणियों का विनाश निकट आ जाता है तब अन्याय भी न्याय के समान प्रतीत होकर हृदय से निकल नहीं पाता है।"[3]

१. कौमार्य अवस्था में उत्पन्न।

२. उद्योगपर्व, अ० १४०

३. उपस्थित विनाशेयं नूनमद्य वसुन्धरा।
यथा हि मे वचः कर्ण नोपैति हृदयं तव॥
सर्वेषां तात भूतानां विनाशे प्रत्युपस्थिते।
अनयो नय संकाशो हृदयान्नापसर्पति॥ (उद्योगपर्व १४३।४६,४७)

अध्याय २६

भीष्म-पर्व

युद्ध का उपक्रम

शान्ति के सभी उपायों के असफल होने पर युद्ध के अतिरिक्त और कोई मार्ग नहीं रहा। कुरुक्षेत्र के मैदान में यह विश्व-प्रसिद्ध संग्राम हुआ, जो अठारह दिनों तक चला। इसमें दोनों पक्षों के हज़ारों वीर मरे और जन-धन की अपार क्षति हुई। इस संग्राम से देश को जो ज़बरदस्त धक्का लगा उसकी क्षति-पूर्ति हज़ारों वर्ष व्यतीत हो जाने पर भी नहीं हो सकी। कौरव-पक्ष के चार सेनापतियों ने इस युद्ध का नेतृत्व किया जिनके नाम हैं—भीष्म, द्रोण, कर्ण और शल्य। इन्हीं सेनापतियों के नाम से महाभारतकार व्यास ने चार पर्वों की रचना की है। सर्वप्रथम पितामह भीष्म को कुरु-सेना का नेतृत्व सौंपा गया। इनके नेतृत्व में दस दिन तक युद्ध हुआ।

भीष्म-पर्व के प्रारम्भ में २५वें अध्याय से 'भगवद्गीता' आरम्भ होती है जो १८ अध्यायों तथा ७०० श्लोकों में समाप्त हुई है। यह छोटा-सा ग्रन्थ अपने आध्यात्मिक और दार्शनिक महत्त्व के कारण विश्व-विख्यात है। 'गीता' के विषय में एक पृथक् अध्याय परिशिष्ट-रूप में लिखा गया है, अतः यहाँ इसपर विस्तार से लिखना अनावश्यक है। युद्ध के अवसर पर शत्रु-पक्ष में अपने ही नातेदारों और सम्बन्धियों को उपस्थित देखकर अर्जुन मोहग्रस्त हो गया। वह सोचने लगा कि इनको मारकर यदि मैंने विजयश्री प्राप्त भी की तो उससे मेरा क्या कल्याण होगा? ऐसी बातों को सोचते-सोचते अर्जुन किंकर्त्तव्य-विमूढ़ हो गया। उसने युद्ध न करने का निश्चय कर लिया और शोकाविष्ट होकर रथ के पृष्ठ-भाग में बैठ गया। कृष्ण ने जब अर्जुन को इस प्रकार 'शोक-संविग्नमानस' देखा तो उन्हें बड़ा खेद हुआ। उन्होंने अपने ओजस्वी उपदेशों के द्वारा अर्जन को स्वकर्त्तव्य का बोध कराया और

बहुत-कुछ प्रबोध देने पर अर्जुन उनकी बात को मानने के लिए राज़ी हुआ। कृष्ण के इन्हीं प्रेरणाप्रद उपदेशों का संकलन 'गीता' में हुआ है, जिन्हें सुनकर अर्जुन 'युद्धाय कृतनिश्चय:' की स्थिति को प्राप्त हुआ और उसने 'करिष्ये वचनं तव' की प्रतिज्ञा की।

युद्ध के लिए अर्जुन के पुनः उद्यत होने पर पाण्डव-पक्ष के सभी योद्धा सिंहनाद करने लगे। उस समय महाराज युधिष्ठिर युद्ध में विजय-प्राप्ति का आशीर्वाद प्राप्त करने के लिए कर-बद्ध होकर भीष्म, द्रोण, कृप, शल्य आदि कौरव-प्रमुखों के पास गये और उन्हें प्रणाम किया तथा आशीर्वाद की याचना की।[1] युधिष्ठिर की इस नम्रता को देखकर सभी लोग बड़े प्रभावित हुए। उन्हें तदनुकूल ही विजय-लाभ का वर मिला, विशेषतया भीष्म की प्रसन्नता का कोई पारावार नहीं रहा।

इस समय कृष्ण ने पुनः कर्ण को पाण्डव-पक्ष में सम्मिलित होने की सम्मति दी, क्योंकि कर्ण की यह प्रतिज्ञा थी कि जबतक भीष्म लड़ेंगे तबतक वह युद्ध से पृथक् रहेगा। इस प्रतिज्ञा का कारण उसका भीष्म से वैयक्तिक द्वेष था। कृष्ण ने इसका लाभ उठाकर उसे अपने ही भाई पाण्डवों के पक्ष में युद्ध करने के लिए उत्तेजित किया, परन्तु कर्ण अपने विचार का पक्का था। उसने यह स्पष्ट कह दिया कि मैं वह कार्य कदापि नहीं करूँगा जिससे दुर्योधन का अहित हो।

युद्ध प्रारम्भ हुआ। पाण्डव-सेना का प्रथम सेनापति धृष्टद्युम्न था। प्रथम दिन की लड़ाई में ही भीष्म ने जो भयंकर मार-काट मचाई, उसे देखकर युधिष्ठिर व्याकुल हो गये और उन्होंने अपनी निराशा कृष्ण के आगे व्यक्त की। कृष्ण ने सदा की भाँति उन्हें धैर्य बँधाया।

युद्ध के वर्णन में महाभारतकार ने सैकड़ों अध्याय लिखे हैं। उनमें किसी प्रकार की रोचकता या नवीनता नहीं है। यदि बंकिम के शब्दों का प्रयोग करें तो कहेंगे कि "इन युद्ध-पर्वों को 'महाभारत' का निकृष्ट अंश समझना चाहिए क्योंकि पुनरुक्ति, अत्युक्ति, असंगति और अरुचिकर, अस्वाभाविक तथा अनावश्यक वर्णनों से परिपूर्ण हैं।"[2]

कई दिनों तक युद्ध चलता रहा। भीष्म के युद्ध-कौशल के समक्ष पाण्डवों में से कोई भी उनका सामना करने की शक्ति नहीं रखता

---

१. भीष्म-पर्व, अध्याय ४३

२. कृष्ण-चरित्र, पृ० ४०३

था; एक अर्जुन ही उनकी टक्कर का वीर था परन्तु वह भी जी खोलकर नहीं लड़ रहा था। पितामह के प्रति उसके हृदय में अत्यन्त कोमल भावनाएँ थीं, क्योंकि वह जानता था कि बाल्यकाल में उसका पालन-पोषण भीष्म ने ही किया था। इस पर्व में संजय का कथन है कि अर्जुन मृदु-युद्ध करते थे और भीष्म सदा बाणों की वृष्टि करते थे। जब कृष्ण ने अर्जुन से इस प्रकार शत्रु-सेनापति से मृदु-युद्ध करने का कारण पूछा तो भाव-विभोर होकर पार्थ कह उठे, "वासुदेव ! मैं क्या करूँ ? पितामह से मैं कैसे लड़ूँ ? बचपन में जब मैं इनकी गोद में लेटकर इन्हें पिता कहता था तो ये वात्सल्यपूर्वक मेरे सिर पर हाथ फेरकर कहते थे—बेटा ! मैं तेरा पिता नहीं हूँ, मैं तेरे पिता का पिता हूँ।" भीष्म को पाण्डव-सेना का नाश करते और अर्जुन के शिथिल युद्ध को देखकर कृष्ण से नहीं रहा गया। वे एक दिन स्वयं रथ से कूद पड़े। भीष्म के वध की इच्छा से बार-बार सिंह-नाद करते हुए, धरती को अपने पाँवों से कँपाते हुए तथा हाथों में रथ के अश्वों को हाँकने का कोड़ा लिये हुए वे भीष्म की ओर दौड़े।[1]

जब अर्जुन ने देखा कि मेरे मृदु-युद्ध के कारण ही कृष्ण दुःखी होकर अस्त्र-ग्रहण न करने की अपनी पूर्व-प्रतिज्ञा को तोड़ने के लिए उद्यत हो गये हैं तो उसे बड़ा दुःख हुआ। वह शीघ्रता से उनके पीछे दौड़ा और अपनी भुजाओं से उन्हें पकड़ लिया। उसने महाराज को बार-बार आश्वासन दिया कि वह अब पितामह का वध अवश्य करेगा तथा मृदु-युद्ध करना बन्द कर देगा।[2] उसने कृष्ण से यह भी प्रार्थना की कि वे स्वयं युद्ध से निवृत्त हो जायें क्योंकि उनकी प्रतिज्ञा की रक्षा आवश्यक है। यदि आप अपने युद्ध न करने के वचन को तोड़ेंगे तो लोग आपको मिथ्यावादी कहेंगे। कृष्ण का अभीष्ट पूरा हुआ। वे रथ पर पुनः आरूढ़ हुए और अर्जुन जी लगाकर युद्ध करने लगा।

१. न मे रथी सात्वत कौरवाणां
 क्रुद्धस्य मुच्येत रणेऽद्य कश्चित् ।
 तस्मादहं गृह्य रथाङ्गमुग्रं
 प्राणं हरिष्यामि महाव्रतस्य ॥ (भीष्मपर्व, ५६।८५)

२. न हास्यते कर्म यथा प्रतिज्ञं
 पुत्रैः शपे केशव सोदरैश्च ।
 अन्तं करिष्यामि यथा कुरूणां
 त्वयाहमिन्द्रानुज सम्प्रयुक्तः ॥ (भीष्मपर्व, ५६।१०३)

इस घटना को लेकर कथावाचकों ने एक नयी बात गढ़ ली है। उनके कथनानुसार जिस प्रकार कृष्ण ने युद्ध में न लड़ने की प्रतिज्ञा की थी, उसी प्रकार भीष्म ने भी यह प्रतिज्ञा ली कि वे कृष्ण को अवश्य शस्त्र ग्रहण करायेंगे। अपने भक्त के प्रण की रक्षा करने के लिए ही कृष्ण एक टूटे हुए रथ का पहिया लेकर भीष्म को मारने दौड़े। भक्त-कवि सूरदास ने इस प्रसंग को अपने एक पद में निबद्ध किया है।[1] वस्तुत: इस कल्पना का कोई आधार नहीं है। 'महाभारत' में भीष्म की इस प्रतिज्ञा का कहीं उल्लेख नहीं मिलता। भीष्म को मारने यदि कृष्ण दौड़े भी, तो इससे उनकी प्रतिज्ञा की कोई हानि नहीं हुई। उन्होंने युद्ध तो किया ही नहीं था। अश्व-वल्गा लेकर उनके दौड़ने का उद्देश्य केवल यही था कि अर्जुन भीष्म को मारने के लिए अपने प्रयत्न में कुछ उग्रता लाये। उनकी अभीष्ट-सिद्धि हो गई।

युद्ध के नवें दिन भीष्म-वध का उद्योग करने के लिए युधिष्ठिर ने अपने भाई-बांधवों और हितचिन्तकों को सम्मिलित किया। इस गोष्ठी में कृष्ण ने कहा कि भीष्म का वध करने में मैं और अर्जुन दोनों ही समर्थ हैं। अब आप हममें से चाहे जिसे आज्ञा दें हम तैयार हैं। इस समय युधिष्ठिर को कृष्ण के शस्त्र ग्रहण न करने का स्मरण आया। अत: उसने कहा कि मैं अपने स्वार्थ के लिए आपको भीष्म-वध का कार्य सौंपकर मिथ्यावादी नहीं बनाना चाहता। पुन: कृष्ण की सम्मति से ही पाण्डव-पक्ष के सब लोग भीष्म के समीप गये और उनसे ही उनकी मृत्यु का उपाय पूछा। यह घटना भी बड़ी विस्मयकारक है कि किसी व्यक्ति से स्वयं उसकी मृत्यु का उपाय पूछा जाय और वह बिना किसी संकोच के बता भी दे। भीष्म ने स्पष्ट कर दिया कि अर्जुन और कृष्ण के अतिरिक्त अन्य किसी में इतनी सामर्थ्य नहीं है कि वह उनका वध कर सके। निश्चय ही अर्जुन भीष्म को वीरगति प्राप्त करा सकता था, परन्तु पूर्व-निर्दिष्ट कारणवश वह वात्सल्यमूर्ति

---

१. आजु जौ हरिहिं न शस्त्र गहाऊँ।
तौ लाजौं गंगा-जननी को शान्तनु-सुत न कहाऊँ।
पाण्डव-दल सन्मुख ह्वै धाऊँ, सरिता-रुधिर बहाऊँ।
स्यन्दन खण्डि महारथ खण्डौं, कपिध्वज सहित ढुलाऊँ।
इति न करौं तो सपथ मोहि हरि की, क्षत्रिय-गतिहि न पाऊँ।
'सूरदास' रनविजय सखा को जियत न पीठ दिखाऊँ॥

पितामह का वध कैसे करे, यह उसके लिए एक बड़ा धर्म-संकट बन गया। उसने अपने हृदय की इस कमज़ोरी को कृष्ण के समक्ष स्वीकार कर लिया तथा उनके समझाने पर वह भीष्म-वध के लिए कृतसंकल्प भी हो गया। अन्त में ऐसा ही हुआ। अर्जुन के तीक्ष्ण बाणों से आहत होकर पितामह शरशय्या पर सो गये और एक निश्चित अवधि के पश्चात् उन्होंने अपने प्राणों का त्याग किया। बंकिम के मतानुसार शिखण्डी की कथा बाद के कवियों ने मिलायी है[1] जो केवल चमत्कार लाने का एक प्रयत्न है। यहाँ भीष्म-पर्व समाप्त होता है।

१. कृष्ण-चरित्र, पृ० ४०८

अध्याय ३०

द्रोण-पर्व : जयद्रथ-वध

अभिमन्यु-वध

भीष्म के पश्चात् कौरव-सेना का सेनापतित्व द्रोणाचार्य को प्राप्त हुआ। द्रोण-पर्व के प्रारम्भ में कृष्ण के विषय में कोई महत्त्वपूर्ण उल्लेख नहीं है। अभिमन्यु के वध के पश्चात् ही कृष्ण कार्य-क्षेत्र में आते हैं। द्रोणाचार्य ने चक्रव्यूह की रचना की थी जिसे भेदने की शक्ति पाण्डव-पक्ष में अर्जुन को छोड़कर और किसी में नहीं थी। दुर्भाग्यवश अर्जुन उस दिन संसप्तकों से युद्ध करने चले गये। उनकी अनुपस्थिति में गुरु द्रोणाचार्य द्वारा रचित चक्रव्यूह का समाचार सुनकर पाण्डवों की सेना में बड़ी हलचल मची। अन्त में सौभद्र अभिमन्यु इस काम के लिए तैयार हुआ। उसने उस दिन पाण्डव-सेना का नेतृत्व किया और अकेला ही चक्रव्यूह में घुसकर कौरव-सेना को नष्ट करने लगा। उसकी सहायता के लिए जो पाण्डव-सेना साथ गयी थी वह अन्दर प्रवेश नहीं पा सकी। इसका कारण था जयद्रथ, जो व्यूह के मुख्य द्वार का रक्षक था तथा जिसके प्रतिरोध के कारण पाण्डव-सेना को भीतर प्रविष्ट होने में सफलता नहीं मिली।

कौरवों से युद्ध करता हुआ महावीर अभिमन्यु सात महारथियों के क्रूरतापूर्ण षड्यन्त्र का शिकार हुआ। जब अभिमन्यु-वध का समाचार युधिष्ठिर को मिला तो उसे अपने भ्रातृ-पुत्र की असामयिक मृत्यु का तो दु:ख हुआ ही, साथ ही इस बात का भी खेद हुआ कि जब अर्जुन अपने कार्य को समाप्त कर उनके समक्ष आयगा तो वह उसे क्या उत्तर देगा ? सायंकाल को जब अर्जुन संसप्तकों को युद्ध में ठिकाने लगाकर लौटा तो उसे अभिमन्यु-वध का समाचार मिला। उसने तुरन्त ही जयद्रथ को मारने की प्रतिज्ञा की। जयद्रथ ही चक्रव्यूह का द्वार-रक्षक था और उसके कारण ही पाण्डव-सेना भीतर प्रविष्ट नहीं हो सकी

थी। यदि पाण्डव-सेना अभिमन्यु के साथ रहती तो वह इस प्रकार निर्दयतापूर्वक न मारा जाता। अर्जुन ने निश्चय किया कि या तो वह जयद्रथ को एक ही दिन में मारेगा अथवा स्वयं प्राणान्त कर लेगा।[1]

जयद्रथ-वध

जब कृष्ण ने अर्जुन की प्रतिज्ञा का समाचार सुना तो उन्होंने एक दूत कौरव-शिविर में भेजा जो वहाँ होनेवाली अर्जुन की प्रतिज्ञा की प्रतिक्रिया का पता लगाये। दूत ने लौटकर बताया कि अर्जुन की प्रतिज्ञा का समाचार कौरव-दल में बड़ी चिन्ता के साथ सुना गया। ज्योंही यह समाचार जयद्रथ को मिला, वह अत्यन्त भयभीत होकर दुर्योधन के पास गया और उससे अपने घर जाने की आज्ञा माँगी। दुर्योधन ने उसे हताश और निराश न होने के लिए कहा और आश्वासन दिया कि उसकी प्राण-रक्षा का भरसक प्रयत्न किया जायगा।[2] अब द्रोणाचार्य ने जयद्रथ की रक्षा के लिए सूचीव्यूह की रचना की। जयद्रथ को एक केन्द्र-स्थान पर छिपा दिया और कौरव-पक्ष के सब महारथी प्राचीर की तरह उसकी रक्षा करने लगे। ऐसी परिस्थिति में शायद अर्जुन के लिए भी उस भीषण व्यूह को भेदकर जयद्रथ को मारना कठिन हो जाय, यह जानकर कृष्ण कुछ सोचने लगे। इसी सोच और विचार-विमर्श में रात्रि होने लगी।

अभिमन्यु-वध का हृदय-द्रावक समाचार जब उसकी माता सुभद्रा और पत्नी उत्तरा को मिला तो वे शोकाकुल होकर विलाप करने लगीं। कृष्ण उन्हें सान्त्वना देने के लिए शिविर में गये। उन्होंने धैर्य बँधाते हुए अपनी बहन को कहा कि पुत्र के लिए शोक करना उचित नहीं है। काल ने सम्पूर्ण प्राणियों के लिए और विशेषकर क्षत्रियों के लिए ऐसी ही गति का विधान किया है। पिता के समान पराक्रमी तुम्हारे महाबली पुत्र की प्रारब्ध से ही ऐसी वीर-मृत्यु हुई है, अतः तुम्हें शोक नहीं करना चाहिये। धर्मानुसार युद्ध कर तथा शत्रु-पक्ष के अनेक वीरों को यमलोक पहुँचाकर अन्त में तुम्हारे पुत्र ने वीरपुरुषों के लिए अभिलषित वीरगति प्राप्त की है, अतः तुम्हें उसके निमित्त दुःखी नहीं होना चाहिये। इन वचनों से श्री कृष्ण ने सुभद्रा के दुःखी हृदय को

१. द्रोणपर्व, अध्याय ७३
२. द्रोणपर्व, अध्याय ७४

सान्त्वना देने का प्रयत्न किया।[1] यह सत्य है कि जिस माता का युवा पुत्र क्रूरतापूर्वक युद्ध में मारा गया हो, उसे केवल वाणी से सान्त्वना देना ही पर्याप्त नहीं है, परन्तु कृष्ण-जैसे स्थितप्रज्ञ महापुरुष के सान्त्वनापूर्ण वाक्यों से सुभद्रा पर्याप्त आश्वस्त हुई।

सुभद्रा के आवास से निकलकर कृष्ण पुनः अपने स्थान पर गये और जयद्रथ-वध का उपाय सोचने लगे। उन्होंने अपने सारथी दारुक को बुलाया और उसे प्रातःकाल ही अपने रथ को अश्वों और अस्त्र-शस्त्रों से सुसज्जित रखने की आज्ञा प्रदान की।[2] उनका विचार यह था कि यदि अर्जुन दिनभर लड़कर भी व्यूह को नहीं तोड़ सका और जयद्रथ को नहीं मार सका तो वे स्वयं जयद्रथ को मारेंगे और अपने मित्र की प्रतिज्ञा पूरी करेंगे। वस्तुतः कृष्ण को लड़ने की आवश्यकता ही नहीं पड़ी, अर्जुन ने स्वयं ही सारे रथियों को परास्त कर जयद्रथ-वध का मार्ग प्रशस्त कर दिया। यदि कृष्ण को युद्ध करना ही पड़ता तो इससे उनकी संग्राम में शस्त्र ग्रहण न करने की प्रतिज्ञा खण्डित न होती। बंकिम ने इस प्रसंग में ठीक ही लिखा है, "जिस युद्ध के लिए उन्होंने प्रतिज्ञा की थी वह यह नहीं था। वह कौरव-पाण्डवों का राज-सम्बन्धी युद्ध था, और यह अर्जुन की प्रतिज्ञा-सम्बन्धी। यदि अर्जुन प्रतिज्ञा पूरी न कर सकता तो वह आग में जल मरता। यह युद्ध पहले नहीं ठना था, अतः 'अयुद्धमान संग्रामे' इसमें नहीं लगता है।"[3]

यहाँ एक मनगढ़ंत कहानी 'महाभारत' में और मिलायी गयी है। रात्रि के समय कृष्ण और अर्जुन दोनों हिमालय पर्वत पर जाकर महादेव से जयद्रथ-वध के लिए पाशुपतास्त्र प्राप्त करते हैं।[4] वनपर्व में वनवास के समय में भी अर्जुन द्वारा महादेव से पाशुपतास्त्र लेने का उल्लेख है। यहाँ यह घटना पुनः दोहरायी गयी है। प्रक्षेप करनेवाला यह भूल गया कि उसका यह पुनरुक्ति-दोष पकड़ा जायेगा।

दूसरे दिन जयद्रथ-वध के लिए घोर संग्राम हुआ। दोनों पक्षों के सैकड़ों महारथी हताहत हुए। सूर्यास्त से पूर्व ही अर्जुन ने जयद्रथ को

१. द्रोणपर्व, अ० ७८
२. द्रोणपर्व, अ० ७६
३. कृष्ण-चरित्र, पृ० ४१३
४. द्रोणपर्व, अ० ८१

मार डाला। यहाँ एक अन्य अलौकिक और चमत्कारपूर्ण घटना 'महाभारत' में प्रक्षिप्त की गयी है। कहा गया है कि जयद्रथ को अर्जुन के सम्मुख आने का साहस नहीं हो रहा था और जब तक वह सम्मुख न आये, अर्जुन उसे कैसे मार सकता था ! इसका उपाय करने के लिए कृष्ण ने अपनी योग-माया के बल से सूर्य को मध्याह्नोत्तर-काल में ही छिपा दिया। सचमुच सूर्यास्त हो गया, यह जानकर जयद्रथ अपनी शरणस्थल से बाहर निकल आया और अर्जुन ने उसे मार डाला। बंकिम इस कथा को क्षेपक मानते हैं। सूर्य छिपने से पूर्व भी अर्जुन और जयद्रथ एक-दूसरे पर वार कर रहे थे, अतः एक बार सूर्यास्त होने और पुनः सूर्य के निकलने की घटना पर विश्वास करना कठिन है।

जयद्रथ के वध के साथ-साथ एक पौराणिक गाथा और जुड़ी हुई है। जयद्रथ का पिता वृद्धक्षत्र कहीं पर तपस्या कर रहा था। उसको यह वरदान था कि यदि कोई उसके पुत्र का सिर धड़ से अलग करेगा और भूमि पर गिरायगा तो उसी समय उसके पुत्र को मारनेवाले का सिर भी सौ टुकड़े होकर पृथिवी पर गिर पड़ेगा। इस रहस्य को जाननेवाले कृष्ण ने अर्जुन से कहा कि तुम जयद्रथ पर इस प्रकार प्रहार करो कि जिससे उसका सिर अमुक स्थान पर तपस्या करनेवाले वृद्धक्षत्र की गोद में पड़े; और जब वह अपने पुत्र के कटे सिर को अपनी गोद में देखेगा तो हड़बड़ी में उठ खड़ा होगा, तब उसकी गोद से ही उसके पुत्र का सिर धरती पर गिरेगा, फलस्वरूप वह स्वयं मारा जायेगा। अर्जुन ने ऐसा ही किया और जयद्रथ की मृत्यु प्रकारान्तर से उसके पिता की मृत्यु का कारण बनी। ऐसी ऊटपटाँग कहानियों की मीमांसा करने की आवश्यकता नहीं है। इन्हीं चमत्कारपूर्ण मिथ्या कथाओं ने 'महाभारत' के वास्तविक ऐतिहासिक स्वरूप को छिपाकर उसे पुराणों के निकट बैठा दिया है।

अध्याय ३१

घटोत्कच-वध

भीम का विवाह हिडिम्बा नाम की राक्षसी से हुआ था। यह राक्षसी हिडिम्ब नामक राक्षस की सहोदरा थी। भीम ने राक्षस का वध कर उसकी बहन से पाणिग्रहण किया। इस राक्षस-पत्नी से भीम के एक पुत्र हुआ—घटोत्कच। यह बड़ा वीर और लड़ाकू था। पाण्डव-पक्ष की ओर से घटोत्कच ने बड़ा भारी युद्ध किया। कौरव-सेना इसकी भयंकर मार-काट से त्रस्त हो उठी। कर्ण और घटोत्कच के बीच भयंकर संग्राम हुआ। कर्ण ने इन्द्रप्रदत्त अमोघ शक्ति का प्रयोग घटोत्कच को मारने में किया। वस्तुतः उसने यह शक्ति अर्जुन को मारने के लिए रख छोड़ी थी, परन्तु घटोत्कच के अप्रतिम शौर्य और रण-चातुर्य से अपने को पार न पाता देख निराश कर्ण के लिए शक्ति का प्रयोग करना आवश्यक हो गया। ऐन्द्री शक्ति से घटोत्कच मारा गया।[1] पाण्डवपक्ष में शोक के बादल छा गये, परन्तु श्री कृष्ण खुशी के मारे नाच उठे।[2]

बंकिम ने कृष्ण की इस प्रसन्नता का बड़ा मनोरञ्जक वर्णन किया है। वे लिखते हैं, "घटोत्कच के मरने पर पाण्डव शोक से व्याकुल हो रोने लगे, पर श्री कृष्ण रथ पर नाच उठे। अब तो वे गोप-बालक नहीं हैं, नाती-पोतेवाले हैं, अचानक उनके पागल हो जाने की भी बात नहीं, फिर रथ पर नाच कैसा? केवल नाच ही नहीं, सिंहनाद और खम ठोंकना!"[3] अर्जुन ने इसका कारण पूछा[4] तो आपने कहा कि कर्ण ने एक इन्द्रदत्त शक्ति तुम्हें मारने के लिए रख छोड़ी थी; घटोत्कच

१. द्रोणपर्व अ० १७९

२. स विनद्य महानादमभीषून् संनियम्य च।
ननर्त हर्षसंवीतो वातोद्धूत इव द्रुमः॥ (द्रोणपर्व, १८०।३)

३. द्रोणपर्व, अ० १८०।४; कृष्ण-चरित्र, पृ० ४२३

४. अतिहर्षोऽयमस्थाने तवाद्य मधुसूदन।
शोकस्थाने तु सम्प्राप्ते हैडिम्बस्य वधेन तु॥ (द्रोणपर्व, १८०।६)

पर उसका प्रयोग हो जाने से वह नष्ट हो गयी है, अतः अब तुम्हें किसी से भय नहीं रहा। अब निश्चिन्त होकर कर्ण से लड़ो। इस कथा को गढ़नेवाला यह भूल गया कि इससे पूर्व जब जयद्रथ के लिए अर्जुन और कर्ण में युद्ध हुआ था, उस समय कर्ण को उस शक्ति का ध्यान क्यों नहीं आया? प्रक्षेप करनेवालों का पर्दा इसी तरह उघड़ता है।

दूसरी तह के कवि और बंकिम—मैंने पूर्व-अध्यायों में यथा-प्रसंग निवेदन किया है कि बंकिम का 'कृष्ण-चरित्र' कहीं-कहीं विरोधात्मक बातों से दूषित हो गया है। उनके ये वदतो-व्याघातपूर्ण कथन चन्द्रमा में कलंक के तुल्य हैं। परस्पर के इन विरोधी कथनों के कारणों का भी हमने यथा-स्थान संकेत किया है। यद्यपि बंकिम ने कृष्ण के मानवीय चरित्र की समालोचना का बीड़ा उठाया है, परन्तु उनके अवचेतन में कृष्ण के अवतारी रूप की कल्पना भी विद्यमान है। उन्होंने यह कहीं अस्वीकार नहीं किया कि वे कृष्ण को ईश्वर नहीं मानते। बस, यह द्वैध विश्वास ही इस वदतो-व्याघात का कारण है। कृष्ण के सहज मानवीय चरित्र का विश्लेषण करनेवाले बंकिम एक ओर तो 'महाभारत' के प्रक्षिप्त अंशों और पुराणों की अविश्वसनीय मनगढ़न्त कथाओं की आलोचना भी करते हैं किन्तु दूसरी ओर कृष्ण को ईश्वर-अवतार मानने के कारण इन्हीं काल्पनिक कथाओं की दार्शनिक और आध्यात्मिक दृष्टि से संगति लगाने का भी प्रयत्न करते हैं। बंकिम की इस परस्पर-विरोधी विश्लेषण-पद्धति का दिग्दर्शन कराने के लिए ही ये पंक्तियाँ लिखी जा रही हैं।

घटोत्कच और जयद्रथ-वध का वर्णन हो चुका। इसमें क्षेपककारों के रचना-कौशल और मिश्रण की चातुरी की ओर भी संकेत किया जा चुका है। बंकिम ने भी इसे मूल 'महाभारत' का अंश न मानकर दूसरी तह के कवियों की कृति माना है। अब अवतारवाद की प्रतिष्ठा रखने के लिए बंकिम इन दूसरी तह के कवियों द्वारा किये गये क्षेपकों का भी औचित्य सिद्ध करने के लिए एक सम्पूर्ण अध्याय लिख बैठते हैं। उनके कथन का सारांश यह है—

"हिन्दुओं के मत से ईश्वर ही जगत् है...उसने लीला के लिए जगत् बनाया; जगत् उससे अलग नहीं, उसी का अंश है। उसने अपनी सत्ता को अविद्या से ढक लिया है, इसीसे वह सुख-दुःख और पाप-पुण्य का आधार नहीं है। सुख-दुःख और पाप-पुण्य उसीसे निकले हैं। उसकी

माया से दुःख मिलता है और उसी की माया से लोग पाप करते हैं···
दुःख जगदीश्वर का प्रेरित है, उसके सिवा दुःख का और दूसरा कोई
कारण नहीं है···पाप-बुद्धि जगदीश्वर की प्रवृत्तित है···दूसरी तह के
कवि इसी तत्त्व की अवतारणा में भीतर-ही-भीतर लगे थे।"[1]

आगे चलकर बंकिम पुनः लिखते हैं, "ईश्वर ही सब-कुछ है और उससे ही सब-कुछ हुआ है। उसी से ज्ञान और उसी से ज्ञान का अभाव या भ्रान्ति निकली है। उसी से बुद्धि और उसीसे दुर्बुद्धि आयी है। उसी से सत्य और उसीसे असत्य पैदा हुआ है। उसीसे न्याय और उसीसे अन्याय उत्पन्न हुआ है···ज्ञान, बुद्धि, सत्य और न्याय उसीसे निकले हैं, यह समझाने की ज़रूरत नहीं···हाँ, भ्रान्ति, दुर्बुद्धि आदि भी उसीसे निकले हैं यह अच्छी तरह समझाने की ज़रूरत है।" वह जयद्रथ-वध में दिखलाते हैं कि "भ्रान्ति ईश्वर-प्रेरित है। घटोत्कच-वध में दिखलाते हैं कि दुर्बुद्धि भी उसी की प्रेरित है और दुर्योधन-वध में दिखायेंगे कि अन्याय भी वही ले आया।"[2]

बंकिम के मन्तव्य को पाठकों को भली-भाँति हृदयंगम कराने के लिए ही इतना लम्बा उद्धरण देने की आवश्यकता पड़ी है। अब इसकी आलोचना में कुछ बातें लिखी जाती हैं। प्रथमतः बंकिम का यह कथन सर्वांश में ही सत्य नहीं है कि हिन्दुओं के मत में ईश्वर ही जगत् है। अद्वैत मतावलम्बियों की दृष्टि में ईश्वर और जगत् अभिन्न हो सकते हैं, किन्तु इसे सारे हिन्दुओं का मत बताना अनुचित है। शंकर की भाँति प्रस्थानत्रयी[3] की टीका लिखनेवाले रामानुज, मध्व, निम्बार्क आदि अनेक भक्ति-मार्ग के प्रस्तोता-दार्शनिक इस सिद्धान्त से असहमत हैं। अद्वैतवाद का सिद्धान्त पुरातन वेद-संहिताओं में कहीं उपलब्ध नहीं होता। इसके विपरीत ईश्वर, जीव और प्रकृति की त्रिविध स्वतन्त्र सत्ताओं के निर्देश प्राचीन ग्रन्थों में सर्वत्र मिलते हैं।[4] ईश्वर चेतन है जबकि जगत् जड़ प्रकृति का परिणाम है। ईश्वर आनन्द-स्वरूप है जबकि प्रकृति से उत्पन्न यह जगत् जड़ है, उसमें चैतन्य और

१. कृष्ण-चरित्र, पृ० ४१६–४१८
२. कृष्ण-चरित्र, पृ० ४१९-४२०
३. प्रस्थान-त्रयी के अन्तर्गत उपनिषद्, गीता तथा वेदान्त-सूत्र आते हैं।
४. "द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया" आदि। (ऋग्वेद, १।१६४।२०)

आनन्द का लेशमात्र भी नहीं है। बंकिम का उपर्युक्त विवेचन शांकर-मतानुकल हो सकता है, परन्तु विशाल हिन्दू-समुदाय में तो अद्वैत-वादियों से भिन्न विशिष्टाद्वैतवादी, द्वैतवादी आदि भिन्न आस्थाओं के लोग भी हैं जिनको यह मत कदापि स्वीकार नहीं हो सकता। अतः अद्वैत-वेदान्तियों के हेत्वाभासपूर्ण असत्य कथनों के आधार पर निर्विकार, निर्लेप, निरञ्जन ईश्वर को दुःख, पाप, दुर्बुद्धि, भ्राँति, असत्य और अन्याय का कारण बताना विडम्बना के अतिरिक्त कुछ नहीं है।

अवश्य ही जीव में दुःख, पाप, दुर्बुद्धि, भ्रान्ति आदि दुर्गुण रहते हैं, परन्तु इसका कारण है उसका अल्पज्ञ और अल्पशक्ति होना। यदि दुर्गुण, दुर्व्यसन, अन्याय और अत्याचार भी ईश्वर-प्रेरित समझे जायँ तो नैतिकता और आचार-शास्त्र का तो दिवाला ही निकल जायेगा। चोर भी अपनी चोरी के दुष्कर्म को ईश्वर-प्रेरित बतायेगा और व्यभिचारी तथा दुराचारी भी अपने दोषों के लिए ईश्वर को ही उत्तरदायी ठहरायेंगे। फिर न्यायालय द्वारा उन्हें दंडित करने में भी कोई औचित्य नहीं रह जायेगा, क्योंकि वे यह कहकर दण्ड से बचना चाहेंगे कि उनके अपराधपूर्ण कृत्यों के लिए ईश्वर ही उत्तरदायी है। बंकिम का यह विचित्र तर्क न तो उनके ईश्वर की प्रतिष्ठा बढ़ाता है और न उससे कृष्ण-चरित्र की ही महत्ता बढ़ती है। केवल अवतारवाद को प्रश्रय देने के कारण जिन घटनाओं को वे मिथ्या और कल्पना-प्रसूत कह चुके हैं, उनकी ही वकालत करना बुद्धिमत्ता कैसे कही जा सकती है ?

घटोत्कच-वध के प्रकरण में भी बंकिम कुछ इसी प्रकार की बात करते हैं, "बुद्धि ईश्वर-प्रेरित है और दुर्बुद्धि भी ईश्वर-प्रेरित है। बस, यही कवि कहना चाहता है। कर्ण ने अर्जुन के मारने के लिए इन्द्र की शक्ति उठा रक्खी थी, पर पीछे घटोत्कच पर चला दी। यह उसकी दुर्बुद्धि थी। कृष्ण कहते हैं कि यह मेरा काम था, दुर्बुद्धि ईश्वर-प्रेरित है।"[1] यह सब लिखकर अन्त में यह भी कह दिया, "ये सब बातें दूसरी तह की हैं।"[2] अब इसे क्या कहा जाय ! एक ओर तो वैदिक धर्म में

१. कृष्ण-चरित्र, पृ० ४२५
२. कृष्ण-चरित्र, पृ० ४२६

गायत्री मंत्र द्वारा बुद्धि की प्रार्थना की गई है और ईश्वर से कहा गया है कि वह हमारी बुद्धियों को सन्मार्ग की ओर प्रेरित करे, दूसरी ओर बंकिम कहते हैं कि दुर्बुद्धि भी ईश्वर-प्रेरित है। अन्ततः अपने इस कथन पर भी दृढ़ नहीं रहते और कह देते हैं कि यह सब कवियों की कल्पना है। निष्कर्ष-रूप में हम कह सकते हैं कि बंकिम का यह सारा लेख ही परस्पर-विरुद्ध और असंगतियों से परिपूर्ण है, अतः अमान्य है।

अध्याय ३२

द्रोण-वध

द्रोण-वध की प्रचलित कथा इस प्रकार है—दस दिन तक भीष्म ने कौरवों का सेनापतित्व किया और पाँच दिन तक द्रोण ने। इन पाँच दिनों में प्रदर्शित आचार्य द्रोण का पराक्रम और शौर्य पाण्डव-पक्ष के लिए अत्यन्त हानिकर सिद्ध हुआ। अन्त में आचार्य को मार डालने का सोचा जाने लगा। 'महाभारत' के वर्तमान प्रचलित कथानक के अनुसार द्रोण को मरवाने का कलंक कृष्ण पर ही लगाया गया है। कृष्ण ने पाण्डवों से कहा—"यदि द्रोण युद्ध-भूमि में स्थिर रहे तो इन्द्र भी उन्हें पराजित करने में समर्थ नहीं है। अतः तुम लोग धर्म-युद्ध त्यागकर ऐसा उपाय अवलम्बन करो जिससे तुम्हारा नाश न हो।" उन्होंने उपाय भी बताया—"निश्चय ही अश्वत्थामा का मरना सुनकर द्रोणाचार्य युद्ध करने में समर्थ न होंगे, इससे कोई पुरुष उनके समीप जाकर अश्वत्थामा के मरने का समाचार सुनाये।"[1]

कृष्ण के चरित्र पर इससे भयंकर लांछन और क्या हो सकता है कि जिस महापुरुष ने आजन्म धर्माचरण किया, सत्य-व्रत पर अडिग रहा, उसे ही यह परामर्श देते बताया जाय कि असत्य बोलकर अधर्म-पूर्वक द्रोण का वध किया जाय! इसी बात से यह सिद्ध हो जाता है कि 'महाभारत' को वर्तमान रूप देने में बहुत-से लोगों का हाथ है। अर्जुन ने कृष्ण के इस परामर्श को स्वीकार नहीं किया, परन्तु युधिष्ठिर ने कर लिया। भीम ने तुरन्त कृष्ण के इस असत्य-युक्त, साथ ही लज्जापूर्ण प्रस्ताव को कार्यरूप में परिणत करने का बीड़ा उठाया। वह तुरन्त अश्वत्थामा नाम के प्रसिद्ध हाथी को मार आया और द्रोण के पास

१. नैष युद्धे न संग्रामे जेतुं शक्यः कथञ्चन।
स धनुर्धन्विनां श्रेष्ठो देवैरपि सवासवैः॥
अश्वत्थाम्नि हतेनैष यध्येदिति मतिर्मम॥ (द्रोणपर्व, १९०।१०,१२)

लज्जावनत-मस्तक होकर कहने लगा कि अश्वत्थामा मारा गया।[1] आचार्य ने यह सुनकर एक क्षण के लिए सोचा, किन्तु अपने पुत्र के बल का स्मरण कर उन्हें इस बात पर विश्वास नहीं हुआ। वे पुनः उत्साह से युद्ध में भाग लेने लगे।

द्रोणाचार्य को क्षत्रियों के वध में प्रवृत्त देखकर तथा उन्हें युद्ध से उपरत करने की इच्छा से प्रवृत्त होकर विश्वामित्र, जमदग्नि, भरद्वाज आदि ऋषि वहाँ आये और द्रोण से बोले—"हे द्रोण, तुम अधर्म से युद्ध कर रहे हो। अब तुम्हारा मरण-काल उपस्थित हुआ है। अब शस्त्रास्त्रों को त्यागकर हमारी ओर देखो, तुम्हें क्षत्रिय-वध का यह क्रूर कर्म नहीं करना चाहिए। तुम जो अस्त्र-विद्या न जाननेवालों को ब्रह्मास्त्र से भस्म कर रहे हो, यह तुम्हारा कार्य श्लाघनीय नहीं है।"[2]

ऋषियों के इन वचनों को सुनकर और अपने शत्रु-(द्रुपद)-पुत्र धृष्टद्युम्न को सम्मुख देखकर द्रोण का मन युद्ध से हट गया और उन्होंने युधिष्ठिर से अश्वत्थामा की तथाकथित मृत्यु के सम्बन्ध में वास्तविक जानकारी प्राप्त करनी चाही—क्या वह वस्तुतः जैसाकि भीम ने कहा, मार डाला गया है अथवा जीवित है? द्रोणाचार्य का यह दृढ़ विश्वास था कि सत्यवादी युधिष्ठिर किसी भी स्थिति में मिथ्यावादी नहीं होंगे। यहाँ कृष्ण को फिर षड्यंत्र में लपेटा गया है। कृष्ण ने युधिष्ठिर को असत्य-भाषण के लिए उकसाते हुए कहा कि द्रोणाचार्य यदि क्रुद्ध होकर आधे दिन भी युद्ध करेंगे तो तुम्हारी सम्पूर्ण सेना का नाश हो जायगा। अतः द्रोणाचार्य से अपनी सेना की रक्षा के लिए तुम्हें असत्य-वचन कहना ही होगा। भीमसेन ने भी इसका समर्थन किया। धर्मराज पहले तो धर्म-संकट में पड़कर असत्य भाषण की कल्पना से ही भयभीत होने लगे, परन्तु इस असत्य को भी कृष्ण-प्रेरित (बंकिम के अनुसार भगवत्प्रेरित) समझकर द्रोण के समीप गये और मन में हाथी का नाम लिया किन्तु प्रकाश-रूप में यह कह दिया कि अश्वत्थामा मारे गये।[3]

---

१. ततो भीम महाबाहुरनीके स्वे महागजम्।
जघान गदया राजन्नश्वत्थामानमित्युत॥ (१९०।१४)

२. वेदवेदाङ्गविदुषः सत्यधर्मरतस्य ते।
ब्राह्मणस्य विशेषेण तवैतन्नोपपद्यते॥ (द्रोणपर्व, १९०।३७)

३. अश्वत्थामा हत इति शब्दमुच्चैश्चचार ह।
अव्यक्तमब्रवीद् राजन् हतः कुञ्जर इत्युत॥ (द्रोणपपर्व, १९०।५५)

महाभारतकार कहते हैं कि "पहले सत्यवादी होने के कारण युधिष्ठिर के रथ के पहिये धरती से चार अंगुल ऊपर रहते थे, किन्तु अब मिथ्यावादी हो जाने के कारण उनका रथ भूमि को स्पर्श कर चलने लगा।"[१]

धर्मराज का यह कथन सुनकर द्रोणाचार्य पुत्रशोक से व्याकुल हो गये और उन्होंने अपने जीवन की आशा छोड़ दी। वे इतने हताश हो गये कि अपने ऊपर आनेवाले अस्त्रों के प्रतिकार में भी अपने को असमर्थ अनुभव करने लगे। उसी समय भीमसेन पुनः उनके रथ के समीप आकर बोलने लगे—"यदि अस्त्र-शस्त्रों की विद्या जाननेवाले अधम ब्राह्मण अपने जातीय कर्त्तव्य-कर्मों के अनुष्ठान से विरत होकर युद्ध न करते तो क्षत्रियों के कुल का कभी नाश न होता। हे ब्राह्मण, सर्वशास्त्रों में अहिंसा को ही पंडितों ने सर्वश्रेष्ठ कर्म कहा है। ब्राह्मण ही मुख्यतया उस धर्म के आचरण करनेवाले हैं, परन्तु अत्यन्त शोक है कि उन्हीं ब्राह्मणों के अग्रगण्य होकर आप म्लेच्छ की भाँति एक पुत्र के लिए इस प्रकार प्राणियों का नाश कर रहे हैं और जिसके लिए आप इतने प्राणियों के वध-रूपी पाप का संचय कर रहे हैं वह आपका पुत्र अश्वत्थामा आज मरकर पृथिवी पर शयन कर रहा है।"[२]

भीम के वचनों को सुनकर द्रोण का रहा-सहा धैर्य भी लुप्त हो गया और उन्होंने अपने धनुष को फेंककर कौरव-पक्ष के कर्ण, कृपाचार्य, दुर्योधन आदि नेताओं को युद्ध का भार सम्भालने के लिए कहा।[३] तदनन्तर विरक्त-भाव से बैठकर योगस्थ पुरुष की भाँति परमात्मा का ध्यान करने लगे। इस प्रकार परमपुरुष का ध्यान करते हुए आचार्य ने अपने प्राणों को योग-बल से शरीर से पृथक् कर दिया। इसी समय धृष्टद्युम्न आगे बढ़ा और उसने तलवार से द्रोण का सिर काट डाला।[४]

१. तस्य पूर्वं रथः पृथ्व्याश्चतुरंगुलमुच्छ्रितः।
बभूवैवं च तेनोक्ते तस्य वाहाः स्पृशन्महीम्॥ (द्रोणपर्व, १६०।५७)

२. द्रोणपर्व, १६२।३७–४१

३. कर्ण कर्ण महेष्वास कृप दुर्योधनेति च।
संग्रामे क्रियतां यत्नो ब्रवीम्येष पुनः पुनः॥ (१६२।४३)

४. धृष्टद्युम्नोऽवधीद् द्रोणं रथतल्पे नरर्षभम्।
शोणितेन परिक्लिन्नो रथाद् भूमिमथापतत्॥ (१६२।६८)

स्थूल रूप से यह वर्णन 'महाभारत' के उन अध्यायों का सारांश है जिनमें द्रोण-वध की कथा कही गयी है। बंकिम ने इस विवरण में अनेक असंगतियाँ ढूँढ निकाली हैं। उनके विवेचन से स्पष्ट ज्ञात होता है कि यदि इस वृत्तान्त को सत्य माना जाय तो इस षड्यन्त्र में सम्मिलित कृष्ण, भीम, युधिष्ठिर आदि जो भी सम्मिलित थे, वे सभी गुरु-हत्या के पाप के भागी ठहरते हैं। कृष्ण इस पापाचरण के अगुवा सिद्ध होते हैं क्योंकि उन्होंने ही अधर्म से द्रोण को मारने और युधिष्ठिर को झूठी साक्षी देने का परामर्श दिया था। 'महाभारत' में आता है कि इसी क्षणिक अनृत-भाषण के कारण उन्हें क्षणभर के लिए नरक में जाना पड़ा था, परन्तु गुरु-हत्या जैसे भयंकर पाप को देखते हुए यह दण्ड अत्यन्त तुच्छ मालूम होता है।

कृष्ण-चरित को कलंकित करनेवाले इस भयंकर लांछन का परिमार्जन करना बंकिम ने नितान्त आवश्यक समझा, क्योंकि उनकी दृष्टि में वृन्दावन की गोपियों और 'अश्वत्थामा हतः इति गजः' इन दो बातों से ही कृष्ण पर गहरा कलंक लगता है।[1] इस घटना को अप्रामाणिक सिद्ध करने के लिए बंकिम ने निम्न तर्क प्रस्तुत किये हैं[2]—

(१) जैसा कि बंकिम ने कृष्ण-चरित्र की आलोचना के नियम बनाते समय कहा था कि श्रेष्ठ कवियों के कहे हुए चरित्र सब अंशों में सुसंगत होते हैं। यदि कहीं उसमें अन्तर पड़े तो उसके प्रक्षिप्त होने का सन्देह होगा। इस नियम के अनुसार इस घटना की जाँच कीजिए। यहाँ युधिष्ठिर, भीम और कृष्ण तीनों के चरित्र में असंगति है। युधिष्ठिर को यहाँ असत्यवादी के रूप में चित्रित किया है। भीम जैसे बाहुबल के धनी के लिए यह लिखना कि वह छल-कपट और धोखे से द्रोण को मारना चाहता था, उसके चरित्र का सबसे बड़ा विद्रूप है। कृष्ण के चरित्र में तो असंगति की पराकाष्ठा है। इस घटना का उक्त पात्रों के मौलिक चरित्र से कोई मेल न होने के कारण इसे सत्य नहीं माना जा सकता।

(२) क्षेपक छाँटने का दूसरा नियम यह है कि यदि दो परस्पर-विरोधी घटनाएँ मिलें तो उनमें से एक को अवश्य क्षेपक मानना होगा।

---

१. कृष्ण-चरित्र, पृ० ४३२
२. वही, पृ० ४३३ से ४४३

यहाँ भी द्रोण-वध का कारण बननेवाली दो घटनाएँ बड़ी अनगढ़ रीति से मिला दी गईं हैं—एक है 'अश्वत्थामा हाथीवाली बात' जिसे सुनकर द्रोण का हताश होना बताया गया है, और दूसरी है 'ऋषियों की धिक्कार-भरी फटकार' जिसे सुनकर आचार्य को विराग हो गया। ऋषियों की इस फटकार को सुनकर भी द्रोण ने हथियार नहीं रक्खे। वस्तुतः वे भीम के तिरस्कारयुक्त वचनों को सुनकर ही युद्ध से पृथक् हुए, अतः द्रोण की मृत्यु के इन दो सर्वथा पृथक् विवरणों से किसी एक को अवश्य मिथ्या मानना होगा और इनमें से अश्वत्थामा हाथी के मारे जाने का वृत्तान्त ही क्षेपककार की करतूत सिद्ध होती है, क्योंकि यही घटना युधिष्ठिर, भीम और कृष्ण के मौलिक चरित्र के विपरीत पड़ती है।

(३) अश्वत्थामा की मृत्यु की घटना की अविश्वसनीयता भी एक और कारण है। प्रथम तो द्रोण को अपने पुत्र की मृत्यु का विश्वास होना ही कठिन था, द्वितीयतः वह इतना मूर्ख नहीं था कि बिना इस घटना की पूरी जानकारी प्राप्त किए यों ही आत्महत्या के लिए तैयार हो जाता। यदि द्रोणाचार्य किसी व्यक्ति को इस घटना की जानकारी करने के लिए भेजते तो कृष्ण की इस तथाकथित चालाकी का अवश्य ही भण्डाफोड़ हो जाता। अतः यह कथा क्षेपक सिद्ध होती है। यदि अश्वत्थामा की मृत्यु की कथा मिथ्या है तो कोई आवश्यक नहीं कि ऋषियों के रणभूमि में आने और उनके द्वारा धिक्कृत होने पर द्रोण का आत्महत्या के लिए तैयार होने की घटना को अर्थापत्ति से सत्य मान लिया जाय, क्योंकि ऋषियों का तो वहाँ आना ही असम्भव था।

(४) 'अनुक्रमणिकाध्याय' को भी देखना चाहिये। वहाँ द्रोण के मरने पर धृतराष्ट्र इतना ही कहते हैं कि जब धृष्टद्युम्न ने योगाभ्यास में बैठे हुए द्रोणाचार्य को रथ पर मार डाला तो मुझे पाण्डवों की जय में कोई सन्देह नहीं रहा।[1] यहाँ भी यही कहा गया है कि द्रोण-वध का निन्दनीय कार्य धृष्टद्युम्न के अधर्माचरण से ही हुआ, अर्थात् उसने ही योगावस्था में स्थित आचार्य को मार डाला। वे योगावस्थित क्यों हुए, यह एक पृथक् प्रश्न है।

---

१. यदाश्रौषं द्रोणमाचार्यमेकं, धृष्टद्युम्नेनाभ्यतिक्रम्य धर्मम्।
रथोपस्थे प्रायगतं विशस्तं, तदा नाशंसे विजयाय संजय॥ (आ० १।२०१)

(५) 'पर्वसंग्रहाध्याय' में "द्रोणे युधि निपातिते" के अतिरिक्त कुछ नहीं है। वहाँ मरे हाथी की कोई चर्चा नहीं है।

(६) 'द्रोण-पर्व' के सातवें तथा आठवें अध्याय में जहाँ द्रोण के युद्ध का संक्षिप्त वर्णन है, इस धोखेबाज़ी का कुछ भी ज़िक्र नहीं है।

(७) 'आश्वमेधिक पर्व' में कृष्ण के द्वारिका आने पर जब वसुदेव ने उनसे युद्ध का वृत्तान्त पूछा तो उन्होंने उसका संक्षेप में वर्णन किया। यहाँ द्रोण-वध के सम्बन्ध में उन्होंने इतना ही कहा कि द्रोण और धृष्टद्युम्न की लड़ाई पाँच दिन तक हुई। द्रोण लड़ते-लड़ते थक गये और धृष्टद्युम्न के हाथों मारे गये। द्रोण-वध का यही सत्य कारण प्रतीत होता है। इस प्रकार द्रोण-वध से सम्बन्धित लोक-प्रचलित कथा को असत्य ठहराकर भी बंकिम यही राग अलापते हैं कि इस कथा से यह सिद्ध होता है कि सत्य और असत्य दोनों ही ईश्वर-प्रेरित हैं।[१] ऐसे कथनों की समीक्षा हम पूर्व-अध्याय में विस्तारपूर्वक कर चुके हैं।

१. कृष्ण-चरित्र, पृ० ४४३

अध्याय ३३

अर्जुन का धर्म-संकट

द्रोण के मरने पर कर्ण कौरव-सेना का तृतीय सेनापति नियुक्त हुआ। उसके घनघोर युद्ध ने पाण्डव-सेना को आकुल-व्याकुल कर दिया। दुर्भाग्यवश उस दिन युधिष्ठिर ही उससे मोर्चा लेने गये थे। कर्ण ने जब युद्ध में उनके दाँत खट्टे कर दिये तो वे मैदान छोड़कर अपने शिविर में लौट आये।[1] इधर जब अर्जुन ने युधिष्ठिर को युद्ध-क्षेत्र में नहीं देखा तो वह घबराया और उसने भीमसेन से भी उनके बारे में पूछा, परन्तु कुछ पता नहीं चला। तब वह स्वयं महाराज युधिष्ठिर का पता लगाने अपने शिविर में आ गया।

युधिष्ठिर अपनी पराजय के कारण अत्यन्त दुःखी थे। वे तो यही सोच रहे थे कि अर्जुन तो निश्चय ही कर्ण को मारकर लौटेगा। अब जब उन्हें कृष्ण और अर्जुन के रण-क्षेत्र से लौट आने के समाचार मिले तो वे कर्ण-वध-विषयक बातों को सुनने के लिए बड़े उत्सुक हुए।[2] परन्तु इसी बीच उन्हें यह पता लग गया कि कर्ण अभी तक जीवित है और अर्जुन तो उनकी मात्र कुशल जानने के लिए ही आया है। अब उनके क्रोध का पारावार न रहा। उन्होंने अर्जुन को बहुत फटकारा और उसे कहा कि तू कुरु-वंश का कलंक है। अर्जुन की भर्त्सना करते हुए उनके मुँह से यहाँ तक निकल गया कि तुम अपना गाण्डीव धनुष किसी अन्य बलशाली राजा को सौंप दो क्योंकि रणांगण को छोड़कर आ जानेवाले कापुरुष के हाथों में यह शोभा नहीं देता।[3]

---

१. कर्णपर्व, अध्याय ४९

२. कर्णपर्व, अध्याय ६६

३. धनुश्च तत् केशवाय प्रयच्छ, यन्ता भविष्यस्त्वं रणे केशवस्य।
धिग्गाण्डीवं धिक् च ते बाहुवीर्यमसंख्येयान् बाणगणांश्च धिक् ते॥
धिक् ते केतुं केसरिणः सुतस्य कृशानुदत्तं च रथं च धिक् ते॥
(कर्णपर्व, अध्याय ६८।२६, ३०)

युधिष्ठिर के मुँह से अपना यह अपमान सुनकर अर्जुन आपे से बाहर हो गया। उसने तुरन्त अपनी तलवार म्यान से बाहर निकाल ली और अग्रज को मारने पर उतारू हो गया।[1] कृष्ण ने अर्जुन के इस क्रोधावेश को देखा और इसके परिणामस्वरूप होनेवाले भयंकर अकाण्ड ताण्डव का अनुमान लगाया तो उन्हें बड़ी चिन्ता हुई। उन्होंने उससे पूछा कि वह यह क्या कर रहा है?[2] अर्जुन ने उत्तर दिया कि यह तो मेरी प्रतिज्ञा है। जो कोई मुझसे कहेगा कि अपना गाण्डीव दूसरे को दे दो, मैं उसका सिर उतार लूँगा। आज युधिष्ठिर ने हमसे यही कहा है, हम इन्हें कदापि क्षमा नहीं करेंगे। आज महाराज का वध मेरे हाथ से होना निश्चित है।[3]

कृष्ण पहले तो अर्जुन की इस विचित्र प्रतिज्ञा को सुनकर चकराये, फिर उसे शांत करते हुए बोले, "तुम्हें इतना शीघ्र क्रोध आ गया, इससे जान पड़ता है तुमने वृद्धों की सेवा नहीं की[4]; तुम्हारे सिवा और कौन ऐसा बुरा काम करने के लिए तैयार होगा! तुम धर्म के सिद्धान्तों से अनभिज्ञ हो, अतः हमें मूर्ख के समान दिखायी पड़ते हो। तुम्हें यह नहीं जान पड़ता कि मनुष्य को मारना सबसे बड़ा पाप है। हमारी सम्मति में हिंसा ही सबसे बड़ा पाप है। मनुष्य चाहे मिथ्याभाषी हो जाय, परन्तु किसी की हत्या न करे।[5] सो तुम सब धर्मों को जानकर भी बड़े भाई युधिष्ठिर को मारने के लिए कैसे उद्यत हो गये? तुमने प्रतिज्ञा बाल्यावस्था में की थी। अतः, अब उसके पालन पर ज़ोर देना मूर्खता है। इससे ज्ञान होता है कि तुम धर्म की सूक्ष्म गति को नहीं जानते, अन्यथा गुरुतुल्य अग्रज को मारने के लिए क्यों दौड़ते?[6]

---

१. कर्णपर्व, अध्याय ६९।१; २. वही, ६९।२–८

३. अन्यस्मै देहि गाण्डीव इति मां योऽभिचोदयेत्।
भिन्द्यामहं तस्य शिर इत्युपांशु व्रतं मम।।
तदुक्तं मम चानेन राज्ञामित पराक्रम।
समक्षं तव गोविन्द न तत् क्षन्तुमिहोत्सहे।
तस्मादेनं वधिष्यामि राजानं धर्मभीरुकम्।। (६९।९–११)

४. इदानीं पार्थ जानामि न वृद्धाः सेवितास्त्वया।
काले न पुरुषव्याघ्र संरम्भं यद् भवानगात्।। (६९।१६)

५. प्राणिनामवधस्तात सर्वज्यायान् मतो मम।
अनृतां वा वदेद् वाचं न तु हिंस्यात् कथंचन।। (६९।२३)

६. वही, ६९।२८

"सत्य से बढ़कर कोई धर्म नहीं है, परन्तु सत्य के तत्त्व को जानना भी बड़ा कठिन है। कोई बात कहने से सत्य रहती है और कहीं न कहने से सत्य रहती है। इसके विपरीत कहने से झूठ हो जाती है। तुम धर्म और अधर्म का निश्चय किये बिना ही कर्म करते हो, इससे नरक में जाओगे। कोई महात्मा कहते हैं कि वेद धर्म का मूल है। कोई कहते हैं कि जो तर्क से सिद्ध हो वही धर्म है।[1] परन्तु हम कहते हैं कि धर्म को जानना बहुत कठिन है। हम ऊपर कहे किसी लक्षण का खण्डन नहीं करते हैं, परन्तु यह अवश्य कहते हैं कि मनुष्यों की उन्नति के लिए ही मुनियों ने समय के अनुसार धर्म के लक्षणों का निर्धारण किया है। हमारी बुद्धि में किसी की हिंसा न करना ही धर्म है। मुनियों ने हिंसकों को हिंसा से बचाने के लिए धर्म के अनेक वचन लिख दिए हैं। जो धारण किया जाय अथवा प्रजा जिसे धारण करे, वही धर्म कहलाता है। इसलिए जो वस्तु या गुण धारण करने योग्य हो वही धर्म ठहरा[2]...मैंने तुम्हारे कल्याण के लिए अपनी बुद्धि के अनुसार धर्म के ये लक्षण कहे हैं। क्या अब भी तुम्हारी इच्छा युधिष्ठिर को मारने की है?"[3] कृष्ण का यह उपदेश अर्जुन के गले तो उतरा, परन्तु उसे इस बात का खेद था कि वह अपनी प्रतिज्ञा पूरी न कर सका। कृष्ण ने अर्जुन को संतुष्ट करने का भी उपाय ढूँढ निकाला। उन्होंने कहा कि कर्ण से त्रस्त होकर ही महाराज ने तुम्हें ये कटु शब्द कहे हैं, अतः उन्हें मारना कदापि योग्य नहीं है। परन्तु एक रास्ता है जिससे साँप भी मरे और लाठी भी न टूटे। महाराज को मारने का कलंक भी तुम्हें नहीं लगेगा और तुम्हारी प्रतिज्ञा भी पूरी हो जायेगी। उत्तम पुरुष जब तक सम्मानपूर्वक जीवित रहे तभी तक उसका जीवन सार्थक है। जिसका निरादर हो गया उसे मृत ही समझना चाहिये।[4] इस

१. दुष्करं परमं ज्ञानं तर्केणानुव्यवस्यति।
श्रुतेर्धर्म इति ह्येके वदन्ति बहवो जनाः॥ (६९।५५)

२. यत् स्यादहिंसासंयुक्तं स धर्म इति निश्चयः।
अहिंसार्थाय भूतानां धर्मं प्रवचनं कृतम्॥
धारणाद् धर्ममित्याहुर्धर्मो धारयते प्रजाः।
यत् स्याद् धारण संयुक्तं स धर्म इति निश्चयः॥ (६९।५७,५८)

३. वही, ६९।६६

४. यदा मानं लभते माननार्हस्तदा स वै जीवति जीवलोके।
[illegible]

नियम के अनुसार तुमने जो कटु शब्द महाराज के प्रति कहे हैं, उनसे इनका स्वतः ही मरण हो गया। और भी इनको जो कुछ कहना चाहते हो कह लो। तुम इन्हें 'आप' के स्थान पर 'तुम' कहकर पुकार लो, बस, इतने से ही इनकी अपमान-जन्य मृत्यु हो जायेगी।[1]

अर्जुन को यह बात विचित्र प्रतीत हुई। उसने जी भरकर युधिष्ठिर की बुराई की और उसे कोसा, परन्तु तुरन्त घबराकर और अप्रतिभ होकर चुप हो गया।[2] उसे अपने बड़े भाई को बुरा-भला कहने का अत्यन्त खेद हुआ और इसका प्रायश्चित्त करने के लिए उसने म्यान से अपनी तलवार निकाली और आत्महत्या के लिए उतारू हो गया। कृष्ण विचित्र स्थिति में पड़े; अर्जुन से फिर पूछा—भाई! अब यह क्या करने जा रहे हो? अर्जुन ने उत्तर दिया—"मैंने धर्मराज को दुर्वाक्य कहकर उनका अपमान किया, यह बड़ा भारी पाप हुआ है। इसके प्रायश्चित्त-रूप मैं अपनी हत्या कर रहा हूँ।"[3] इस पसोपेश की हालत को कैसे दूर किया जाय, कृष्ण को इसका तुरन्त एक उपाय सूझ गया। उन्होंने अर्जुन से कहा कि यदि तुम इसे अपराध समझते हो और स्वयं को दण्ड देना चाहते हो तो आत्मप्रशंसा कर लो, क्योंकि स्व-मुख से अपनी प्रशंसा करना सज्जनों के लिए मृत्यु-तुल्य है।[4] कृष्ण का यह उपाय भी अर्जुन को अनुकूल जान पड़ा, उसने जी खोलकर आत्म-श्लाघा कर ली।[5] इस प्रकार कृष्ण दोनों भाइयों के छोटे बालकों की तरह रूठने और मनने-मनाने का अभिनय देखते रहे। अर्जुन को पश्चात्ताप करते देखकर युधिष्ठिर भी पिघल गये और आत्म-निन्दा करते हुए कहने लगे कि मैं स्वयं ही राजा बनने के अयोग्य हूँ। तुम लोग मेरे स्थान पर भीमसेन को राजा बनाओ, मुझे मार डालो अथवा मैं ही संन्यासी बनकर वन में चला जाऊँगा।[6] यह एक और नयी आफ़त आयी। युधिष्ठिर को जब वैराग्य का भूत सताने लगता था तो वह सबसे भयंकर होता था। कृष्ण ने उन्हें पुनः समझाया और दोनों भाइयों के हृदय में जो पारस्परिक वैमनस्य और ग्लानि के भाव आ गये थे, उन्हें अपनी विनम्रता तथा सौजन्यपूर्ण व्यवहार से दूर किया।

---

१. कर्णपर्व, अध्याय ६९।८२,८३; १. वही, अध्याय ७०।२–२१

३. अहं हनिष्ये स्वशरीरमेव प्रसह्य येनाहितमाचरं वै ॥ (७०।२५)

४. ब्रवीहि वाचाद्य गुणानिहात्मनस्तथा हतात्मा भवितासि पार्थ ॥ (७०।२९)

५. वही, ७०।३०–३५; ६. कर्णपर्व, अध्याय ७०।४४।४७

अध्याय ३४

कर्ण-वध

कर्ण और अर्जुन दोनों ही टक्कर के योद्धा थे। दोनों ने एक-दूसरे को मारने की प्रतिज्ञा कर रक्खी थी। कुन्ती ने एक बार कर्ण को उसके जन्म का वृत्तान्त बताकर उसे पाण्डव-पक्ष में सम्मिलित होने का आग्रह किया था। परन्तु जब उसने उसकी प्रार्थना को अस्वीकार कर दिया, तब यह जानकर कि कर्ण अपूर्व योद्धा है और यह सोचकर कि यह मेरे पुत्रों को मार डालेगा, उसने उससे पाँचों पुत्रों के प्राणों की भिक्षा माँगी। इसपर कर्ण ने उसे यह आश्वासन दिया कि वह अर्जुन को छोड़कर अन्य किसी पाण्डव को नहीं मारेगा। अर्जुन के साथ युद्ध करने में या तो वह खुद मारा जायगा अथवा वह अर्जुन को मार डालेगा। प्रत्येक अवस्था में कुन्ती के पाँच पुत्र रहेंगे, या तो कर्ण को मिलाकर और अर्जुन को छोड़कर पाँच, या कर्ण के अतिरिक्त पाँच।

समय आने पर अर्जुन और कर्ण का घोर युद्ध हुआ। उसका विस्तृत वर्णन करने का प्रसंग और अवकाश यहाँ नहीं है। केवल युद्ध के अत्यन्त महत्त्वपूर्ण भाग का ही विश्लेषण किया जायेगा। युद्ध के आखिरी दौर में कर्ण के रथ का पहिया पृथिवी में धँस गया। अब कर्ण रथ से नीचे उतरा और हाथ के बल से पहिये को बाहर निकालने लगा। इस समय अर्जुन ने कर्ण को मारने का अच्छा अवसर देखा और उसने धनुष पर बाण चढ़ाया ताकि कर्ण को समाप्त कर दे, परन्तु कर्ण ने उसे तबतक ठहरने के लिए कहा जबतक कि उसका पहिया न निकल जाय। अर्जुन ने कर्ण का यह आग्रह स्वीकार भी कर लिया, परन्तु अर्जुन से बाण न चलाने की प्रार्थना करते समय कर्ण ने यह कहा कि इस समय मुझे अवसर देना तुम्हारा धर्म है। उसके वास्तविक शब्द ये थे—"प्रारब्ध से ही पृथिवी में मेरे रथ का पहिया धँस गया, अतः जबतक मैं पहिये को न निकाल लूँ तबतक बाण न छोड़ो। इस

समय बाण चलाना तुम्हारी कायरता होगी। तुम जग-प्रसिद्ध महावीर हो, अतः ऐसा नपुंसक कर्म मत करो !"[1]

अधर्मी कर्ण के मुँह से कृष्ण ने जब धर्म की यह दुहाई सुनी, तो उनसे नहीं रहा गया। उन्होंने रथ में बैठे-ही-बैठे कर्ण से कहा—"हे राधा-पुत्र ! तुमने आज प्रारब्ध से ही धर्म का स्मरण किया है। तुम्हारे समान नीच मनुष्य आपत्ति में ही प्रारब्ध की निंदा और धर्म का स्मरण करते हैं।[2] कर्ण, जिस समय शकुनि ने एक वस्त्रवाली द्रौपदी को सभा में बुलाया था, तब तुमने धर्म नहीं समझा था।[3] जब जुआ न जानने-वाले महाराज को शकुनि ने दुष्टता से सभा में जीता था, तब तुम्हारा धर्म कहाँ गया था ?[4] हे कर्ण, जब १३ वर्ष वनवास में रहकर पाण्डव आये, तब भी तुमने उनको राज्य नहीं दिया, तब तुम्हारा धर्म कहाँ रहा ? जब तुम्हारी सम्मति से दुर्योधन ने भीमसेन को विष खिलाकर नदी में डाल दिया था, तब तुम्हारा धर्म कहाँ गया ? हे राधा-पुत्र ! जब वारणावत नगर में लाक्षागृह में तुमने सोते हुए पाण्डवों को जलाया था, तब तुम्हारा धर्म कहाँ चला गया था ? हे कर्ण, जब दुःशासन से पकड़ी हुई द्रौपदी को देखकर तुम हँसे थे, तब तुम्हारा धर्म कहाँ चला गया था ? हे राधा-पुत्र ! जब सभा में रोती हुई द्रौपदी को देखकर सब दुष्ट हँस रहे थे, और तुमने उनका कुछ भी विरोध नहीं किया था, तब तुम्हारा धर्म कहाँ गया था ? जब तुमने द्रौपदी से कहा था कि हे गज-गामिनी ! पाण्डव नष्ट हो गये हैं, इन्हें घोर दुःख भोगना पड़ेगा, तुम दूसरा पति कर लो, तब तुम्हारा धर्म कहाँ गया था ? हे कर्ण ! जब राज्य के लोभ से पाण्डवों के संग तुमने युद्ध करना विचारा था और

---

१. कर्णपर्व, ९०।१०८–११६

२. तमब्रवीद् वासुदेवो रथस्थो
राधेय दिष्ट्या स्मरसीह धर्मम्।
प्रायेण नीचा व्यसनेषु मग्ना
निन्दन्ति दैवं कुकृतं न तु स्वम्॥

३. यद् द्रौपदीमेकवस्त्रां सभाया-
मानाययेस्त्वं च सुयोधनश्च।
दुःशासनः शकुनिः सौबलश्च
न ते कर्ण प्रत्यभात्तत्र धर्मः॥ (९१।२)

४. यदा सभायां राजानमनक्षज्ञं युधिष्ठिरम्।
अजैषीच्छकुनिर्ज्ञानात् क्व ते धर्मस्तदा गतः॥ (९१।३)

शकुनि के आश्रय से जुआ खेला था, तब तुम्हारा धर्म कहाँ गया था ? जब तुमने अनेक वीरों से मिलकर बालक अभिमन्यु को मारा था, तब तुम्हारा धर्म कहाँ गया था ? उन सबों में धर्म नहीं था, अब इस समय धर्म है ! अब अधिक बोलने से मुँह सूखने के सिवा कोई लाभ नहीं है। हे सूत-पुत्र ! अब हमारे पास आकर धर्म सुन ! कुछ भी यत्न कर, जीता न बचेगा। जैसे राजा नल अपने भाई पुष्कर से जुए में हारकर फिर राज्य और यश को प्राप्त हुए थे, ऐसे ही पाञ्चाली-सहित पाण्डव भी अपने बाहुबल से शत्रुओं का नाश कर राज्य करेंगे।"[१]

कृष्ण के इन मन्युयुक्त वचनों को सुनकर कर्ण का सिर लज्जानत हो गया। पुनः धनुष उठाकर अर्जुन से युद्ध करने लगा और लड़ते-लड़ते मारा गया।

१. कर्णपर्व, अध्याय ९१।५–१४

अध्याय ३५

दुर्योधन-वध

कर्ण के पश्चात् मद्रराज शल्य कौरव-सेना का सेनापति बना। वह महाराज युधिष्ठिर के हाथों मारा गया।[1] अब कौरव-पक्ष लगभग समाप्त हो चुका था, केवल अश्वत्थामा, कृपाचार्य, कृतवर्मा और स्वयं दुर्योधन, चार व्यक्ति ही बचे। दुर्योधन मृत्यु के भय से एक तालाब में छिप गया।[2] पाण्डवों ने उसे ढूँढ निकाला और युद्ध के लिए ललकारा। दुर्योधन ने कहा कि वह तो युद्ध से थककर विश्राम के लिए ही यहाँ बैठा है। युधिष्ठिर ने पहले तो दुर्योधन को बहुत बुरा-भला कहा परन्तु अन्त में उसके यह कहने पर कि वह अकेला इतने महारथियों का सामना कैसे कर सकता है, उसने दुर्योधन को यह छूट दी कि वह मनचाहा शस्त्र लेकर पाँचों पाण्डवों में से किसी एक के साथ युद्ध करे। यदि वह इस युद्ध में जीत गया तो वही राज्य का स्वामी होगा, अन्यथा मरकर वीर-गति प्राप्त करेगा।[3]

युधिष्ठिर की इस उदारतापूर्ण मूर्खता से दुर्योधन को मनचाही बात मिल गई। वह तुरन्त गदा लेकर बाहर निकला और गदा-युद्ध के लिए पाण्डवों को ललकारने लगा। श्री कृष्ण को युधिष्ठिर की यह वज्र-मूर्खता बहुत बुरी लगी और उन्होंने उसे फटकारते हुए कहा कि हम में से भीमसेन के अतिरिक्त कोई नहीं है जो गदा-युद्ध में दुर्योधन को जीत सके। तुमने यह वचन देकर कि चाहे जिस पाण्डव से युद्ध कर लो, एक महान् भूल की है। यह तो एक दूसरा जुआ ही हो गया। दुर्योधन बड़ा चालाक और धूर्त है। गदा-युद्ध में उसे जीतना पाण्डवों के लिए शक्य नहीं है। अन्त में महाराज ने क्रोधाविष्ट होकर यहाँ तक

१. शल्यपर्व, अध्याय १७

२. वही, अध्याय २९

३. वही, अध्याय ३२।६१,६२

कह दिया कि पाण्डु और कुन्ती की सन्तान भीख माँगने और वन में फिरने के लिए ही उत्पन्न हुई है, राज्य भोगने के लिए नहीं, यह हमें आज निश्चय हो गया।[१]

भीम ने कृष्ण और युधिष्ठिर को, युद्ध में दुर्योधन को परास्त करने का आश्वासन दिया और उससे भिड़ गया। इसी समय बलराम भी आ गये। भीम और दुर्योधन दोनों ही गदा-युद्ध में बलराम के शिष्य थे, परन्तु उनका अधिक स्नेह दुर्योधन पर ही था। युद्ध कई दिन तक चलता रहा, परन्तु किसी की भी जय या पराजय के आसार दिखाई नहीं दिये। दोनों वीर बल में तुल्य थे।[२]

यहाँ 'महाभारत' में प्रक्षेप करनेवालों की लेखनी ने फिर ज़ोर मारा है। अर्जुन कृष्ण से पूछते हैं कि इन दोनों में से कौन श्रेष्ठ है?[३] कृष्ण उत्तर देते हैं—"इन दोनों की विद्या तो समान ही है, परन्तु बल में भीमसेन अधिक है। दुर्योधन सावधान और चतुर है, इसलिये भीम धर्म-युद्ध से इसे नहीं मार सकेंगे, परन्तु यदि अन्याय से युद्ध करें तो अवश्य विजयी हो सकेंगे। अब यदि भीमसेन अन्याय से युद्ध नहीं करेंगे तो दुर्योधन अवश्य पुनः राजा हो जायगा।"[४] श्री कृष्ण ने अर्जुन को भीम की उस प्रतिज्ञा का भी स्मरण दिलाया जो द्रौपदी के अपमान के समय उसने दुर्योधन की जंघाओं को तोड़ने के सम्बन्ध में की थी। इस कथन से कृष्ण का गूढ़ अभिप्राय समझकर अर्जुन ने भीम को इशारा करते हुए अपनी जंघा पर हाथ मारा। इस इशारे से भीमसेन समझ गये और उसने वेग से दुर्योधन की जंघा पर प्रहार किया, जिससे वह गिर गया।[५]

भीम ने दुर्योधन को अन्यायपूर्वक गिराकर ही संतोष नहीं किया, वह भूमि पर गिरे हुए दुर्योधन के सिर को लातों से मारने लगा।[६]

---

१. नूनं न राज्यभागेषा पाण्डोः कुन्त्याश्च संततिः।
अत्यन्त वनवासाय सृष्टा भैक्ष्याय वा पुनः॥ (शल्यपर्व, अध्याय ३३।१७)

२. शल्यपर्व, अध्याय ३४, अ० ५७

३. अनयोर्वीरयोर्युद्धे को ज्यायान् भवतो मतः।
कस्य वा को गुणो भूयानेतद् वद जनार्दन॥ (शल्यपर्व, ५८।२)

४. वही, ५८।३,४

५. वही, ५८।४८

६. वही, ५९।६

युधिष्ठिर ने ऐसा करने से उसे रोका और दुर्योधन की सम्भावित दुःखद मृत्यु पर शोक प्रकट करने लगा। इधर दुर्योधन को अन्याय से मारा जानकर बलराम बड़े क्रोधित हुए और भीम को उसके इस कुकृत्य के लिए धिक्कारने लगे। वे अपने प्रिय शिष्य की मृत्यु का बदला लेने के लिए भी उद्यत हुए और भीम को मारने के लिए दौड़े, परन्तु श्री कृष्ण ने बीच-बचाव करके उन्हें शान्त किया। वे पुनः द्वारिका लौट गये।

दुर्योधन को मरा जानकर पाण्डवों के हर्ष की सीमा न रही। उन्होंने ख़ूब आनन्दोत्सव मनाया और भीम को उसके इस कृत्य के लिए साधुवाद दिया। वे भूमि पर गिरे हुए दुर्योधन को भी बुरा-भला कहने लगे और उसे जली-कटी सुनाकर अपने मन का ग़ुबार निकालने लगे। कृष्ण-जैसे आदर्श पुरुष को भीम का यह कृत्य उचित नहीं जान पड़ा कि युद्ध में पतित शत्रु को कटु वाक्य कहकर जलाया जाये। कृष्ण ने कहा—"मरे हुए शत्रु को वचनों से मारना उचित नहीं। यह पापी तो उसी समय मारा गया था जब इसने लज्जा छोड़ दी। अब इस मूर्ख को कठोर वचन सुनाने से क्या लाभ?"[1] अब क्षेपककारों की लीला देखिये! इनकी कृपा से जिन कृष्ण ने भीम के कृत्य की निंदा की, वह स्वयं ही दुर्योधन को बुरा-भला कहता है—"इस लोभी के सब पापी ही सहायक थे। यह मित्रों के वचन नहीं मानता था। कृप, द्रोण, विदुर, भीष्म आदि के अनेक बार समझाने पर भी इस नीच ने पाण्डवों को उनके पिता का राज्य नहीं दिया" आदि।

श्री कृष्ण की इन बातों को सुनकर दुर्योधन ने जो उत्तर दिया वह और भी आश्चर्य में डालनेवाला है, क्योंकि उससे कृष्ण-चरित का लांछित होना स्वाभाविक है। उसकी तो सभी बातें यथार्थता के प्रतिकूल हैं। वह अभी मरा नहीं था, इसलिये कृष्ण को सुनाकर कहने लगा—"अरे कंस के दास के दास! दुर्बुद्धि, पापी कृष्ण! तुझे कुछ भी लज्जा और घृणा नहीं है। तुमने ही भीमसेन को इशारा कर मेरी जंघा तुड़वाई, तुम्हारी प्रेरणा से ही हज़ारों राजाओं को धर्मयुद्ध करते हुए मारा। तुमने ही शिखण्डी को आगे कर पितामह को मरवाया।

---

१. न न्याय्यं निहतं शत्रुं भूयो हन्तुं नराधिपाः।
असकृद् वाग्भिरुग्राभिर्निहितो ह्येष मन्दधीः।
तदैवैष हतः पापो यदैव निरपत्रपः॥ (शल्यपर्व, ६१।१८,१९)

अश्वत्थामा के बहाने आचार्य के हथियार रखवा लिये और जब धृष्टद्युम्न ने उनको मार डाला तो तू कुछ नहीं बोला। तूने ही अर्जुन को मारने के लिए जो शक्ति कर्ण ने रख छोड़ी थी वह घटोत्कच पर चलवा दी। तुमने ही रथ का पहिया उठाते कर्ण को मरवाया। तेरी ही सम्मति से भूरिश्रवा मारा गया। यदि तू यह अधर्म नहीं करता तो पाण्डव कभी विजयी न होते।"[1]

दुर्योधन के इस मिथ्यालाप पर टिप्पणी करने की आवश्यकता नहीं क्योंकि विगत अध्यायों में महाभारतीय युद्ध के आलोचनात्मक वर्णन को पढ़ने के पश्चात् दुर्योधन के इन आरोपों में किसी को सत्यता नहीं मिलेगी, अतः यह सारा प्रलाप क्षेपककर्त्ताओं की करतूत है। कृष्ण-चरित को कलंकित करनेवाले ऐसे मिथ्या आरोप 'महाभारत' में और कहीं नहीं हैं, शिशुपाल की गालियों में भी नहीं।

श्री कृष्ण ने दुर्योधन की इन गालियों का जो क्षुद्रतापूर्ण उत्तर दिया वह और भी भयंकर है। कारण यह है कि कृष्ण की गंभीरता और क्षमाशीलता के कई प्रसंग आ चुके हैं। शिशुपाल की नीचतापूर्ण गालियों को भी उन्होंने भरी सभा में सहन कर लिया था। ऐसे क्षमा के साक्षात् अवतार कृष्ण दुर्योधन की नीचतापूर्ण बातों का उसी निम्न स्तर पर उतरकर उत्तर देंगे, इसपर सहसा विश्वास नहीं होता। कृष्ण का दुर्योधन को बुरा-भला कहना और भी अस्वाभाविक जान पड़ता है जबकि हम देखते हैं कि वह रणभूमि में पड़ा अन्तिम श्वास ले रहा है और मृत्यु की प्रतीक्षा कर रहा है। अस्तु, प्रक्षेप करनेवाले जो कुछ लिखें उनके लिए सब संभव है। उन्होंने कृष्ण के मुँह से दुर्योधन को भरपेट गालियाँ दिलवाईं और अन्त में यहाँ तक कहला दिया कि अब अपने किये का फल भोगो।[2]

अब दुर्योधन के बोलने की बारी आयी। उसने कहा—"हे कृष्ण! हमने विधिपूर्वक वेद पढ़े, समुद्र-पर्यन्त पृथिवी का राज्य किया, शत्रुओं के सिर पर पैर दिया, हमारे समान महात्मा कौन होगा? महात्मा क्षत्रिय जिस प्रकार युद्ध में मरने की इच्छा करते हैं, उसी प्रकार हम मरे। देवताओं के भोग्य भोगों को हमने भोगा। अब हम

१. शल्यपर्व, अध्याय ६१।२७–३८

२. वही, अध्याय ६१।३९–४९

अपने मित्रो और भाइयों से स्वर्ग में जाकर मिलेंगे, तुम लोग शोक से व्याकुल होकर जगत् में रह जाओगे।[1] दुर्योधन का यह कथन भी विशेष आश्चर्यजनक नहीं है क्योंकि जो सर्वस्व हार चुका है वह घोर निराशा की स्थिति में यही कहेगा कि बाज़ी मैंने ही जीती है। उसका ऐसा कहना मानव-मनोविज्ञान के विरुद्ध भी नहीं होता। दुर्योधन-जैसे अहंकारी के लिए तो यह और भी संभव था। परन्तु घोर आश्चर्य तो तब होता है जब हम 'महाभारत' में आगे पढ़ते हैं कि दुर्योधन के अपना कथन समाप्त करते ही आकाश से पुष्प-वृष्टि होने लगी। गंधर्व व अप्सराएँ दुर्योधन का यशोगान करने लगे। दुर्योधन की इस यशगाथा को सुनकर कृष्ण और पाण्डव सभी लज्जित हो गये। भीष्म, द्रोण, कर्ण और भूरिश्रवा को अधर्म से मरा सुनकर सब लोग शोक से व्याकुल हो सोच करने लगे।[2]

प्रक्षेपकारों ने यहाँ जो यह अप्रासंगिक चर्चा छेड़ी है उसपर बंकिम की टिप्पणी पठनीय है—"पापियों में जो सबसे अधम समझा गया है, उसके लिए यह साधुवाद और जो धर्मात्माओं में श्रेष्ठ समझे गये हैं वे अपने पापों के लिए लज्जित हैं, 'महाभारत' में यह अनोखी बात है। सिद्ध, अप्सराएँ, गन्धर्व सब मिलकर कहते हैं कि दुरात्मा दुर्योधन धर्मात्मा है और कृष्ण-पाण्डवादि महापापात्मा हैं; यह बड़ी विचित्र बात है क्योंकि इसका मेल 'महाभारत' से कुछ भी नहीं है। सिद्ध और गंधर्वादि तो दूर रहे, यदि कोई मनुष्य भी इस तरह प्रशंसा करे तो आश्चर्य होगा। क्योंकि, दुर्योधन का अधर्म और कृष्ण तथा पाण्डवों का धर्माचरण वर्णन करना ही 'महाभारत' का उद्देश्य है। इसपर तुर्रा यह है कि जब दुर्योधन से उन्होंने सुना कि भीष्म, द्रोण, कर्ण और भूरिश्रवा अधर्म से मारे गये हैं तो वे लोग शोक करने लगे। अब-तक मानो वे लोग कुछ जानते ही नहीं थे! परमशत्रु के कहने से भलेमानस की तरह शोक दिखलाने लगे! वे लोग जानते थे कि हम लोगों ने भीष्म या कर्ण को अधर्म से नहीं मारा है, पर जब परमशत्रु दुर्योधन कह रहा है कि तुमने उन्हें अधर्म से मारा है तब भला वे विश्वास क्यों न करते! वे जानते थे कि हम लोगों में से किसी ने

१. शल्यपर्व, अध्याय ६१।५०–५३
२. वही, अध्याय ६१।५४–५६

भूरिश्रवा को नहीं मारा है, सात्यकि ने मारा है, बल्कि सात्यकि को श्री कृष्ण, अर्जुन व भीम ने रोका भी था। पर जब परमशत्रु दुर्योधन कहता है कि तुमने ही मारा है और तुमने ही अधर्म किया है तब बेचारे पाण्डवों को लाचार हो अपना दोष मानना व अपने किये पर पछताना पड़ा।"[1]

बंकिम ने इस आलोचना का इन शब्दों में उपसंहार किया है—"पाठको! आप ही बतलाइए, भला ऐसी ऊटपटाँग बातों की मैं क्या आलोचना करूँ? पर इस अभागे देश के लोगों का विश्वास है कि पुस्तकों में जो कुछ लिखा है वह ऋषिवाक्य है और शिरोधार्य है, इसलिए लाचार होकर मुझे यह भी झख मारना पड़ा।"[2]

प्रक्षेपकारों ने इतना लिखकर ही विश्राम नहीं लिया। उन्होंने आगे भी अपना क़लम-कुठार चलाया। अब उन्होंने लिखा—कृष्ण एक क्षण के लिए तो लज्जित हुए, किन्तु पुनः अपनी बुरी करतूतों की निर्लज्जतापूर्वक प्रशंसा पाण्डवों के समक्ष करने लगे—"केवल धर्मयुद्ध से आप लोग भी भीष्मादिक वीरों को नहीं मार सकते थे। मैंने यह सब छल-कपट आपके कल्याण के लिए ही किया है और उसीसे ये सब भीष्मादिक युद्ध में मारे गये। यदि मैं ऐसा छल नहीं करता तो क्योंकर तुम्हारी विजय होती! भीष्म, द्रोण, कर्ण, भूरिश्रवा, ये चारों महारथी और महात्मा थे। धर्मयुद्ध में इनको साक्षात् लोकपाल भी नहीं जीत सकते थे और गदाधारी दुर्योधन को गदा-युद्ध में साक्षात् यमराज भी नहीं मार सकते थे। आप लोग उसका कुछ भी विचार न करें।"[3] जैसाकि बंकिम ने ठीक ही कहा है, इस प्रकार के व्यर्थ और बे-सिर-पैर की आलोचना निरर्थक ही है। जब यह सिद्ध हो गया कि सम्पूर्ण भारत-युद्ध में कृष्ण ने कोई अधर्म का कार्य नहीं किया, तो फिर क्षेपककारों के इसके विपरीत कहने से कुछ लाभ नहीं। बंकिम के मतानुसार यह कृष्ण-द्वेषी तीसरी तह के कवियों की करतूत है।[4]

१. कृष्ण-चरित्र, पृ० ४७९-४८०
२. वही, पृ० ४००
३. शल्यपर्व, अध्याय ६१। ६१—६७
४. कृष्ण-चरित्र, पृ० ४८१

अध्याय ३६

युद्ध की समाप्ति

दुर्योधन को वहीं युद्ध-भूमि में आहत-अवस्था में छोड़कर पाण्डव अपने शिविर में लौट आये। कृष्ण ने पहले अर्जुन को रथ से उतरने के लिए कहा और उसके उतरने के पश्चात् स्वयं उतरे। लिखा है कि उनके उतरते ही वह जलकर राख हो गया।[1] इस घटना से आश्चर्य-युक्त होकर जब अर्जुन ने पूछा तो कृष्ण ने कहा कि यह रथ तो कर्ण, द्रोणाचार्य आदि के ब्रह्मास्त्रों से पहले ही जल चुका था, परन्तु मैं बैठा था, इसलिए उसका प्रभाव दिखायी नहीं दिया, अब मेरे उतरते ही इसकी यह गति हो गयी है।[2] यह कथा स्पष्ट ही अलौकिक है। बंकिम ने इसे दूसरी या तीसरी तह की रचना माना है।[3]

युधिष्ठिर को पतिव्रता गांधारी का बहुत भय था कि कहीं वह अपने पुत्रों की दुःखद मृत्यु का समाचार सुनकर पाण्डवों को शाप न दे दे। इसलिए उन्होंने कृष्ण को हस्तिनापुर भेजा ताकि वे उसे समझाएँ और सान्त्वना दें। तदनुकूल ही कृष्ण हस्तिनापुर गये और उन्होंने सारी परिस्थिति से धृतराष्ट्र और गांधारी को अवगत कराया। कृष्ण और गांधारी की विस्तृत भेंट का वर्णन 'शल्य-पर्व' के अन्तर्गत आता है।[4] इधर युद्ध-क्षेत्र में आहत दुर्योधन अश्वत्थामा को कौरव-सेनापति बनाते हैं। उस समय अश्वत्थामा, कृपाचार्य और कृतवर्मा कौरव-पक्ष के ये तीन योद्धा ही शेष रहे थे।[5] यहीं शल्य-पर्व समाप्त होता है।

शल्य-पर्व के आगे सौप्तिक-पर्व है। इसमें अश्वत्थामा द्वारा द्रौपदी के पाँचों पुत्रों, शिखण्डी और धृष्टद्युम्न आदि पाञ्चालों के वध का क्रूर

१. शल्यपर्व, अध्याय ६२।१३
२. वही, अध्याय ६२।१८,१९
३. कृष्ण-चरित्र, पृ० ४८३
४. शल्यपर्व, अध्याय ६३
५. वही, अध्याय ६५

दृश्य है ।[1] अब पाण्डवों के पक्ष में भी पाँच भाइयों और कृष्ण तथा सात्यकि के अतिरिक्त और कोई नहीं बचा । अश्वत्थामा द्वारा किये गये इस पाशविक हत्याकाण्ड का बदला लेने के लिए अर्जुन उसका पीछा करता है । अश्वत्थामा द्वारा छोड़े गये ब्रह्मशिरास्त्र से उत्तरा के गर्भ नष्ट होने की कथा भी इसी पर्व में है । यह भी लिखा है कि कृष्ण ने मृत परीक्षित को बचाया ।[2]

स्त्री-पर्व में मृत वीर पुरुषों की विधवा स्त्रियों के विलाप और रुदन का वर्णन है । श्री कृष्ण के विषय में केवल दो घटनाएँ इस पर्व में हैं—(१) धृतराष्ट्र ने सोचा कि मैं भीमसेन का आलिंगन करते समय उसे पीस डालूँगा; कृष्ण उसके इस विचार को समझ गये । उन्होंने पूर्व से तैयार की गयी भीम की लोहे की मूर्ति को धृतराष्ट्र के समक्ष रख दिया । अन्धे धृतराष्ट्र ने अपनी भुजाओं के बल से उसे भीम समझकर चूर-चूर कर दिया । (२) गांधारी ने कृष्ण के समक्ष बहुत विलाप किया और अन्त में अपने पुत्रों के मरने का दायित्व कृष्ण पर ही डालते हुए उन्हें शाप दे डाला—जब कौरव और पाण्डव दोनों परस्पर लड़कर नष्ट हो रहे थे तब तुमने उन्हें क्यों नहीं रोका ? सब प्रकार से बलवान् होते हुए भी कौरवों का नाश देखते रहे, इसलिए इस कर्म का फल भोगो । मैंने जो अपने पति की सेवा से तप संचित किया है, उसके बल से तुम्हें शाप देती हूँ कि जिस प्रकार तुमने कौरवों और पाण्डवों का नाश किया है, उसी प्रकार अपनी जाति का भी नाश करोगे और स्वयं भी मारे जाओगे ।[3] गांधारी से यह शाप दिलाकर 'महाभारत' के इस भाग के लेखक ने मौसल पर्व की भूमिका पहले से ही तैयार कर ली । बेचारी गांधारी को यह पता नहीं था कि कृष्ण ने युद्ध रुकवाने के लिए क्या-क्या उपाय किये थे । वह तो प्रक्षेपकारों के मुँह से बोल रही है । इसमें उसका क्या वश है ?

---

१. सौप्तिकपर्व, अ० ८
२. वही, अ० १६
३. स्त्रीपर्व, अध्याय २५

अध्याय ३७

युधिष्ठिर का राज्याभिषेक

स्वजनों के वध से युधिष्ठिर पुनः दुःखी हुआ और वैरागी बनकर जंगल में जाकर रहने और भीख माँगकर खाने की बात करने लगा।[१] इससे उसके विचारों की अस्थिरता और अनिश्चयात्मक बुद्धि का पता लगता है। वह अपरिपक्व मस्तिष्क का था। अर्जुन[२], भीम[३], द्रौपदी[४], नारद, व्यास[५] आदि ने उसे समझाया, परन्तु वह नहीं माना। अन्त में अर्जुन के कहने से कृष्ण ने उसे उपदेश दिया। उनके बहुत समझाने के अनन्तर वह किसी तरह राजा बनने के लिए तैयार हुआ।[६]

राज्याभिषेक का दिन निश्चित होने पर युधिष्ठिर ने धूमधाम से हस्तिनापुर में प्रवेश किया।[७] राज्याभिषेक के प्रबन्ध में भी कृष्ण का बड़ा भारी हाथ था। किसी भी प्रकार यह महत् कार्य समाप्त हुआ और कृष्ण के उस स्वप्न की पूर्ति हुई जिसे उन्होंने चक्रवर्ती आर्य महासाम्राज्य के रूप में देखा था। धर्मात्मा अजातशत्रु युधिष्ठिर सम्राट् के पद पर अभिषिक्त हुए। इस प्रसंग में युधिष्ठिर से कृष्ण की स्तुति करवायी गयी है। उससे पूर्व युधिष्ठिर ने कभी कृष्ण की स्तुति नहीं की, क्योंकि वे आयु में उनसे बड़े थे। परन्तु इस स्थिति में युधिष्ठिर कृष्ण को ईश्वर मानकर उनका गुणानुवाद करते हैं।[८] हमारे विचार से यह 'महाभारत' का मौलिक अंश नहीं है।

इधर रण-क्षेत्र में शरशय्याशायी भीष्म सूर्य के उत्तरायण होने की प्रतीक्षा कर रहे थे, ताकि वे अपने प्राणों का त्याग करें। कृष्ण ने युधिष्ठिर से कहा कि नर-शार्दूल भीष्म जब अपने कर्म के प्रभाव से

१. शान्तिपर्व, अध्याय ७
२. वही, अध्याय ८
३. वही, अ० १०
४. वही, अ० १४
५. वही, अ० २३
६. वही, अ० २६
७. वही, अ० ३७
८. वही, अ० ४३

शरीर को त्यागकर स्वर्गलोक में जायेंगे तो यह पृथिवी चन्द्रविहीन रात्रि के तुल्य अशोभनकारी हो जायगी। अतः आप महापराक्रमी पितामह के समीप उपस्थित होकर धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष, यज्ञ, वर्णाश्रम-धर्म, राज-धर्म आदि विषयों पर जो कुछ पृष्टव्य हो वह उनसे पूछ लीजिये।[१] भीष्म के परलोक-गमन के पश्चात् इन विद्याओं का इतना श्रेष्ठ वक्ता आपको और कहीं नहीं मिलेगा।

कृष्ण के इस परामर्श को शिरोधार्य कर महाराज युधिष्ठिर उनके साथ ही कुरुक्षेत्र के उस स्थान पर गये जहाँ पितामह की जीर्ण-शीर्ण काया शर-शय्या पर पड़ी थी। वहाँ पहुँचकर कृष्ण ने भीष्म के शरीर की दशा का ज्ञान प्राप्त किया और बहुत प्रकार से उनकी प्रशंसा करने के अनन्तर युधिष्ठिर को राजधर्म की विशेषरूप से, तथा अन्य धर्मों की सामान्यरूप से शिक्षा देने की प्रार्थना की। युधिष्ठिर ने भी पितामह की स्तुति की तथा उनसे उपदेश देने की प्रार्थना की।

कृष्ण और युधिष्ठिर के आग्रह के उत्तर में भीष्म ने कहा कि इस समय भयंकर शारीरिक क्लेशों से पीड़ित होने के कारण मैं कुछ भी कहने में असमर्थ हूँ और आप-जैसे सर्वविद्या-निधान महापुरुष की उपस्थिति में मेरा कुछ कहना भी अविनय के तुल्य ही है। इसलिए आप स्वयं ही युधिष्ठिर को उपदेश करें तो उत्तम होगा। परन्तु कृष्ण के पुनः आग्रह करने पर उन्होंने इस कथन को स्वीकार कर लिया और वे युधिष्ठिर आदि पाण्डवों को उपदेश देने में प्रवृत्त हुए। इस प्रसंग के अन्तर्गत 'महाभारत' में विस्तारपूर्वक भीष्म के इन उपदेशों का वर्णन है। 'शान्ति-पर्व' और 'अनुशासन-पर्व' का सम्पूर्ण कलेवर भीष्म-युधिष्ठिर-संवादों से भरा है। इनमें जहाँ अनेक काम की बातें हैं, वहाँ अनेक व्यर्थ की बातें भी हैं। अनेक बातें शास्त्र के अनुकूल हैं तो अनेक प्रतिकूल भी हैं। इन पर्वों में प्रक्षेप करनेवालों को भी खुली छुट्टी मिल गयी है, क्योंकि भीष्म के नाम पर अपने विचारों को 'महाभारत' में मिला देने का इससे अधिक उपयुक्त अवसर कब आता! इन पर्वों की कलेवर-वृद्धि का यह भी एक कारण है।

◈

१. चातुर्विद्यं चातुर्होत्रं चातुराकाम्यमेव च।
राजधर्मांश्च निखिलान् पृच्छैनं पृथिवीपते॥ (शान्तिपर्व, ४६।२२)

अध्याय ३८

काम-गीता

भीष्म के अनुशासन के समाप्त होते-होते सूर्य उत्तरायण हो गये और उनकी मृत्यु का समय उपस्थित हुआ। अनुकूल समय जान पितामह ने परलोक-गमन किया। पाण्डवों ने यथाविधि उनकी अन्त्येष्टि-क्रिया की।[1]

भीष्म के स्वर्गारोहण के पश्चात् युधिष्ठिर के नेत्रों से पुनः अश्रुधाराएँ बह निकलीं और वे राज्य छोड़कर अरण्यवासी होने का विचार करने लगे। इस बार भी व्यास, धृतराष्ट्र और कृष्ण ने उन्हें समझाया।[2] कृष्ण युधिष्ठिर के मनोविज्ञान से भलीभाँति परिचित हो गये थे, अतः उन्होंने जो सारगर्भित उपदेश दिया उसका सारांश यहाँ लिखा जाता है। उन्होंने कहा, "महाराज! आपके सारे शत्रु निःशेष और पराजित नहीं हुए हैं, क्योंकि आप निज शरीर में रहनेवाले शत्रु को नहीं जान सके हैं।" अपने इस कथन को सिद्ध करने के लिए कृष्ण ने युधिष्ठिर को इन्द्र और वृत्र का रूपक सुनाया।[3] कृष्ण के इस उपदेश को बंकिम ने काम-गीता के नाम से अभिहित किया है।[4] 'महाभारत' के अन्तर्गत अश्वमेध-पर्व के १२वें तथा १३वें अध्याय में इसका वर्णन हुआ है। कृष्ण के उपदेश का सार यह था कि व्याधि दो प्रकार की होती है—शारीरिक और मानसिक। शरीर से उत्पन्न शारीरिक और मन से उत्पन्न व्याधि मानसिक कहलाती है। सर्दी, गर्मी, वात, पित्त, कफ़ आदि शरीर के धर्म हैं। इनकी साम्यावस्था को ही पण्डित लोग स्वस्थ शरीर का लक्षण मानते हैं। इनमें से एक के भी अधिक

१. अनुशासन पर्व, अ० १६८
२. आश्वमेधिक पर्व, अ० २ से १५
३. वही, अ० ११
४. कृष्ण-चरित्र, ११वाँ परिच्छेद

होने पर शरीर की प्रकृति विषम हो जाती है और मनुष्य रोगी हो जाता है। इसी प्रकार सत्त्व, रज और तम आत्मा के गुण हैं। इनकी साम्यावस्था को ही स्वस्थता और विषमता को अस्वस्थता कहते हैं।

शोक से हर्ष और हर्ष से शोक नष्ट होता है। कोई दुःख में रहकर सुख को और कोई सुख में रहकर दुःख को स्मरण करना चाहता है। आपको सुख और दुःख दोनों को ही विस्मरण करना चाहिये। द्रौपदी का अपमान आदि जो दुःखद घटनाएँ आपके जीवन में घट चुकी हैं, उनका स्मरण करना आपको उचित नहीं। इस समय आपके मन में जो अहंकार उत्पन्न हुआ है, उसका दमन करना ही उचित है। इस युद्ध में धनुष-बाण आदि भौतिक अस्त्रों की आवश्यकता नहीं। अतः मन पर उचित नियन्त्रण रखते हुए तथा अपने पिता-पितामह की प्रवृत्ति का अनुसरण करते हुए राज्य-शासन करना ही आपके लिए उचित है।'[1]

कृष्ण ने पुनः कहा "हे राजन्! केवल राज्य-शासन आदि का परित्याग कर देने से ही मोक्ष नहीं मिलता, अपितु शारीरिक कामादि के त्याग से मोक्ष-प्राप्ति होती है। परन्तु शुष्क वैराग्ययुक्त, विवेकहीन पुरुष भी मोक्ष का निश्चय नहीं कर सकता। बाह्य राज्यादि वस्तुओं में विरक्ति और शारीरिक कामादि में आसक्तियुक्त पुरुषों को जो धर्म और सुख मिलता है, वह तो आपके शत्रुओं को प्राप्त होने योग्य है। संसार में ममता मृत्यु का कारण है और निर्ममता मोक्ष का कारण है। यह ममता और निर्ममता-जनित संघर्ष मनुष्य के हृदय में सदा होता रहता है।...

"यदि इस विश्व को अविनाशी समझें तो किसी भी प्राणी को मारने से हिंसा-जनित पाप नहीं लगे। जो व्यक्ति समस्त पृथिवी का अधिकार पाकर भी उसमें ममता नहीं रखता है वह निर्लिप्त कहलाता है। इसके विपरीत जो वनवासी होते हुए भी तथा कंद-मूल-फलों से जीवन-निर्वाह करते हुए भी बाह्य वस्तुओं में ममता रखता है वह मृत्यु प्राप्त करता है। अतः आपको इन बाह्य और आन्तरिक शत्रुओं का पूर्ण विचार करना चाहिये। जो इस अनादि मायामय मनुष्य-स्वभाव को जानते हैं, वे ही संसार से मुक्त होते हैं। कामनावान् पुरुष की इस लोक में प्रशंसा नहीं होती, परन्तु कामना के बिना किसी पुरुष की

---

१. आश्वमेधिक पर्व, अ० १२

किसी विषय में प्रवृत्ति भी नहीं होती। इसलिए योगवेत्ता पंडित इस कामना का संहार करते हैं। जो लोग निष्काम-भाव से यज्ञ, ध्यान, व्रत, तप आदि का अनुष्ठान करते हैं, वे ही कामनाओं का निग्रह कर धर्म और मोक्ष को प्राप्त करते हैं।"[1]

तदनन्तर श्री कृष्ण ने काम-गीता की गाथा सुनाते हुए कहा, "काम स्वयं कहता है—निर्भयता और योगाभ्यास-रूपी उपाय के बिना कोई प्राणी मुझे जीत नहीं सकता। जो पुरुष जप, यज्ञ, अध्ययन, धैर्य, तप, और मुमुक्षत्व द्वारा मुझे जीतने का यत्न करता है, मैं उसके हृदय में अहंकार से उत्पन्न होकर उसे पथभ्रष्ट कर देता हूँ।"

अपने उपदेश का उपसंहार करते हुए कृष्ण ने काम-जय का उपाय बताया। निष्कामपूर्वक योगाभ्यास करने के अतिरिक्त काम-जय का और कोई उपाय नहीं। अतः कामना का परित्याग कर विविध दक्षिणा-युक्त यज्ञों का अनुष्ठान ही आपके लिए श्रेयस्कर है। युद्ध में मरे बांधवों की चिन्ता छोड़कर आप अपने कर्त्तव्य-कर्म में प्रवृत्त हों। जो मर गये हैं उनका पुनः दर्शन सम्भव नहीं। इसलिए आपको शोक संवरण कर कर्त्तव्य-कर्म में लगना ही उचित है।[2]

श्री कृष्ण की यह शिक्षा नितान्त उपादेय और उदात्त है। गीता के सिद्धान्तों से इसका पूर्ण साम्य लक्षित होता है। इस प्रकार कृष्ण के मुख से निःसृत उपदेशामृत का पान कर युधिष्ठिर पूर्ण तृप्त तथा आश्वस्त हुए। महाभारत-युद्ध की समाप्ति और युधिष्ठिर के धर्मराज्य-संस्थापन के साथ-साथ कृष्ण के जीवन का महत्त्वपूर्ण उद्देश्य पूरा हुआ। अब उनके इन्द्रप्रस्थ से प्रस्थान कर द्वारिका जाने का प्रसंग आया।

क्षेपककारों की करतूतों का एक विचित्र चमत्कार यहाँ भी दृष्टि-गोचर होता है। यहाँ उन्होंने श्री कृष्ण के द्वारिका-गमन के लिए प्रस्थान करने से पूर्व एक अनावश्यक और अप्रासंगिक कथा बीच में और घुसेड़ दी। अर्जुन अचानक एक दिन कृष्ण से पूछ बैठे कि युद्ध के समय आपने जो मुझे उपदेश दिया था, चित्त के विभ्रम हो जाने के कारण मैं उसे भूल गया हूँ। अब आप शीघ्र ही द्वारिका जानेवाले हैं, परन्तु इस विषय को एक बार पुनः आपके मुख से सुनने की मेरी बड़ी

---

१. आश्वमेधिक पर्व, १३
२. वही

अभिलाषा है।[१] कृष्ण यह सुनकर बड़े चक्कर में पड़े; उन्होंने कहा "तुमने मूर्खता के वश होकर ही मेरे वचन को ग्रहण नहीं किया, इसका मुझे बड़ा दुःख है। अब वह कथन मेरी स्मृति से भी हट चुका है। पहले मैंने योगयुक्त होकर तुमसे उस परब्रह्म का विषय कहा था। तुममें श्रद्धा और मेधा नहीं है।"[२] इसके पश्चात् महाराज ने अर्जुन को एक पुरातन इतिहास सुनाकर ही संतुष्ट किया। यह दूसरी बार का उपदेश 'अनुगीता' के नाम से प्रसिद्ध है।[३] इसके ही एक भाग का नाम ब्राह्मण-गीता है।[४]

'अनुगीता' के क्षेपक होने के विषय में बंकिम की सम्मति स्पष्ट है। वे लिखते हैं—"यह कृष्णोक्त नहीं है। रचयिता या और किसी ने जिस ढंग से इसे कृष्ण के मुख से कहलाया है, उसी से प्रतीत होता है कि यह कृष्णोक्त नहीं है। पैबन्द साफ़ मालूम होता है और बहुत छिपाने से भी नहीं छिपता। गीतोक्त धर्म का 'अनुगीता' के धर्म से ऐसा कुछ मेल नहीं है जिससे यह गीता कहलाने के योग्य समझी जाये।...श्रीयुक्त काशीनाथ त्र्यम्बक तैलंग ने संतोषजनक प्रमाणों से सिद्ध किया है कि गीता बनने के कई शताब्दियों पीछे यह 'अनुगीता' रची गयी थी। इसका एक प्रमाण यह भी है कि 'पर्व संग्रहाध्याय' में इसका नाम तक नहीं है।"[५] 'अनुगीता' ही क्यों, बंकिम की सम्मति में तो "भगवद्गीता, विदुर प्रजागर,[६] सनत्सुजातीय मार्कण्डेय समस्या

---

१. यत् तद् भगवता प्रोक्तं पुरा केशव सौहृदात्।
तत् सर्वं पुरुषव्याघ्र नष्टं मे भ्रष्टचेतसः॥
मम कौतूहलं त्वस्ति तेष्वर्थेषु पुनः पुनः।
भवांस्तु द्वारकां गन्त नचिरादिव माधव॥ (आश्वमेधिक पर्व, १६।६,७)

२. नूनमश्रद्दधानोऽसि दुर्मेधा ह्यसि पाण्डव।
न च शक्यं पुनर्वक्तुमशेषेण धनंजय॥
स हि धर्म सुपर्याप्तो ब्रह्मणः पदवेदने।
न शक्यं तन्मया भूयस्तथा वक्तुमशेषतः॥
परे हि ब्रह्म कथितं योगयुक्तेन तन्मया॥ (आश्व० १६।११–१३)

३. आश्वमेधिक पर्व, अध्याय १६ से आरम्भ ५१ तक

४. आश्वमेधिक पर्व, अध्याय २० से ३४ पर्यन्त

५. कृष्ण-चरित्र, पृ० ४६६

६. स्वामी दयानन्द की सम्मति में 'विदुर प्रजागर' महाभारत का मौलिक अंश है। उन्होंने इस प्रकरण को अपनी पाठ-विधि में भी सम्मिलित किया है।
—लेखक

आदि बहुत-से धर्म-सम्बन्धी ग्रन्थ 'महाभारत' में ऊपर से मिलाये गये हैं और अब वे सब-के-सब 'महाभारत' के अंश समझे जाते हैं।"[1]

'अनुगीता' के समाप्त होने के पश्चात् कृष्ण ने युधिष्ठिर की आज्ञा लेकर द्वारिका के लिए प्रस्थान किया।[2] प्रस्थान के समय भी श्री कृष्ण के स्वाभाविक आर्य-पुरुषोचित व्यवहार का वर्णन महाभारतकार ने किया है। उसका विस्तृत उल्लेख पहले किया जा चुका है, अतः पुनरुक्ति करने की आवश्यकता नहीं है।

द्वारिका के मार्ग में उत्तंक मुनि से साक्षात्कार की कथा क्षेपककारों की मनगढ़ंत है।[3] उत्तंक मुनि कृष्ण से इसलिए अप्रसन्न हुए कि उन्होंने समर्थ होते हुए भी युद्ध को क्यों नहीं रोका? मुनि तो उनको शाप देने तक के लिए तैयार हो गये, परन्तु कृष्ण ने उन्हें अपना वास्तविक रूप बताया और यह भी कहा कि शाप देने से उनका तपोबल क्षीण हो जायेगा। इस प्रसंग में 'महाभारत' में अनेक असम्भव गाथाएँ जोड़ी गई हैं। बंकिम के अनुसार यह कथा 'महाभारत' के 'पर्वसंग्रहाध्याय' में नहीं है, अतः क्षेपक है और तीसरी तह की है।[4]

द्वारिका पहुँचने के अनन्तर कृष्ण ने अपने पिता वसुदेव और अन्य परिजनों से भेंट की। वसुदेव ने जब कुरुक्षेत्र के युद्ध का वृत्तान्त जानना चाहा तो कृष्ण ने संक्षेप से युद्ध का वर्णन किया।[5] यह वर्णन अतिशयोक्ति और अनैसर्गिक घटनाओं से रहित होने के कारण अधिक प्रामाणिक है। इसमें भीष्म, द्रोण, कर्ण और दुर्योधन की मृत्यु के स्वाभाविक कारणों का ही वर्णन दिया गया है। अभिमन्यु-वध का उल्लेख श्री कृष्ण ने जान-बूझकर नहीं किया, क्योंकि उससे वसुदेव को अपने दौहित्र की मृत्यु का समाचार सुनकर दुःख होता। सुभद्रा द्वारा स्मरण दिलाये जाने पर कृष्ण ने उस घटना का भी विस्तारपूर्वक उल्लेख किया।[6]

१. कृष्ण-चरित्र, पृ० ४६५
२. आश्वमेधिक पर्व, अध्याय ५२
३. वही, अध्याय ५३
४. कृष्ण-चरित्र, पृ० ४६७
५. आश्वमेधिक पर्व, अध्याय ६०
६. वही, अध्याय ६१

कृष्ण के द्वारिका-गमन के समय युधिष्ठिर ने उन्हें अश्वमेध यज्ञ के अवसर पर पुनः हस्तिनापुर आने का अनुरोध किया था। उस अनुरोध की रक्षा करते हुए वे अश्वमेध के अवसर पर पुनः हस्तिनापुर गये। इसी समय उत्तरा ने मृत शिशु परीक्षित को जन्म दिया। लिखा है कि कृष्ण ने उसे पुनरुज्जीवित कर दिया।[1] यद्यपि इसमें अलौकिकता कुछ भी नहीं है, परन्तु कथावाचकों द्वारा उसे अलौकिक रूप प्रदान किये जाने का यत्न अवश्य हुआ है। आज भी चिकित्सकों के द्वारा सद्योजात अर्धमृत शिशुओं की चिकित्सा होती है। इससे यह भी सिद्ध होता है कि कृष्ण को चिकित्सा-शास्त्र का भी अच्छा ज्ञान था। अश्वमेध समाप्त हो जाने पर महाराज पुनः द्वारिका लौट गये।[2] इसके पश्चात् उनकी पाण्डवों से कभी भेंट नहीं हुई।

◈

१. आश्वमेधिक पर्व, अ० ६९

२. वही, अ० ९२

अध्याय ३९

मौसल पर्व

यदुवंश का नाश और कृष्ण का परलोक-गमन

अश्वमेध-पर्व के पश्चात् 'आश्रमवासिक पर्व' है। कृष्ण-चरित से इसका कुछ भी सम्बन्ध नहीं है। इसके पश्चात् मौसल पर्व है जिसमें यादव-वंश के नाश और कृष्ण के स्वर्गारोहण का वर्णन है। 'महाभारत' के वर्तमान उपलब्ध संस्करणों में मौसल पर्व की स्थूल कथा इस प्रकार है—एक बार विश्वामित्र, कण्व और नारद, ये तीन ऋषि द्वारिका आये। उस समय के यादव बड़े उद्दण्ड हो गये थे। उन्होंने सत्यभामा के पुत्र साम्ब को स्त्री की भाँति सजाया और ऋषियों के पास ले गये। ऋषियों से दिल्लगी करते हुए पूछा—"यह स्त्री गर्भवती है, आप अपनी त्रिकालज्ञता से बतायें कि यह क्या प्रसव करेगी? पुत्र या कन्या?" महर्षिगण यादवों की धृष्टता को समझ गये। उन्होंने अप्रसन्न होकर कहा—"यह स्त्री न पुत्र प्रसव करेगी न कन्या। इसके पेट से लोहे का एक मूसल निकलेगा जिससे तुम्हारा यादव-वंश नष्ट हो जायगा।"[1] यादव बड़े लज्जित हुए और लौट गये।

बंकिम ने इस घटना का बड़ा मनोरञ्जक वर्णन अपने ग्रन्थ में किया है। वे लिखते हैं—"ऋषि बड़े क्रोधी होते हैं। बात-बात पर शाप देने के लिए मुँह बाये रखते हैं। यदि यह सत्य हो तो ऋषियों को जितेन्द्रिय, ईश्वर-परायण न कहकर निष्ठुर, नर-पिशाच कहना चाहिये। आजकल किसी भले आदमी से ऐसा सवाल किया जाय तो वह हँसकर रह जायगा, या बहुत करेगा तो कुछ ऐंड़ी-वैंड़ी सुना देगा, पर हमारे इन जितेन्द्रिय महर्षियों में इतनी सहनशीलता कहाँ! वे चट जामे से बाहर हो शाप दे बैठे। बोले—न बेटा न बेटी, लोहे का मूसल होगा···

१. मौसल पर्व, अध्याय १

साम्ब चाहे पुरुष हो चाहे स्त्री, पर उसने ऋषियों के वचनानुसार मूसल जन दिया।"[1] राजा उग्रसेन को जब यह समाचार ज्ञात हुआ तो उसने उस मूसल के टुकड़े-टुकड़े करवा दिये और उसके चूर्ण को समुद्र में फिकवा दिया।[2] कृष्ण ने यदुवंशियों का अन्त समीप जानकर नगर में यह ढिंढोरा पिटवा दिया कि आज से कोई नगरवासी मद्यपान नहीं करेगा। यदि कोई पुरुष मदिरापान करता पाया गया तो उसे बंधु-बांधवों सहित सूली पर चढ़ा दिया जायेगा।[3] महाराज की कठोर आज्ञा को सुनकर लोगों ने भविष्य में मद्य न पीने की प्रतिज्ञा की।

यादवों के आसन्न सर्वनाश के लक्षण देखकर कृष्ण को गांधारी के शाप का स्मरण हो आया और उन्होंने समस्त यादवों को समुद्र के निकटवर्ती प्रभास-तीर्थ की यात्रा करने की आज्ञा दी।[4] तुरन्त ही रथ और अन्य सवारियों में आरूढ़ होकर यादव लोग सपरिवार समुद्र-तट पर पहुँच गये। यहाँ पहुँचकर यादवों ने मदिरापान आरम्भ किया और विविध मनोरञ्जन-क्रीड़ाओं में लीन हो गये। खेल ही खेल में द्वेष फूट पड़ा और मार-पीट की नौबत आ गयी। सर्वप्रथम सात्यकि ने कृतवर्मा को उसके कौरव-पक्ष को ग्रहण करने के कारण छेड़ा।[5] कृष्ण के पुत्र प्रद्युम्न ने उसका समर्थन किया।[6] सात्यकि ने कृतवर्मा को लांछित और अपमानित करना आरम्भ किया। उससे कहा कि वह घोर नराधम है क्योंकि उसने अश्वत्थामा को साथ लेकर सुप्त-अवस्था में पाञ्चालों और द्रौपदी-पुत्रों को मारा है। बदले में कृतवर्मा ने सात्यकि पर योगयुक्त अवस्था में भूरिश्रवा को मार डालने का अपराध लगाया।[7] अब तो सात्यकि के क्रोध का पारावार न रहा। उसने तुरन्त

१. कृष्ण-चरित्र, पृ० ५०२
२. मौसल पर्व, अध्याय १
३. अद्य प्रभृति सर्वेषु वृष्ण्यन्धककुलेष्विह।
   सुरासवो न कर्तव्यः सर्वैर्नगरवासिभिः॥
   यश्चनोऽविदितं कुर्यात् पेयं कश्चिन्नरः क्वचित्।
   जीवन् स शूलमारोहेत् स्वयं कृत्व सबान्धवः॥ (मौसल पर्व, १।२९।३०)
४. मौसल पर्व, अध्याय २
५. मौसल पर्व, अध्याय ३।१८
६. वही, ३।१९
७. वही, ३।२१

आगे बढ़कर कृतवर्मा का सिर काट लिया।[1] कृतवर्मा को मरा हुआ जानकर उसके बंधु-बांधव सात्यकि का वध करने के लिए दौड़े। अन्त में सात्यकि और उसका समर्थक प्रद्युम्न दोनों ही मारे गये।[2]

अपने पुत्र और मित्र को मरा जानकर कृष्ण को यादवों पर बड़ा क्रोध आया। उन्होंने एक मुट्ठी एरका (सरकंडे की घास) जो समुद्र-तट पर उग आयी थी उखाड़ ली। यह घास तुरन्त मूसल बन गयी। उससे कृष्ण ने जो सामने आया उसे मार डाला।[3] उस समय सारे यादव उस घास को उखाड़कर एक-दूसरे पर प्राणघाती आक्रमण करने लगे और इस प्रकार परस्पर लड़ते हुए मारे गये। 'महाभारत' में लिखा है कि घास के उन सरकण्डों ने मूसलों का रूप धारण कर लिया था। अन्य ग्रन्थों में यह भी लिखा है कि यह घास उसी मूसल के चूर्ण से उत्पन्न हुई थी जिसे साम्ब ने प्रसव किया था और जिसे राजा उग्रसेन ने समुद्र में फिंकवा दिया था।

सब यादवों के मर जाने के पश्चात् कृष्ण के सारथी दारुक और बभ्रु उनके समीप आये और उन्होंने कहा कि आपने समस्त यदुवंशियों का नाश तो कर ही दिया है, अब हम वहाँ चलें जहाँ बलराम निवास करते हैं। कृष्ण ने दारुक को अर्जुन के समीप हस्तिनापुर भेजा और उसे यह कहलवाया कि वह द्वारिका आकर यादवों की स्त्रियों को हस्तिनापुर ले जाये। तदनन्तर वे स्वयं द्वारिका गये और अपने पिता महात्मा वसुदेव से निवेदन किया कि जबतक अर्जुन नहीं आते तबतक वे पुरनारियों की रक्षा करें।[4] यादवों के विनाश से महाराज का चित्त अत्यन्त खिन्न था। अतः उन्होंने बलराम-सहित वन में निवास करने की इच्छा प्रकट की।[5] जब वे नगर से लौटकर बलराम के समीप वन में आये तो उन्होंने देखा कि योग के द्वारा बलराम पहले ही अपना शरीर-त्याग कर चुके हैं।

१. मौसलपर्व, ३।२८ २. वही, ३।३५
३. वही, ३।३६ ४. वही, ४।८
५. तपश्चरामि निबोध तन्मे
रामेण सार्धं वनमभ्युपेत्य।
इतीदमुक्त्वा शिरसा च पादौ
संस्पृश्य कृष्णस्त्वरितो जगाम॥ (मौसल पर्व, ४।१०)

बलराम का इस प्रकार परलोक-गमन जानकर महाराज स्वयं खिन्नमना होकर मर्त्यलोक त्यागने की इच्छा करने लगे। योगेश्वर कृष्ण ने महायोग का अवलम्बन किया और योग-निद्रा में प्रभास के निकट अश्वत्थ वृक्ष की छाया में लेट गये।[1] उसी समय जरा नामक एक व्याध आया। दूर से महाराज के कमल के समान कोमल आरक्तवर्ण पैर को उसने मृग समझा और इसी भ्रम में दूर से उसे लक्ष्य बनाकर बाण का प्रहार किया। परन्तु निकट आने पर उसे अपनी भूल का ज्ञान हुआ और वह कृष्ण के चरणस्पर्श कर क्षमायाचना करने लगा। कृष्ण ने उसे दुःखी न होने का आश्वासन दिया और स्वयं समाधिपूर्वक अपने प्राणों का त्याग कर दिया।[2] यह है कृष्ण के परलोक-गमन का वर्तमान 'महाभारत' में उपलब्ध वृत्तान्त। इसमें कितना अंश मौलिक है और कितना प्रक्षिप्त है, इसका निर्णय करना कठिन किन्तु आवश्यक है। महर्षियों के शाप और मूसल की कथा को अस्वाभाविक जानकर छोड़ भी दें, तो भी यादवों के नाश पर तो विचार करना ही पड़ेगा।

यादवों में उद्दण्डता और स्वेच्छाचार बढ़ गया था। कृष्ण द्वारा मद्यपान को वर्जित कर दिये जाने पर भी वे मद्यपान करते थे। पुराणों में तो बलराम को घोर मद्यप तथा द्यूतप्रिय चित्रित किया गया है। कृष्ण स्वयं इन दोषों से मुक्त थे। यादवों के दो कुल पृथक्-पृथक् रीति से चलते थे। वृष्णिवंशी कृष्ण और सात्यकि ने पाण्डवों का साथ दिया, जबकि अंधक और भोजवंशी कृतवर्मा ने कौरव-पक्ष को ग्रहण किया था। इससे उनका पारस्परिक विरोध स्पष्ट ज्ञात होता है। यादवों का कोई प्रभावशाली राजा भी नहीं था। उग्रसेन नाम-मात्र के राजा थे। कृष्ण अवश्य ही यादवों के लोकप्रिय नेता थे, परन्तु कभी-कभी बलराम से उनकी पटरी नहीं बैठती थी। ऐसी प्रतिकूल परिस्थिति में यादवों का परस्पर लड़-भिड़कर समाप्त हो जाना कोई असम्भव बात नहीं है।

---

१. देवोऽपि सन् देहविमोक्ष-हेतो-
र्निमित्तमैच्छत् सकलार्थ तत्त्ववित्।
स संनिरुद्धेन्द्रिय वाङ्मनास्तु
शिश्ये महायोगमुपेत्य कृष्णः॥ (मौसल पर्व, ४।२१)

२. मत्वाऽऽत्मानं त्वपराद्धं स तस्य
पादौ जरा जगृहे शंकितात्मा।
आश्वासयंस्तं महात्मा तदानीं
गच्छन्नूर्ध्वं रोदसी व्याप्य लक्ष्म्या॥ (४।२४)

यादव-वंश के इस प्रकार नष्ट हो जाने से दुःखी होकर ही बलराम और कृष्ण का परलोक-गमन हुआ, यह अनुमान कुछ ग़लत नहीं है।

'महाभारत' में तो यह भी लिखा है कि कृष्ण ने यादवों के पारस्परिक विनाश को रोकने के लिए कोई प्रयास नहीं किया, अपितु उन्हें नष्ट होने में सहायता ही दी। इससे कृष्ण के चरित्र पर कोई आक्षेप नहीं आता, क्योंकि अधर्मी यादवों के नष्ट हो जाने में उन्हें उनका कल्याण ही दिखाई दिया। वे धर्म के पक्षपाती और अधर्म के विरोधी थे। वे अपने बंधु-बांधवों को ही अधर्म के मार्ग पर चलता हुआ कैसे देख सकते थे ! अधर्मी यादवों के प्रति उन्हें कोई विशेष पक्षपात नहीं रह गया था। अतः कृष्ण पर यह आक्षेप नहीं लगाया जा सकता कि उन्होंने स्व-बंधुओं का सर्वनाश कराया।

कृष्ण के शरीर-त्याग के कारणों की मीमांसा करते समय बंकिम ने चार कारण प्रस्तुत कर उनकी सम्भवता और असम्भवता पर विचार किया है—

१. यूरोपीय परम्परा के विद्वानों का कथन है कि कृष्ण अपने ही भाइयों के हाथों मारे गये, परन्तु इस कथन का समर्थन किसी भी ग्रन्थ से नहीं होता, अतः वह मत अमान्य है।

२. कृष्ण जरा नामक व्याध के बाण से मारे गये।

३. कृष्ण उस समय अपनी आयु के अन्तिम भाग तक पहुँच चुके थे। उन्हें बुढ़ापे ने घेर लिया था, अतः सम्भव है कि महाव्याध जरा (वृद्धावस्था) ही उनकी मृत्यु का कारण बनी हो।

४. उन्होंने योगयुक्त होकर स्वेच्छा से प्राण त्यागे।

अन्तिम तीनों कारणों का समन्वय किया जा सकता है। योग द्वारा शरीर-त्याग यूरोपीय विद्वानों के लिए भले ही आश्चर्य की वस्तु हो, परन्तु यह असम्भव नहीं है। जो योगी प्राणों का संयम करते हैं, उनके लिए श्वास रोककर प्राणों को त्याग देना भी कठिन नहीं है। इसे आत्महत्या भी नहीं कहा जा सकता, क्योंकि जीवन में अपना उद्देश्य पूरा हो जाने पर योगयुक्त होकर प्राण-त्याग सामान्य व्यक्ति के वश की बात नहीं है। योग-साधन में निष्णात उच्चकोटि का साधक ही ऐसा कर सकता है। अतः कृष्ण के देह-त्याग के सम्बन्ध में यही मत समीचीन जान पड़ता है कि यादवों के विनाश के पश्चात् वे अपने अवशिष्ट जीवन को निरुद्देश्य-सा अनुभव करने लगे थे। युधिष्ठिर के राज्य-

आरोहण के महत् लक्ष्य को पूरा हुआ देखकर उन्हें अपनी कृतकृत्यता का भी पूर्ण निश्चय हो गया था। ऐसी दशा में योग-मार्ग का अवलम्बन कर शरीर-त्याग ही उन्हें श्रेयस्कर प्रतीत हुआ। आयु भी पर्याप्त हो चुकी थी।[१] इसी समय अकस्मात् एक महाव्याध के शर:क्षेप से आहत हो जाने से उन्हें निश्चय हो गया कि अब उनके महाप्रस्थान का समय आ गया है। बस, यह सोचकर वे पुन: ध्यानावस्थित हो गये और आत्मा को परमात्मा में मिलाकर पाञ्चभौतिक देह का परित्याग कर दिया। इस प्रकार 'महाभारत' के इस महान् सूत्रधार की भूमिका का अवसान हुआ। जीवन-नाटक का कुशल अभिनेता विश्व-रंगमंच को त्यागकर नेपथ्य में चला गया। अपने युग का वह महान् राजनीति-वेत्ता, समाज-सेवी, योगी, दार्शनिक और सबसे बढ़कर आर्य-साम्राज्य-स्रष्टा, विश्व का हृदय-सम्राट् संसार-रूपी जल में रहकर भी पद्म-पत्र की भाँति निर्लेप रहनेवाला स्थितप्रज्ञ मुनि अपनी संसार-यात्रा का संवरण कर उस लोक में पहुँच गया जिसके सम्बन्ध में 'इदं इत्थं' कुछ भी कहना सम्भव नहीं है।

महाराज के परलोक-गमन का समाचार सुनकर अर्जुन द्वारिका आये और यादव-सन्नारियों तथा महाराज वसुदेव से मिले। वसुदेव ने उन्हें सारी परिस्थिति से अवगत कराया।[२] अर्जुन ने यादव-स्त्रियों तथा अवशिष्ट नागरिकों को लेकर हस्तिनापुर के लिए प्रस्थान करने का आदेश दिया। वसुदेव भी पुत्र-वियोग को सहन नहीं कर सके और दूसरे दिन स्वर्ग सिधारे।[३] अर्जुन ने उनका अन्त्येष्टि-संस्कार विधि-पूर्वक कराया।[४] प्रभास-स्थल पर मारे गये यादवों के शवों का भी संस्कार किया गया और राम तथा कृष्ण के मृत शरीरों को भी अनु-संधान कर उनका प्रेत-कर्म किया गया।[५]

जब वे द्वारिका के अवशिष्ट निवासियों और स्त्रियों को लिये हुए हस्तिनापुर की ओर आ रहे थे तो रास्ते में उन्हें आभीर जाति के डाकू

१. 'ब्रह्मवैवर्तपुराण' में कृष्ण की आयु १२५ वर्ष बताई गई है।

२. मौसल पर्व, अध्याय ६

३. वही, अ० ७।१५

४. वही, ७।२३

५. ततः शरीरे रामस्य वासुदेवस्य चोभयो:।
अन्विष्य दाहयामास पुरुषैराप्तकारिभि:॥ (७।३१)

मिले। डाकुओं ने अर्जुन के काफ़िले के जन और धन को लूटने के लिए आक्रमण किया।[1] एक दिन जिस अर्जुन के समक्ष कौरव-दल के भीष्म और द्रोण जैसे महारथी भी नहीं टिक सके, वही आज आभीर-दल के समक्ष अपने-आपको अशक्त एवं दुर्बल अनुभव करने लगा। आभीर डाकुओं से धन और स्त्री-वर्ग का अपहरण होते देखकर अर्जुन ने प्रारब्ध को ही बलवान् माना।[2]

यहाँ से निवृत्त होकर अर्जुन भगवान् कृष्ण द्वैपायन के हिमालय-स्थित आश्रम में पहुँचे और उन्हें यादवों के वंशनाश तथा कृष्ण के परलोक-गमन का वृत्तान्त सुनाया। भगवान् व्यास के उपदेशों से अर्जुन को धैर्य हुआ और वह हस्तिनापुर लौट गया। वहाँ जाकर उसने समस्त वृत्तान्त धर्मराज युधिष्ठिर के समक्ष निवेदन किया।[3]

मौसल पर्व की प्रामाणिकता संदेहास्पद है। 'अनुक्रमणिकाध्याय' में इसकी कुछ भी चर्चा नहीं है। बंकिम ने इसे तीसरी तह की रचना माना है।

१. मौसल पर्व, अ० ७।४६,५०

२. बभूव विमनः पार्थो दैवमित्यनुचिन्तयन् ॥ (७।६६)

३. मौसल पर्व, अ० ८

अध्याय ४०

चरित्र-विश्लेषण

मनुष्य अपनी विविध प्रवृत्तियों को उन्नति के सर्वोच्च सोपान पर पहुँचाकर किस प्रकार एक साधारण व्यक्ति से महामानव एवं युगपुरुष के उच्च पद पर प्रतिष्ठित हो सकता है, इसका श्रेष्ठ उदाहरण कृष्ण का जीवन है। कारागार की विवशतापूर्ण परिस्थितियों में जन्म लेकर भी कोई मनुष्य संसार का महत्तम नेता बन सकता है, यह कृष्ण का चरित्र देखने से स्वतः ही विदित हो जाता है। बंकिम के अनुसार श्री कृष्ण ने अपनी ज्ञानार्जनी, कार्यकारिणी तथा लोकरंजनी तीनों प्रकार की प्रवृत्तियों को विकास की चरम सीमा तक पहुँचा दिया था, तभी उनके लिए यह सम्भव हो सका कि वे अपने समय के महान् राजनीतिज्ञ और समाज-व्यवस्थापक के गौरवान्वित पद पर आसीन हो सके।

बाल्यावस्था से लेकर जीवन के अन्तिम क्षण पर्यन्त कृष्ण उन्नति के पथ पर अग्रसर होते रहे। धर्म के अनुसार लोगों को स्व-कर्त्तव्य-पालन-हेतु प्रेरित करना ही उनके जीवन का एकमात्र उद्देश्य रहा। वे स्वयं धर्म में अनन्य निष्ठा रखनेवाले और उसके वास्तविक रहस्य को जानकर उसका उपदेश देनेवाले महान् धर्मोपदेष्टा थे। ऋषि दयानन्द ने तो यहाँ तक कह दिया है कि श्री कृष्ण ने जन्म से लेकर मरण-पर्यन्त कुछ भी बुरा काम नहीं किया। यह सब-कुछ धर्म-पालन के कारण ही सम्भव हुआ। इसीलिये महाभारतकार को लिखना पड़ा—

यतो धर्मस्ततः कृष्णो यतः कृष्णस्ततो जयः[1]

'जहाँ कृष्ण हैं वहाँ धर्म है और जहाँ धर्म है वहाँ जय है।' सञ्जय ने भी इसी प्रकार की बात 'गीता' का उपसंहार करते हुए कही थी—

यत्र योगेश्वरः कृष्णो यत्र पार्थो धनुर्धरः।
तत्र श्रीर्विजयो भूतिर्ध्रुवा नीतिर्मतिर्मम ॥ (१८।७८)

१. भीष्मपर्व, ४३।६०

'जहाँ योगेश्वर कृष्ण और गाण्डीवधारी अर्जुन हैं वहीं श्री है, वहीं विजय है। अधिक क्या कहें, वहीं ऐश्वर्य और ध्रुव नीति है।'[1] ये उक्तियाँ कृष्ण को ईश्वर का अवतार मानकर नहीं कही गई हैं। यदि ऐसा होता तो इनका कुछ भी मूल्य न होता। ये कृष्ण की सर्वोपरि मानवी भावनाओं को ही प्रकाशित करती हैं, जिनके चरम परिष्कार के कारण कृष्ण साधारण मनुष्य की कोटि से उठकर महापुरुषों की श्रेणी में आये, योगेश्वर और पुरुषोत्तम बने।

बाल्यकाल से ही देखिये। एक दृढ़ विचारवाले, पुष्ट शरीरवाले और स्वस्थ मन तथा संकल्पनिष्ठ आत्मावाले ब्रह्मचारी में जो-जो विशेषताएँ होनी चाहिएँ, वे हमें कृष्ण में मिलती हैं। उनका शारीरिक बल अतुलनीय है जिससे उन्होंने बाल्यकाल में ही अनेक त्रासदायक एवं हिंसक जन्तुओं का वध किया। समय आने पर उन्होंने युद्ध-कौशल और रणनीति का साङ्गोपाङ्ग अध्ययन किया। युद्ध-नीति के वे कितने प्रकाण्ड पण्डित थे यह तो इसीसे ज्ञात हो जायगा कि अर्जुन और सात्यकि जैसे वीर उनके शिष्य थे जिनको उन्होंने युद्ध-विद्या सिखाई थी। गदा-युद्ध, असि-युद्ध के वे अच्छे ज्ञाता थे। निर्भयता और चातुर्य के वे आकर थे।

शारीरिक बल के अतिरिक्त उनका शास्त्रीय ज्ञान भी बढ़ा-चढ़ा था। वे वेदों और वेदाङ्गों के अनुपम ज्ञाता थे, यह भीष्म की उक्ति से सिद्ध हो चुका है। साथ ही वे संगीत, चिकित्सा-शास्त्र, अश्व-परिचर्या आदि नाना लौकिक विद्याओं के भी पंडित थे। उत्तरा के मृतप्राय बालक (परीक्षित) को जीवन प्रदान करना, मुरली-वादन से जड़ चेतन को विमुग्ध कर लेना तथा अर्जुन के सारथि बनकर भयंकर युद्धक्षेत्र में अपने रथी की रक्षा करना आदि उदाहरण इन बातों को सिद्ध करने के लिए उपस्थित किये जा सकते हैं। शारीरिक बल और मानसिक

---

१. संजय ने ही एक अन्य प्रसंग में कहा था—

यतः सत्यं यतो धर्मो यतो ह्रीरार्जवं यतः।
ततो भवति गोविन्दो यतः कृष्णस्ततो जयः॥ (उद्योगपर्व, ६८।९)

'जिस ओर सत्य, धर्म, लज्जा और सरलता हैं, उसी ओर कृष्ण रहते हैं, और जहाँ कृष्ण हैं, वहीं विजय है।'

संजय के अनुसार तो कृष्ण सत्य की साक्षात् प्रतिमा हैं—

सत्ये प्रतिष्ठितः कृष्णः सत्यमत्र प्रतिष्ठितम्॥ (उद्योगपर्व, ७०।१२)

शक्तियों का चरम विकास तो उन्होंने किया ही था, आचार की दृष्टि से उनकी बराबरी कोई समकालीन पुरुष नहीं कर सकता था। वे महान् सदाचारी तथा शीलवान् थे। माता-पिता की आज्ञा का पालन करने तथा गुरुजनों के प्रति पूज्य-भाव रखने की भावना को उन्होंने कभी विस्मृत नहीं किया। वे मादक द्रव्यों अथवा द्यूत-क्रीड़ा जैसे व्यसनों से सदा दूर रहे, यहाँ तक कि उन्होंने समय-समय पर यादवों में यह आदेश प्रचारित किये थे कि यदि कोई व्यक्ति मदिरा पीता हुआ पाया जायगा तो राज्य की ओर से दण्डनीय होगा। ब्रह्मचर्य और संयम की दृष्टि से कहा जा सकता है कि एकपत्नी-व्रत का दृढ़ता से पालन करते हुए भी उन्होंने सपत्नीक बारह वर्ष तक दृढ़ ब्रह्मचर्य धारण किया। तदनन्तर उनके प्रद्युम्न-जैसा पुत्र हुआ जो रूप, गुण, शील और सदाचार में सर्वथा अपने पिता के ही अनुरूप था। यह खेद की बात है कि पुराणकारों और कवियों ने कृष्ण के इस उज्ज्वल पहलू को सर्वथा विस्मृत कर दिया और उन्हें कामी, लम्पट, कुटिल तथा युद्ध-लिप्सु के रूप में चित्रित किया।

श्री कृष्ण संध्योपासना तथा अग्निहोत्र आदि दैनिक कर्त्तव्यो का पालन करने में कभी प्रमाद नहीं करते थे। 'महाभारत' में स्थान-स्थान पर उनकी इस प्रकार की दिनचर्या के उल्लेख मिलते हैं। दुर्योधन से संधि-वार्ता के लिए जाते हुए मार्ग में जब-जब प्रातः और सायं-समय उपस्थित होता है, कृष्ण संध्या और अग्निहोत्र करना नहीं भूलते। 'महाभारत' में लिखा है—

प्रातरुत्थाय कृष्णस्तु कृतवान् सर्वमाह्निकम्।
ब्राह्मणैरभ्युज्ञातः प्रययौ नगरं प्रति॥

(उद्योगपर्व, ५।८।७।१)

'प्रातःकाल उठकर कृष्ण ने आह्निक (संध्या-हवन आदि) सब क्रियायें कीं, पुनः ब्राह्मणों से आज्ञा लेकर नगर की ओर प्रस्थान किया।' इसी प्रकार का एक अन्य उल्लेख है—

कृत्वा पौर्वाह्निकं कृत्यं स्नातः शुचिरलंकृतः।
उपहस्थे विवस्वन्तं पावकं च जनार्दनः॥

(उद्योग पर्व, ८३।६)

'फिर उन्होंने पवित्र तथा वस्त्राभूषणों से अलंकृत हो, संध्या-वदन, परमात्मा का उपस्थान एवं अग्निहोत्र आदि पूर्वाह्नकृत्य सम्पन्न किये।'

अब इसे विडम्बना के अतिरिक्त और क्या कहा जाय कि नित्य संध्या-योग (ब्रह्म-यज्ञ) के द्वारा सच्चिदानन्द परमात्मा की पूजा करनेवाले तथा देवयज्ञ-रूपी अग्निहोत्र के द्वारा देवताओं का भजन करनेवाले आर्योचित मर्यादाओं के पालक एवं रक्षक आदर्श महापुरुष कृष्ण को साक्षात् ईश्वर ही कह दिया जाय !

कृष्ण-चरित्र की सर्वोपरि विशेषता उनकी राजनैतिक विज्ञक्षणता और नीतिज्ञता है। राजनीति के प्रति उनका यह अनुराग किसी स्वार्थ-भावना से प्रेरित नहीं था और न ही उनकी राजनैतिक विचार-धारा किसी संकुचित राष्ट्रवाद के घेरे में आबद्ध थी। उस युग में तो आज-जैसा राष्ट्रवाद जन्मा ही नहीं था। कृष्ण का राष्ट्रवाद तो लोक-कल्याण, जन-हित तथा सब प्रकार की अराजकता, अन्याय, तथा शोषण की प्रवृत्ति को समाप्त कर धर्म-राज्य की संस्थापना के लक्ष्य को लेकर ही चला था। सम्पूर्ण मानव-जाति ही नहीं, अपितु प्राणि-मात्र के कल्याण के भाव को लेकर ही उन्होंने राजनीति के क्षेत्र में प्रवेश किया था।

सर्वप्रथम उनकी दृष्टि अपने जन्म-स्थान मथुरा जनपद के स्वेच्छा-चारी, एकतन्त्रात्मक शासन के प्रतिनिधि अत्याचारी शासक कंस के ऊपर गई। उन्होंने पारिवारिक और वैयक्तिक सम्बन्धों का विचार न करते हुए जनता के हित को सर्वोपरि समझा और कंस के विनाश में ही सबके कल्याण को देखा। कंस की मृत्यु के पश्चात् ही मथुरा-वासियों को अपनी सर्वांगीण उन्नति करने का अवसर मिला। कृष्ण का एक कार्य अभी पूरा ही नहीं हुआ था कि जरासंध के आक्रमणों का सिलसिला आरम्भ हो गया। कंस के मारे जाने से जरासंध ने यह तो अनुमान लगा लिया था कि अब अधिक दिनों तक आर्यावर्त में अत्याचार, अनाचार तथा स्वेच्छाचार नहीं चल सकेगा, क्योंकि कृष्ण के रूप में एक ऐसी शक्ति का उदय हो चुका है जो सदाचार, धार्मिकता, मर्यादा-पालन तथा जनहित को ही महत्त्व देती है। कंस भी तो आखिर जरासंध का ही जामाता तथा उसी की नीतियों का अनुगामी था। कंस-वध की घटना में जरासंध ने अपनी दुर्नीति तथा षड्यंत्र-प्रवृत्ति की ही पराजय देखी। वह तुरन्त मथुरा पर चढ़ दौड़ा और एक बार नहीं, सत्रह बार आक्रमण किये। कृष्ण के अपूर्व रण-चातुर्य तथा उनके सफल नेतृत्व में यादवों ने जरासंध की सेना के दाँत खट्टे कर

दिये, परन्तु जब कृष्ण ने ही यह समझ लिया कि शूरसेन-प्रदेश सुरक्षा की दृष्टि से उत्तम नहीं है तो उन्होंने यादव-जाति के निवास के लिए द्वारिका जैसे भौगोलिक दृष्टि से सुदृढ़ आवास-स्थान को ढूँढ निकाला और उसे ही यादवों की राजधानी बनाया।

जरासंध के सेनापति शिशुपाल को प्रथम तो रुक्मिणी के विवाह के अवसर पर कृष्ण के द्वारा नीचा देखना पड़ा और द्वितीय बार तब, जबकि युधिष्ठिर के राजसूय यज्ञ के प्रसंग में उसने कृष्ण को प्रथम अर्घ्य देने के प्रस्ताव को लेकर विवाद खड़ा किया तथा यज्ञ-ध्वंस करके कृष्ण के धर्मराज-संस्थापन के महत् लक्ष्य की पूर्ति में बाधक बना। उस समय कृष्ण ने ही शिशुपाल का वध किया और इस प्रकार 'विनाशाय च दुष्कृताम्' से संकेतित दुष्ट जनों के विनाश-रूपी महायज्ञ में एक और आहुति प्रदान की। जरासंध को समाप्त करने का अवसर तो इससे पूर्व ही उपस्थित हो गया था। ८६ राजाओं को कैद कर तथा इन अभागे राजाओं की संख्या १०० हो जाने पर रुद्र के सम्मुख उनकी बलि कर देने का जो पैशाचिक विचार जरासंध ने कर रक्खा था, उसे सहन करना कृष्ण-जैसे धर्मात्मा एवं करुणाशील पुरुष के लिए असम्भव ही था। इस दुष्कृत्य को पूरा करने का विचार रखने के कारण जरासंध अपने अत्याचारों को चरम सीमा तक पहुँचा चुका था और अब उसे अधिक सहन करना सम्भव नहीं था। मनुष्य-जाति का ऐसा शत्रु जरासंध भी कृष्ण की नीतिमत्ता तथा भीम के शौर्य से मारा गया। न तो युद्ध ही हुआ और न अनावश्यक रक्तपात।

'महाभारत' के युद्ध में भीष्म, द्रोण, कर्ण, शल्य, दुर्योधन आदि कौरव-पक्ष के सभी महारथ वीरों का एक-एक कर अन्त हुआ और इस प्रकार युधिष्ठिर के धर्मराज्य-संस्थापन-रूपी महायज्ञ की पूर्णाहुति हुई। इस महत् कार्य की सिद्धि में कृष्ण का योगदान तो सर्वोपरि था। कृष्ण की इस अपूर्व नीतिज्ञता, रण-चातुरी तथा व्यवहार-कुशलता को ठीक-ठीक न समझकर उनपर युद्ध-लिप्सु होने का आरोप लगाना अथवा समस्त देश को युद्ध की भयंकर एवं विनाशकारी ज्वालाओं में झोंककर स्वयं तमाशा देखनेवाला बताना, सर्वथा अनुचित है। कृष्ण ने यथाशक्य युद्ध का विरोध किया, यह हम महाभारतीय युद्ध की आलोचना के प्रसंग में देख चुके हैं। उन्होंने न तो युद्ध को राष्ट्रीय समस्याओं के समाधान का एकमात्र अतः अनिवार्य उपाय माना और

न उसमें कूद पड़ने के लिए किसी को उत्साहित ही किया। यहाँ तक कि वैयक्तिक मानापमान की परवाह किये बिना वे स्वयं पाण्डवों की ओर से संधि-प्रस्ताव लेकर हस्तिनापुर गये। यह सत्य है कि इस लक्ष्य को वे पूरा करने में असफल रहे, परन्तु इससे संसार को यह तो ज्ञात हो ही गया कि महात्मा कृष्ण शान्ति-स्थापना के लिए कितने उत्सुक थे तथा युद्ध के कितने विरोधी थे। उन्होंने स्वयं कहा था कि वे पृथिवी को युद्ध की महाविभीषिका से बचा देखना चाहते हैं।

यह ठीक है कि दुर्योधन ने अपने दुष्ट स्वभाव तथा कुटिल प्रकृति के कारण उनकी बात नहीं मानी, फलतः युद्ध भी अपरिहार्य हो गया; परन्तु लोगों पर यह भी अप्रकट नहीं रहा कि पाण्डवों का पक्ष सत्य, न्याय और धर्म का पक्ष था तथा कौरव असत्य, अन्याय और अधर्म का आचरण कर रहे थे। संसार के लोगों को सत्य और न्याय का वास्तविक ज्ञान कराने में ही कृष्ण की अपूर्व दूरदर्शिता तथा मेधा का परिचय मिलता है। युद्ध होना ही है, जब यह निश्चित हो गया तो कृष्ण की विचारधारा भी इसी के अनुसार बन गई। उन्होंने अत्याचार के शमन और दुष्टों को दण्ड देने के लिए किये जानेवाले युद्ध को क्षत्रिय-वर्ण के लिए स्वर्ग का खुला हुआ द्वार बताया तथा अर्जुन को यह निश्चय करा दिया कि आततायियों को मार डालना ही धर्म है। रणक्षेत्र में उपस्थित होते ही अर्जुन में जिन क्लीव-भावों का संचार हुआ उन्हें अनार्यजुष्ट, अस्वर्ग्य और अकीर्तिकर बताते हुए कृष्ण ने अर्जुन को विगत-ज्वर होकर युद्ध करने की प्रेरणा दी। वास्तव में क्षात्र-धर्म का यही प्रकृत रूप था जिसे कृष्ण ने अपनी ओजस्वी वाणी तथा प्रभविष्णु-शैली में उपस्थित किया। आज हज़ारों वर्ष व्यतीत हो जाने पर भी कृष्ण की वह ओजस्विनी शिक्षा जन-मन की निराशा, ग्लानि तथा दौर्बल्य को दूर करती है एवं कर्त्तव्य-पालन के लिए उठने की प्रेरणा देती है।

यह है कृष्ण की राजनीतिज्ञता का किञ्चित् दिग्दर्शन। उन्होंने अपने जीवन में जहाँ अनेक राष्ट्रीय एवं अन्तर्राष्ट्रीय प्रश्नों को सुलझाने का प्रयास किया, वहाँ उन्होंने सामयिक सामाजिक समस्याओं की भी अवहेलना नहीं की। कृष्ण वर्णाश्रम-धर्म के प्रबल पोषक और शास्त्रीय मर्यादाओं के कट्टर समर्थक थे। उन्होंने स्वयं 'गीता' में वर्णाश्रम-धर्म का विधान करते हुए वर्णों को गुण एवं कर्मों पर आधारित

बताया है। उनके अनुसार जो व्यक्ति शास्त्र-विधि को छोड़कर मनमाना स्वेच्छाचार करता है, उसे न तो सिद्धि ही प्राप्त होती है और न परलोक में उत्तम गति। परन्तु इससे यह सिद्ध नहीं होता कि वे किसी प्रकार की सामाजिक संकीर्णता अथवा कट्टरता के पोषक थे। अनुदारता, गतानुगतिकता तथा रूढ़िवादिता के वे प्रबल विरोधी थे। उनकी सामाजिक धारणायें उदारतापूर्ण तथा नीतियुक्त थीं। उन्होंने सदा दलित, पीड़ित एवं शोषित वर्ग का ही साथ दिया। विदुर-जैसे धर्मात्मा उनके सम्मान के पात्र रहे। नारी-वर्ग के प्रति उनकी महती श्रद्धा थी। कुन्ती, गांधारी, देवकी आदि पूजनीय गरीयसी महिलाओं के प्रति उनके मन में सदा आदर, सम्मान तथा श्रद्धा का भाव रहा। सुभद्रा तथा द्रौपदी आदि कनिष्ठा देवियों के प्रति उनका स्नेह सदा बना रहा। वे जानते थे कि मातृ-शक्ति का यथोचित सम्मान होने से ही देश की भावी सन्तान में श्रेष्ठ गुणों का संचार होगा।

कृष्ण के व्यक्तित्व के इन बहुरंगी पहलुओं की समीक्षा कर लेने के पश्चात् भी उनके चरित्र के उस महान् एवं उदात्त पक्ष की ओर ध्यान देना आवश्यक है जिसके कारण वे आध्यात्मिक जगत् के सर्वोत्कृष्ट उपदेष्टा समझे गये और योगेश्वरों में उनकी परिगणना हुई। वे आज भी कोटि-कोटि जनों की प्रेरणा, श्रद्धा, तथा निष्ठा के पात्र बने हुए हैं। कृष्ण राजनीतिज्ञ थे, धर्मोपदेशक तथा धर्म-संस्थापक भी थे। वे समाज-संशोधक तथा नूतन क्रान्ति-विधायक भी थे, किन्तु मूलतः वे योगी तथा अध्यात्म-साधना के पथिक थे। उन्होंने जल में रहनेवाले कमल की भाँति संसार में रहते हुए, सांसारिक वासनाओं से निर्लिप्त रहकर कर्त्तव्य की भावना से आचरण करने के योग की शिक्षा दी।

वे ज्ञान और कर्म के समन्वय के पक्षपाती थे। साथ ही, उपासना-योग का भी समर्थन करते थे। ज्ञान, कर्म और उपासना का सामञ्जस्य ही आर्यचिंतन की विशेषता है और यह समन्वय-भावना ही कृष्ण के व्यक्तित्व में साकार हो उठी थी। कृष्ण स्वयं सच्चिदानन्द ब्रह्म के परम-उपासक थे और इस सर्वोच्च तत्त्व का साक्षात्कार कर लेने के पश्चात् भी वे लोक-मार्ग से च्युत होना अनुचित मानते थे। 'गीता' में उन्होंने यह स्पष्ट कहा कि पूर्णकाम व्यक्ति के लिए यों तो कुछ भी करना शेष नहीं रहता, किन्तु लोक-यात्रा-निर्वाह की दृष्टि से उन्हें

भी आर्योचित मर्यादाओं का पालन करना ही पड़ता है। इस प्रकार उन्होंने कालान्तर में प्रवर्तित श्रमणवाद-प्रतिपादित निवृत्ति-मार्ग का एकान्ततः अनुसरण करने को अनुचित बताया। कृष्ण के दर्शन का यही चरम तत्त्व है और उनकी लौकिक सफलता का भी यही रहस्य है।

जीवन की इन विविधतापूर्ण एवं सर्वांगीण प्रवृत्तियों का समन्वित अनुशीलन एवं परिष्कार ही कृष्ण-चरित्र की विशिष्टता है। यही कारण है कि कृष्ण-जैसा व्यक्ति इस देश में ही नहीं वल्कि संसार में भी कदाचित् ही जन्मा हो। आर्य-मर्यादाओं के अप्रतिम रक्षक राम से उनके विविध रंगोंवाले व्यक्तित्व की तुलना अवश्य की जा सकती है, परन्तु दोनों के युग तथा जीवन की अन्य परिस्थितियों में मौलिक अन्तर था। राम स्वयं आदर्श राजा थे, किन्तु कृष्ण को आदर्श राज्य-संस्थापन का कार्य स्वयं करना पड़ा। कृष्ण तो राजाओं के निर्माता, परन्तु स्वयं राजसत्ता से दूर रहनेवाले साम्राज्य-संस्थापक थे। राम के समक्ष वैसी कठिनाइयाँ नहीं आईं जिनसे कृष्ण को जूझना पड़ा। अतः किसी भी दृष्टि से क्यों न देखा जाय, कृष्ण का चरित्र एवं व्यक्तित्व भूमण्डल में अद्वितीय ही माना जायगा।

सहायक ग्रन्थ-सूची

१. महाभारत (गीता प्रेस, गोरखपुर)
२. महाभारत (हिन्दी) शरत् चन्द्र सोम द्वारा कलकत्ता से प्रकाशित
३. श्रीमद्भागवत (गीता प्रेस, गोरखपुर)
४. श्री विष्णुपुराण (गीता प्रेस, गोरखपुर)
५. ब्रह्मपुराण (गीता प्रेस, गोरखपुर)
६. ब्रह्मवैवर्तपुराण (आनन्दाश्रम, ग्रन्थमाला)
७. श्रीमद्भगवद्गीता (गीता प्रेस, गोरखपुर)
८. अनासक्ति योग, महात्मा गांधी
९. सत्यार्थप्रकाश, दयानन्द सरस्वती
१०. महाभारत-मीमांसा, चिन्तामणि विनायक वैद्य
११. Vaishnavism, Shaivism and Minor Religious Systems by Dr. R. G. Bhandarkar.
१२. कृष्ण-चरित्र, मूल लेखक बंकिमचन्द्र चट्टोपाध्याय
१३. महाभारत के कृष्ण, देवदत्त शास्त्री

कृष्ण-विषयक आर्य-सामाजिक साहित्य

१. श्रीकृष्ण चरित, लाला लाजपत राय
२. श्रीकृष्णजी का जीवन-चरित, आर्यपथिक लेखराम
३. श्रीकृष्ण मीमांसा, पं० शिवशंकर काव्यतीर्थ
४. योगेश्वर कृष्ण, पं० चमूपति
५. श्रीकृष्ण-चरित, पं० भवानीलाल भारतीय
६. भगवान् कृष्ण, जगदीशचन्द्र विद्यार्थी
७. भगवान् श्रीकृष्ण पर वैदिक विचार, छगनलाल शर्मा
८. योगीराज श्रीकृष्ण, सुशीला आर्या
९. भगवान् श्रीकृष्ण, प्रो० उमाकान्त उपाध्याय
१०. आर्य समाज की दृष्टि में योगीराज श्रीकृष्ण
११. कर्मयोगी कृष्ण, प्रेमचन्द विद्याभास्कर
१२. भगवान् कृष्ण, किशनलाल शरसोदे
१३. Lord Krishna : As the Arya Samajists see him. Compiled by Prof. Tara Chand D. Gajra, M. A.

कृष्ण-विषयक समालोचनात्मक साहित्य

१. राधा और कृष्ण का नाता, नारायणप्रसाद बेताब
२. राधा का रहस्य, पं० रामसहाय शर्मा
३. निष्कलंक कृष्ण, ओम् भक्त वानप्रस्थ
४. राधा कृष्ण, पं० राजेन्द्र
५. पुराणों के कृष्ण, डॉ० श्रीराम आर्य
६. भगवान् श्रीकृष्ण और भागवत, राजबहादुर श्रीवास्तव
७. शुद्ध कृष्णायन, ईश्वरीप्रसाद 'प्रेम'
८. पुराणों के कृष्ण, ईश्वरीप्रसाद 'प्रेम'

लेखक-परिचय

भारतीय नवजागरण में स्वामी दयानन्द तथा आर्य समाज की भूमिका के अधिकृत व्याख्याता डॉ॰ (प्रो॰) भवानीलाल भारतीय को लेखन के क्षेत्र में अवतीर्ण हुए आधी शती व्यतीत हो चुकी है। १९२८ में राजस्थान के नागौर जिले के एक साधारण ग्राम परबतसर में उनका जन्म हुआ। उच्च शिक्षा जोधपुर में हुई। राजस्थान की कॉलेज शिक्षा-सेवा में लगभग २० वर्ष तक अध्यापन करने के पश्चात्, वे पंजाब विश्वविद्यालय की दयानन्द शोधपीठ के प्रोफेसर तथा अध्यक्ष पद पर एक दशक पर्यन्त कार्य करते रहे।

अध्ययन, लेखन और शोध के इस सुदीर्घ काल में उनके लगभग ८० ग्रन्थ प्रकाशित हुए हैं जो वैदिक साहित्य एवं संस्कृति, भारतीय नवजागरण में आर्य समाज का योगदान तथा तत् सदृश विषयों से सम्बन्धित हैं। उनके विभिन्न ग्रन्थों पर अनेक सभा-संस्थाओं ने उन्हें पुरस्कारादि से सम्मानित किया है, जिनमें आर्य समाज का सर्वोच्च 'मेघजी भाई आर्य साहित्य पुरस्कार' भी है, जो आर्य समाज शान्ताक्रुज मुम्बई द्वारा उन्हें १९९२ में प्रदान किया गया। वे आर्य समाज की संगठनात्मक प्रवृत्तियों से भी जुड़े रहे, किन्तु विगत अनेक वर्षों से वे उच्चतर वैदिक शोध, अनुसंधान तथा लेखन के लिए ही समर्पित हैं। उनका व्यक्तिगत पुस्तकालय आर्यसमाज विषयक ग्रन्थों की दृष्टि से अद्वितीय है तथा अनेक स्वदेशी एवं विदेशी विद्वान् उनसे अपने शोध-कार्यों के लिए परामर्श लेते हैं।

श्रीकृष्ण चरित

संसार के महापुरुषों पर दृष्टिपात करने से विदित होता है कि प्रत्येक में कोई-न-कोई वैशिष्ट्य होता है। उनमें कोई धर्म-संस्कारक है तो कोई स्वराज्य-स्रष्टा, कोई परम निःस्पृह परिव्राट् है तो कोई विचक्षण राजनीतिज्ञ, परन्तु कोई ऐसा महामानव दृष्टिगोचर नहीं होता जिसमें इन विभिन्न आदर्शों की एक-साथ परिणति हुई हो। भारत की पुण्यभूमि में द्वापर और कलि की संधि-बेला में जन्म लेनेवाले अकेले कृष्ण वासुदेव ही ऐसे पुरुष हैं जिनमें लोकादर्श की पूर्ण प्रतिष्ठा तथा आर्य-चरित्र की चरम-उत्कर्षता दिखाई पड़ती है।

इस ग्रन्थ में विद्वान् लेखक ने परिश्रमपूर्वक खोज करके सभी प्रकार की विकृतियों की कुज्झटिकाओं से निकालकर महाभारत के आधार पर, श्रीकृष्ण का लोक कल्याणकारी रूप उपस्थित किया है।